व्याकरणचन्द्रोदय

प्रथम खण्ड

(कारक व समास)

चारुदेव शास्त्री

व्याकरणचन्द्रोदय

प्रथमखण्ड

(कारक व समास)

चारुदेव शास्त्री
श्रीगान्धिचरित, अनुवादकला, प्रस्तावतरङ्गिणी, उपसर्गार्थचन्द्रिका,
वाक्यमुक्तावली, शब्दापशब्दविवेक आदि ग्रन्थों के निर्माता,
वाक्यपदीय (प्र० का०) के परिष्कर्ता तथा व्याकरण-
महाभाष्य (नवाह्निक) के अनुवादक व विवरणकार

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली वाराणसी पटना मद्रास

संकेतिका

उद्धृतग्रन्थ संक्षिप्त नाम	उद्धृतग्रन्थ सम्पूर्ण नाम
अ० सं०	अग्निसंहिता
अथर्व०	अथर्ववेद (शौनक शाखा)
अध्या० रा०	अध्यात्मरामायण
अमर	अमरकोष
अमरोद्घाटन	अमरोद्घाटन (क्षीर-कृत अमर-टीका)
अष्टा० हृ०	अष्टाङ्गहृदय
आप० गृ०	आपस्तम्बगृह्यसूत्र
आप० ध०	आपस्तम्बधर्मसूत्र
आश्चर्य चू०	आश्चर्यचूडामणि
आश्व० गृ०	आश्वलायनगृह्यसूत्र
आश्व० श्रौ०	आश्वलायनश्रौतसूत्र
उ० मेघ	उत्तरमेघ
उ० रा० च०	उत्तररामचरित
ऋ०	ऋग्वेद
ऐ० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
क० उ०	कठ उपनिषद्
क० स० सा०	कथासरित्सागर
का० नी० सा०	कामन्दकनीतिसार
का० मी०	काव्यमीमांसा
काशिका	काशिकावृत्ति
काश्यप सं०	काश्यपसंहिता
किरात०	किरातार्जुनीय
कुमार०	कुमारसम्भव
कु० मा०	कुन्दमाला
कुल्लूक	कुल्लूककृत मनुटीका

कृ० क० त०	कृत्यकल्पतरु
कौ० ब्रा०	कौषीतकिब्राह्मण
कौ० अर्थ०	कौटिल्यार्थशास्त्र
गीता	श्रीमद्भगवद्गीता
गो० गृ०	गोभिलगृह्यसूत्र
गौ० ध०	गौतमधर्मसूत्र
चरक०	चरकसंहिता
चा० द०	चारुदत्त
छां० उ०	छान्दोग्य उपनिषद्
ता० ब्रा०	ताण्ड्यब्राह्मण
तै० आ०	तैत्तिरीय आरण्यक
तै० उ०	तैत्तिरीय उपनिषद्
तै० ब्रा०	तैत्तिरीयब्राह्मण
तै० सं०	तैत्तिरीयसंहिता
द० कु० च०	दशकुमारचरित
दुर्ग० नि० भा०	दुर्गाचार्यकृत निरुक्तभाष्य
दुर्गा स० श०	दुर्गासप्तशती
द्वा० मु०	द्वादशमुख (नागार्जुनकृत)
ना० स्मृ०	नारदस्मृति
निरुक्त	यास्कीय निरुक्त
नैषध	नैषधीयचरित
न्या० भा०	न्यायभाष्य
पं० त०	पञ्चतन्त्र
पं० ब्रा०	पञ्चविंशब्राह्मण
पुरुषोत्तम०	पुरुषोत्तमदेवकृत भाषावृत्ति
प्र० चन्द्र०	प्रबोधचन्द्रोदय
बा० म०	बालमनोरमा
बा० रा०	बालरामायण
बु० च०	बुद्धचरित
बृ० उ०	बृहदारण्यक उपनिषद्
बृ० श्लो० सं०	बृहच्छ्लोक संग्रह बुद्धस्वामिकृत

बौ० ध०	बौधायनधर्मसूत्र
भट्टि०	भट्टिकाव्य
भर्तृ०	भर्तृहरिशतक
भा०	महाभारत (पूना)
भा० वि०	भामिनीविलास
मनु०	मनुस्मृति
मम्मट	मम्मटकृत काव्यप्रकाश
मल्लिनाथ	मल्लिनाथकृत माघ-टीका
म० वी० च०	महावीरचरित
माघ	माघकृत शिशुपालवध
मा० धा० वृ०	माधवीयधातुवृत्ति
मालती	मालतीमाधव
मालविका	मालविकाग्निमित्र
मिताक्षरा	याज्ञवल्क्यस्मृति टीका मिताक्षरा
मीमांसा०	मीमांसादर्शन
मुद्रा०	मुद्राराक्षस
मृच्छक०	मृच्छकटिक
मेघ०	मेघदूत
मो० मु०	मोहमुद्गर
यजुः	शुक्लयजुर्वेद माध्यन्दिनशाखा
याज्ञ०	याज्ञवल्क्यस्मृति
यो० भा०	पातञ्जल योगभाष्य
यो० वा०	योगवासिष्ठ
रघु०	रघुवंश
रा०	वाल्मीकीय रामायण
राज०	राजतरङ्गिणी
व० ध०	वसिष्ठधर्मसूत्र
वा० प०	वाक्यपदीय
वा० पु०	वामनपुराण
वा० वि०	वासुदेवविजय
वि० पु०	विष्णुपुराण

विक्रमोर्वशी	विक्रमोर्वशीय
वृ० शा० स्मृ०	वृद्धशातातपस्मृति
वे० व्या० स्मृ०	वेदव्यासस्मृति
श० ब्रा०	शतपथब्राह्मण
शकुन्तला	अभिज्ञानशाकुन्तल
शं० स्मृ०	शङ्खस्मृति
शा० भा०	मीमांसाशाबरभाष्य
शि० भा०	शिवभारत
शिशु०	शिशुपालवध
शृ० श०	शृङ्गारशतक
श्री० भा० पु०	श्रीमद्भागवतपुराण
श्वे० उ०	श्वेताश्वतर उपनिषद्
सां० का०	साङ्ख्यकारिका
सि० कौ०	सिद्धान्तकौमुदी
सुश्रुत०	सुश्रुतसंहिता
स्वप्न०	स्वप्नवासवदत्ता
हरि० वं०	हरिवंश
हर्ष०	हर्षचरित
हित० उ०	हितोपदेश
हेतु० उ०	हेतुतत्त्वोपदेश
हेलाराजीय	हेलाराजकृत वाक्यपदीय टीका

किञ्चिद् वक्तव्य

अपनी कृति शब्दापशब्दविवेक की निवेदना में ग्रन्थरचना का प्रयोजन बताते हुए हम ने लिखा था—य इच्छेत्प्रियोऽहं लोकस्य स्यामिति स शब्दाभ्यशीलयेत् साधीयश्च तान् व्यवहरेत्, प्रियङ्करणो हि शब्दप्रयोगः अर्थात् जो चाहता है कि मैं लोक का प्यारा बन जाऊँ, उसे चाहिये कि वह शब्दों का अभ्यास करे और उन्हें स्थान पर प्रयुक्त करे, कारण कि शब्द-प्रयोग (प्रयोक्ता को) प्यारा बनाता है। शब्द के ज्ञान तथा अपशब्द के परिहार का सर्वोत्कृष्ट उपाय व्याकरण है, विशेषकर जब कि जिज्ञासु ऐसी भाषा को ग्रहण करना चाहता है जो प्रतिदिन के व्यवहार की भाषा न रही हो, किन्तु ग्रन्थ-मात्र में व्यवस्थित हो, जैसे संस्कृत। व्याकरण का नामान्तर शब्दानुशासन है। यहाँ शब्द शब्द से अर्थवान् व्यक्त ध्वनि का ग्रहण इष्ट है, तिस पर भी व्याकरण साधु शब्दों का अनुशासन है। साधुत्व क्या है ? शिष्ट-प्रयुक्तत्व ही साधुत्व है। व्याकरण का व्युत्पत्त्यर्थ—प्रकृति-प्रत्ययादि-विभाग-कल्पना द्वारा व्यवहार्य (व्यवहार में आने योग्य) शब्दों का विश्लेषण है। एतदर्थ भगवान् पाणिनि की अष्टाध्यायी का निर्माण हुआ। इसका साधु शब्द-ज्ञान-पुरःसर अभीष्ट लक्षण-ज्ञान द्वारा अवयवी शब्द के अवयवों का प्रदर्शन प्रधान उद्देश्य था। यहाँ लक्ष्य में समुत्प्रेक्षित तत्तत्कार्य को उन-उन लक्षणों द्वारा दिखाना अभिप्रेत था। लक्षणों (सूत्रों) का निबन्धन प्रकरणशः हुआ था। कालान्तर में जब रामचन्द्राचार्य की प्रक्रिया-कौमुदी का प्रणयन हुआ और पीछे भट्टोजिदीक्षित की वैयाकरण-सिद्धान्त कौमुदी का संकलन हुआ, तब लक्ष्य की सिद्धि में उपयोगी लक्षणों (सूत्रों) को अष्टाध्यायीगत क्रम को बदल कर पढ़ा गया और व्याकरण-शास्त्र प्रक्रिया-प्रधान शास्त्र का रूप धारण कर गया, जिसमें कल्पित प्रकृत्यादि अवयवों को लेकर प्रयोगार्ह, परिनिष्ठित अवयवी लक्ष्य की प्रक्रिया=सिद्धि=निष्पत्ति प्रधान हो गई।

उभयथा संस्कृत व्याकरण मुख्य रूप से पदों का अन्वाख्यान है। वाक्य इसका विषय नहीं। वाक्य यहाँ अनुषङ्ग से हैं। अतः व्याकरण के लिए 'पद' शब्द का प्रयोग संगत होता है। पद-वाक्य-प्रमाणज्ञः, योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन इत्यादि स्थलों में 'पद' व्याकरण का वाचक

है। व्याकृत अथवा प्रकृत (=निष्पन्न) पदों को वाक्यस्थ-प्रयोग रूप से दिखाने की प्रवृत्ति यहाँ नहीं है। अतः पदार्थ का भी यथेष्ट ज्ञान नहीं हो पाता। पढ़ते-पढ़ाते समय अन्वाख्येय पदों का अर्थ न पूछा जाता है और न बताया जाता है। ऐसा आज ही नहीं, सैंकड़ों वर्षों से यही पद्धति चली आ रही है। यही कारण है कि कई पदों के अर्थ **न्यासकार व पदमञ्जरीकार** को भी स्पष्ट नहीं हैं। 'इति-पाणिनि' शब्दप्रादुर्भाव में अव्ययीभाव समास है। इसका क्या अर्थ है और वाक्य में इसका कैसे प्रयोग होता है इसे कोई विरला ही जानता होगा।

जब शब्दों (साधुशब्दों) का वाक्य में प्रयोग ही सुविदित नहीं तब उनके साधुत्व-ज्ञान अथवा व्याक्रिया-ज्ञान से क्या लाभ? दूसरी अंग्रेज़ी आदि भाषाओं के व्याकरण-ग्रन्थों में वाक्य में निबन्धन करके पदों का प्रयोग दिखाया जाता है। हमारे हाँ कारक-प्रकरण अथवा परस्मैपद आत्मनेपद प्रक्रियाओं को छोड़कर अन्यत्र प्रायः वाक्य-सन्दर्भ का अभाव है। कहीं ही काव्यों से उद्धृत कोई एक श्लोक, श्लोकार्ध, श्लोकचरण मिलता है। वाक्याभाव के कारण व्याकरण के अध्येता को (और ज्ञाता को भी) पदों का ठीक-ठीक प्रयोग नहीं आता, वाक्य-विन्यास में सौष्ठव व लालित्य तो दूर रहा। यही कारण है कि वैयाकरणों की भाषा प्रायः परिष्कार-हीन तथा नीरस होती है जिस पर साहित्य-शास्त्री रसिक-जन नाक-भौं चढ़ाते हैं। चाहिए तो यह था कि वाग्योगविद् व्याकृतिविद्या-विशारद ऐसी परिष्कृत तथा ललित संस्कृत लिखते और बोलते कि वाङ्माधुरी के अभिमानी साहित्य-सेवियों के सिर झूम जाते। पर व्याकरण-ग्रन्थों में विविध-साहित्य से उद्धृत निदर्शन-भूत वाक्य अतिविरल हैं। सुन्दर, परिवृत्त्यसह शिष्टजनग्रथित वाक्यावलि के अभाव में भाषा कैसे बने, उसमें माधुर्य व सौन्दर्य कैसे आये, शिष्ट-सम्मत शैली का बोध कैसे हो?

इस कृति में शिष्टजुष्ट इष्ट वाक्यावलि के अभाव का प्रतिविधान कर दिया गया है। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, कल्पसूत्र, स्मृति, इतिहास (रामायण महाभारत), पुराण, आयुर्वेद, कथा, आख्यायिका, काव्य-नाटकादि से उस-उस व्याकरण-प्रतिपादित प्रयोग को उपस्थित करने वाले उद्धरणों की यहाँ भरमार है जिससे वाग्व्यवहार का विशाल, विशद स्वरूप उपस्थित हो जाता है। व्याकरण पढ़ते हुए भी ऐसी प्रतीति होती है कि हम काव्य-रसास्वादन कर रहे हैं। नीरसता अथवा शुष्कता का नाम नहीं। पदे-पदे रोचकता नव

उत्साह और उत्सुकता भर रही है। अब यहाँ यदि साधुत्वज्ञान के साथ प्रयोग-नैपुणी प्राप्त न होगी तो कहाँ होगी ? आज कल नूतन निर्मित व्याकरण-ग्रन्थों में जो उद्धरण दिये जाते हैं वे प्राय: काव्य-नाटकों से लिये होते हैं। विशेषत: भट्टिकाव्य से अधिक से अधिक उदाहरण दिये जाते हैं। हमने इसके विपरीत प्रायः प्राचीन साहित्य से उद्धरण दिये हैं जहाँ भाषा जीती जागती अपने अविकृत परिशुद्ध रूप में निजी स्वाभाविकता को लिये हुए विराजमान थी। यहाँ काव्यों से बहुत कम उदाहरण दिये हैं और भट्टिकाव्य का तो संस्पर्शमात्र हुआ है। सूत्रों के उदाहरण देने के लिये घड़े हुए प्रयोगों को उद्धृत करने से क्या लाभ ? वैसे हम स्वयम् दे सकते हैं।

उपनिषदों, सूत्रग्रन्थों, रामायण-महाभारत आदि में आये हुए जिन प्रयोगों को 'आर्ष' कह दिया जाता है उनकी पाणिनीयता सिद्ध करने का यहाँ इदम्प्रथम प्रयास किया है। यह प्रयास हठमात्र नहीं है। मुझे विश्वास है व्याकरण-मर्मज्ञ विद्वान् मेरी उपपादना का अभिनन्दन करेंगे। साथ ही अष्टाध्यायी द्वारा अननुशिष्ट प्रयोगों को शिष्ट व्यवहारानुमोदित होने से प्रमाणित किया है।

सूत्रार्थ करते समय हम ने सम्प्रदाय की रक्षा का ध्यान रखा है। पाणिनीय व्याकरण के व्याख्याता अनेक स्थलों में साम्प्रदायिक अर्थ से परे चले गये हैं विशेष कर भट्टिकाव्य का कर्त्ता इस अंश में दोषी है।

व्याकरण-चन्द्रोदय का यह कारक-समास-परक प्रथम खण्ड प्रकाशित किया जा रहा है। द्वितीय खण्ड कृत्तद्धित प्रकरणात्मक होगा और वह लगभग ३५० पृष्ठों में समाप्त होगा। तृतीय खण्ड तिङन्तप्रकरणात्मक होगा और चतुर्थ व पञ्चम खण्ड क्रमश: सुबन्त तथा सन्ध्यादि-स्त्रीप्रत्ययान्त प्रकरणों के निरूपक होंगे। सम्पूर्ण ग्रन्थ १००० पृष्ठों में परिसमाप्त होगा।

इस कृति के प्रणयन में मैंने जो परिश्रम किया है उसे विद्वान् अध्यापक ग्रन्थावलोकन से स्वयं समझ जाएँगे, मुझे इस विषय में कुछ नहीं कहना। केवल इतनी इच्छा अवश्य है कि मुझ पर अनुग्रह-बुद्धि रखते हुए वे इस कृति को आमूल-चूल देख जाएँ। इसी से मैं अपने को कृतार्थ समझूंगा।

दिल्ली — निवेदक

१ सितम्बर, १९६९. — विद्वद्विधेय चारुदेव शास्त्री।

ओं नमः परमात्मने ।

नमो भगवते पाणिनये । नमः शिष्टेभ्यः ।

प्रकृत्यादिविभागेन शब्दानामनुशिष्यते ।
साधुत्वं येन तच्छास्त्रं वेद्यं व्याकरणाभिधम् ॥१॥

व्याक्रियन्ते पदानीह क्रियन्ते नूतनानि न ।
अन्वाख्यानस्मृतिस्तस्मादुक्ता व्याकरणं बुधैः ॥२॥

ऐतदात्म्यमिदं शास्त्रं प्रस्मृत्येदं निरर्गलाः ।
तं तमर्थं विवक्षन्तः शब्दान्नूत्नान्प्रकुर्वते ॥३॥

अर्थेऽर्थे प्रत्ययं शिष्ट्वा शिष्टैर्व्युत्पादितानुत ।
अर्थान्तरेऽननुज्ञाते शब्दान्वाऽमी प्रयुञ्जते ॥४॥

आसतां तावदन्ये येऽर्वाचीनाः साहसप्रियाः ।
भट्ट्याद्यैः सूरिभिश्चापि सम्प्रदायो न रक्षितः ॥५॥

तद्रक्षया प्रणुन्नोऽहं विनेयप्रणयेन च ।
व्याक्रियां लौकिकानां हि शब्दानां वक्तुमुद्यतः ॥६॥

सूत्राणां वार्तिकानां च सम्प्रदायानुरोधिनी ।
सोपपत्तिरसन्देहा व्याक्रिया प्रकृते स्थिता ॥७॥

पदानां प्रक्रिया लघ्वी बुद्धिवैशद्यकारिणी ।
शैक्षाणामुपकाराय प्रभूताय भविष्यति ॥८॥

इहस्थं वाक्यसन्दोहं दर्शं दर्शं बुभुत्सवः ।
प्रयोगनैपुणीं काञ्चिल्लप्स्यन्तेऽन्यत्र दुर्लभाम् ॥९॥

अज्ञानमन्यथाज्ञानं ज्ञानं सांशयिकं तथा ।
भेत्स्यतीयं कृतिः कृत्स्नं तमश्चन्द्रोदयो यथा ॥१०॥

विषयानुक्रमणी

अथ व्याकरणचन्द्रोदये कारकप्रकरणम्

प्रथमो वर्गः—कारक विभक्तयः ।

सुप्-विभक्तियाँ प्रायः दो प्रकार की होती हैं—एक कारक-विभक्ति और दूसरी उपपद-विभक्ति । दोनों में से पहले हम कारक-विभक्तियों का निरूपण करते हैं । परंतु कारक विभक्तियों के निरूपण से पहले यह जानना भी आवश्यक है कि कारक किसे कहते हैं । इसलिए कारक का लक्षण कहते हैं—

कारक

कारक का मोटा अर्थ है करने वाला । करोतीति कारकम् । क्रिया के जनक को कारक कहते हैं अर्थात् क्रिया की निष्पत्ति (सिद्धि) में जो जो निमित्त होता है, सो सो कारक कहलाता है । **क्रियानिमित्तत्वं कारकत्वम्** । दूसरे निमित्तों के होते हुए भी जब तक क्रिया करने वाला कर्त्ता ही न होगा, तब तक क्रिया की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती । दूसरे निमित्तों का व्यापार भी कर्त्ता के अधीन है जब चाहे उस व्यापार को हटा सकता है अतः मुख्य कारक कर्त्ता ही है ।[1] अतः भगवान् सूत्रकार इसका लक्षण करते हैं—**स्वतन्त्रः कर्ता** (१।४।५४) । कर्ता की यह स्वतन्त्रता क्या है, यही कि कर्ता दूसरे करणादि कारकों से प्रेरित होकर प्रवृत्त नहीं होता, बल्कि स्वयम् उनका प्रवर्तक होता है, यह नहीं कि करणादि की उसे अपेक्षा नहीं ।[2] क्रिया के दूसरे निमित्त तो उसके सहायक होने से ही कारक कहलाते हैं । वस्तुतः वे उपकारक हैं । वे अपनी-अपनी अवान्तर क्रिया के द्वारा प्रधान क्रिया को ही निष्पन्न करते हैं ।

एक प्रातिपदिक (नाम) के अर्थ का जो दूसरे प्रातिपदिक (नाम) के अर्थ के साथ संबन्ध होता है, वह कारक नहीं । कारक का क्रिया में अन्वय होता

---

१. प्रागन्यतः शक्तिलाभान्न्यग्भावापादनादपि ।
तदधीनप्रवृत्तित्वात्प्रवृत्तानां निवर्तनात् ।
अदृष्टत्वात्प्रतिनिधेः प्रविवेकेपि दर्शनात् ।
आरादप्युपकारित्वात्स्वातन्त्र्यं कर्त्तुरिष्यते ॥

२. स्वतन्त्रस्याप्रयोज्यत्वं करणादिप्रयोक्तृता ।
कर्तुः स्वातन्त्र्यमेतद्धि न कर्माद्यनपेक्षता ॥

है। अतः **'क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्'** ऐसा भी कारक का लक्षण किया जाता है। मैं धर्म का लक्षण सुनता हूँ। यहाँ 'धर्म' का 'सुनना क्रिया' में अन्वय नहीं है। सो वह कारक नहीं। और न ही यह 'सुनना क्रिया' में किसी प्रकार का भी निमित्त है।

कर्ता आदि अर्थों को कहने के लिए प्रातिपदिक से परे जो सुप्-प्रत्यय लगाये जाते हैं उन्हें कारक-विभक्तियाँ कहते हैं।

कारक छः हैं— कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, अधिकरण। इन कर्म आदि कारकों का अपना-अपना एक दूसरे से विलक्षण व्यापार है, इसीलिये मुख्य क्रिया की सिद्धि में सभी का कर्तृत्व होते हुए भी व्यापारभेद की दृष्टि से ये कर्म, करण आदि भिन्न-भिन्न नामों से कहे जाते हैं।[1]

प्रथमा

स्वतन्त्रः कर्ता (१।४।५४)। क्रिया के करने में जो पदार्थ स्वतन्त्र हो अथवा स्वतन्त्र माना गया हो उसे "कर्ता" कहते हैं। **तिङ्समानाधिकरणे प्रथमा।** जब तिङ् प्रत्यय कर्तृवाची हो तो कर्ता में (कर्तृ-वाचक प्रातिपदिक से) प्रथमा आती है—**गुरुः प्रसीदति। देवो वर्षति** (देव=पर्जन्य=मेघ)। **सिंहः क्रामति। आक्रमते सूर्यः** (सूर्य चढ़ता है)। **स्यन्दन्ते सरितः** (नदियां बहती हैं)। **प्रचरति रामायणकथा। वाति वातः। श्राति पयः** (दूध पक रहा है)। **जीर्यन्ति वासांसि। उन्मीलन्ति पङ्कजानि। निमीलन्ति कुमुदानि।**

जब तिङ् कर्मवाची हो तो कर्म में प्रथमा आती है—**शास्त्रं श्रूयते** (शास्त्र सुना जाता है)। **वेदोऽधीयते। धर्मश्चर्यते** (धर्म किया जाता है)।

जो लिंग, विभक्ति और वचन विशेष्य के हों वे ही विशेषण के होते हैं— **शुश्रूषिता गुरवः प्रसीदन्ति। समृध्यन्ति सुमेधसः सुवृत्ताश्च लोकाः। प्रसरति कश्मला किंवदन्ती** (कुत्सित अपवाद फैल रहा है)। **न चिराय तिष्ठन्ति सञ्चितानि धनानि।** इसी प्रकार उपमान और उपमेय के विषय में जानो।

प्रायः उद्देश्य के जो लिङ्ग विभक्ति और वचन होते हैं वे विधेय के भी होते हैं—**सर्वमुत्पादि भङ्गुरम्** (जो बना है वह बिगड़ने वाला है)। **आगमाः सापगमाः** (जो आया है, वह जाने वाला है)। **एकान्तविध्वंसिनो भौतिकाः पिण्डाः** (पञ्चभूतों से बने हुए शरीर नियम से नष्ट होने वाले हैं)। **कामं**

---

१. निष्पत्तिमात्रे कर्तृत्वं सर्वत्रैवास्ति कारके।
व्यापारभेदापेक्षायां करणादित्वसम्भवः॥

धीरस्वभावेयं स्त्रीस्वभावस्तु कातरः (स्वप्न०)। परन्तु **भरतः शिरसा कृत्वा संन्यासं पादुके ततः** (रा० २।११५।१४)*। **मालविकोपायनं प्रेषिता। वेदाः प्रमाणम्** (=प्रमातारः)। **अथान्धकारं गिरिगह्वराणां दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन्** (रघु०)। **अन्तपालांश्च कुर्वीत मित्राण्याटविकांस्तथा** (कामन्दकनी० १३।५)। **प्राणानस्मै तदहमुचितां दक्षिणां दातुमीहे। यागसम्प्रदानं देवता देयस्य पुरोडाशादेः स्वामिनी** (काशिका४।२।२४)। **उग्रायुधश्च विक्रान्तः प्रतिमानं धनुष्मताम्** (भारत, शल्यपर्व २।३७)। **सा हि तत्र कृता मित्रं सीतया रक्ष्यमाणया** (रा० ६।३३।३)। **सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनम्** (श० ब्रा० १४।५।४।११)। **प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान् यथोदितान्** (मनु० ७।२०३), उनके धर्मयुक्त कुलाचारों को प्रमाण करे। यहाँ विधेय के लिङ्ग और वचन उद्देश्य के अनुसार नहीं होते। विभक्ति साम्य तो बना रहता है।[1] निमित्त, कारण, पद, आस्पद, भाजन, प्रमाण आदि शब्द अजहल्लिग (अजहत्-लिङ्ग, लिंग को न छोड़ते हुए) कहलाते हैं। ये प्रायः एकवचन में प्रयुक्त होते हैं, कभी-कभी बहुवचन में भी देखे जाते हैं, जैसे—**भवादृशा एव भवन्ति भाजनान्युपदेशानाम्** (कादम्बरी)।

विधेय का उद्देश्य के साथ विभक्ति साम्य होने से किन्हीं और (पचादि-व्यतिरिक्त) धातुओं के प्रयोग में भी द्विकर्मकता बन जाती है—**अग्निं होतारं प्रवृणे** ऋ० (३।१९।१), मैं अग्नि का होतारूप से वरण करता हूँ। **काष्ठं भस्म करोति। मन्त्रवं पितरं मन्यते। देवदत्तं धनवन्तं शृणोमि। पिता स्वस्य कन्यकां वेदपारगाय भार्यां ददाति** (भार्यारूप से देता है)। इन उदाहरणों में कोई भी अकथित कर्म नहीं। दोनों कर्म एक समान प्रधान हैं।

ऊपर कह आए हैं कि जो पदार्थ क्रिया में स्वतन्त्र माना गया हो वह भी कर्ता होता है, न कि जो वस्तुतः स्वतंत्र हो वह ही। इससे करण आदि कारक भी कर्ता हो जाते हैं जब वक्ता को उन्हें क्रिया में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र दिखलाने की और कर्ता की अनपेक्षा बतलाने की इच्छा हो। यथा—**काष्ठानि पचन्ति** (ईंधन पका रहा है)। **असिश्छिनत्ति** (तलवार काटती है)। **स्थाली पचति**

---

* न्यास रूप अर्थ के एक होने से एकवचन का प्रयोग ही न्याय्य है। घञ् प्रत्ययान्त होने से पुंस्त्व युक्त है। यहाँ संन्यास शब्द के विशेषण होते हुए भी लिङ्ग-वचन-भेद होता है।

१. इसका सविस्तर वर्णन हमारी कृति अनुवादकला में तथा शब्दापशब्दविवेकः की भूमिका में देखो।

(**बटलोई स्वयं पकाती है**) । कर्तृत्व-विवक्षा होने से ही काष्ठ, असि और स्थाली से प्रथमा हुई है ।[१]

द्वितीया

कर्तुरीप्सिततमं कर्म (१।४।४९) । कर्ता अपनी क्रिया द्वारा जिस पदार्थ की प्राप्ति को अत्यन्त चाहता है वह कर्म कहलाता है। जब तिङ प्रत्यय कर्तृ-वाची हो अर्थात् कर्ता को कहे, और इसलिए कर्म को न कहे अर्थात् कर्म अन-भिहित—अनुक्त हो, तो कर्म में द्वितीया विभक्ति आती है—**देवदत्त ओदनं भुङ्क्ते** । परन्तु **पयसा ओदनं भुङ्क्ते** (दूध के साथ भात खाता है), यहाँ पयस् से द्वितीया नहीं हुई। यद्यपि कर्ता देवदत्त पय: (दूध) भी खाना चाहता है पर 'ओदन' के संस्कारक के रूप में। 'ओदन' उसे इष्टतम है। 'पय:' इष्ट है। जब तिङ प्रत्यय कर्मवाची हो तो कर्म उक्त होने से उसमें प्रथमा होती है (तिङसमानाधिकरणे प्रथमा)। यथा—**गीयते साम** । **श्रूयते धर्मः** । **वितायते यज्ञः** (यज्ञ विधि पूर्वक किया जा रहा है)। **तीर्यते प्रतिज्ञा** ।[२]

निपातेनाप्यभिहिते कर्मणि न कर्मविभक्तिः । जिस प्रकार तिङ से उक्त होने पर कर्म में द्वितीया न होकर प्रथमा होती है, इसी प्रकार निपात से उक्त होने पर भी कर्म में प्रथमा होती हैं—**विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुम-साम्प्रतम्** । यहाँ असाम्प्रतम् (निपात) =न युज्यते । **तैस्तैर्गुणैस्तमहं देव इति पश्यामि** । देवं पश्यामीत्यर्थः । **अवैमि चैनामनघेति किन्तु** (रघु० १४।४०) । मैं इसे यह निष्पाप है ऐसा जानता हूँ। पर **दयितं जनः खलु गुणीति मन्यते** (किरात०), लोग अपने प्यारे को गुणी समझते हैं।

तथायुक्तं चानीप्सितम् (१।४।५०) । जो पदार्थ कर्ता को क्रिया द्वारा ईप्सित न हो अर्थात् जो द्वेष्य हो अथवा उपेक्ष्य हो, पर जिसका क्रिया के साथ वैसा ही संबंध हो जैसा इष्टतम पदार्थ का, वह भी 'कर्म' होता है और उसमें भी अनुक्त होने पर द्वितीया होती है। जैसे **ग्रामं गच्छंस्तृणं स्पृशति** । यहाँ तृण न तो द्वेष का विषय है और न ईप्सा (=प्राप्ति की इच्छा) का । पर जैसे इष्टतम ग्राम के साथ क्रिया द्वारा संयोग होता है वैसे ही तृण के साथ भी। **ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते** (भात खाता हुआ विष खा बैठता है)। यहाँ विष द्वेष्य है।

---

१. इस विषय के अधिक ज्ञान के लिए हमारी कृति प्रस्ताव-तरङ्गिणी में "विवक्षातः कारकाणि भवन्ति" इस शीर्षक का प्रस्ताव पढ़ो।

२. इसी ग्रन्थ में भाव-कर्म प्रक्रिया देखो।

अकथितं च (१।४।५१)। जब वक्ता को अपादान आदि कारकों को अपादान आदि रूप से कहने की इच्छा न हो तो ये अपादान आदि कारक अपनी-अपनी संज्ञा को छोड़कर कर्म-संज्ञक बन जाते हैं और अनुक्त कर्मों में भी द्वितीया होती है। सब जगह ऐसी विवक्षा (कहने की इच्छा) नहीं होती। इसलिए परिगणन करते हैं--

दुह्याच्पच्दण्ड्रुधिप्रच्छिचिब्रूशासुजिमन्थ्मुषाम्।
कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृकृष्वहाम्॥ (दीक्षित)

भाष्य में यह परिगणन इस प्रकार दिया गया है--

दुहियाचिरुधिप्रछिभिक्षिचिञामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ।
ब्रुविशासिगुणेन च यत्सचते तदकीर्तितमाचरितं कविना॥

ऊपर दी हुई भट्टोजिदीक्षित की कारिका में 'कर्मयुक्' का अर्थ है 'क्रिया द्वारा मुख्य कर्म के साथ सम्बद्ध'। भाष्य की कारिका में उपयोगनिमित्त का अर्थ है उपयुज्यमान पयस् (दूध) आदि का निमित्त। गुण=साधन=प्रधान कर्म। दुह् आदि बारह धातुओं तथा नी आदि चार धातुओं के प्रयोग में मुख्य कर्म के साथ सम्बन्ध रखने वाले अपादान आदि कारक वक्ता की इच्छा के अनुसार अविवक्षित होकर 'कर्म' बन जाते हैं; अन्य धातुओं के नहीं। अर्थात् ये सोलह धातुएँ **द्विकर्मक** हैं। हाँ इन्हीं अर्थों वाली दूसरी धातुएँ भी द्विकर्मक होती हैं। दो कर्मों में से जो ईप्सिततम होने से पहले ही कर्म है वह **प्रधान** अथवा **मुख्य** कर्म कहलाता है। और जो अकथित होने से कर्म बना है वह **गौण** कर्म कहलाता। अब इनके क्रमशः उदाहरण दिए जाते हैं--

(१) दुह्--**गां** (गौणकर्म) **दोग्धि पयः** (मुख्यकर्म)--गौ से दूध दोहता है।

(२) याच्--**बलिं** (गौणकर्म) **याचते वसुधाम्** (मुख्यकर्म)--बलि से पृथिवी माँगता है।

अपो (गौणकर्म) **याचामि भेषजम्** (मुख्यकर्म) (अथर्व०) (ऋ०१०।९।५)

(३) पच्--**तण्डुलान्** (गौणकर्म) **ओदनं** (मुख्यकर्म) **पचति**--चावलों से भात पकाता है।

(४) दण्ड्--**गर्गान्** (गौणकर्म) **शतं** (मुख्य कर्म) **दण्डयति**--गर्गों से सौ रुपया जुर्माना लेता है।

(५) रुध्—**व्रजम्** (गौणकर्म) **अवरुणद्धि गाम्** (मुख्यकर्म)—गोशाला में गौ को रोकता है ।

चौरान्प्राणान् दण्डयति क्षितीशः—राजा चोरों को प्राण दण्ड देता है ।

जघन्यास्ते प्रत्येकं विनेयाः पूर्वसाहसम् (नारदस्मृति) । यहाँ विपूर्वक 'नी' का दण्ड लेना अर्थ है ।

(६) प्रच्छ्—**माणवकं** (गौण कर्म) **पन्थानं** (मुख्य कर्म) **पृच्छति**—लड़के से मार्ग पूछता है ।

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः (ऋ० १।१६४।३४) में तुझ से पृथिवी का परला अन्त पूछता हूँ । **याज्ञवल्क्यं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि** (शत० ब्रा०) । **पौरान्स्वजनवन्नित्यं कुशलं परिपृच्छति । पुत्रेष्वग्निषु दारेषु प्रेष्यशिष्यगणेषु च ॥** (रा० २।२।३८) । राम नगरवासियों से जैसे अपने बन्धुओं से पुत्र, अग्निहोत्रादि, धर्मदारा, नौकर तथा शिष्यों के विषय में नित्य ही कुशल पूछते हैं ।

(७) चि—**वृक्षम्** (गौण कर्म) **अवचिनोति फलानि** (मुख्य कर्म)—वृक्ष से फलों को चुनता है ।

(८) ब्रू—**माणवकं** (गौण कर्म) **धर्मं ब्रूते** (मुख्य कर्म)—लड़के से धर्म कहता है ।

(९) शास्—**शिष्यं** (गौण कर्म) **धर्मं** (मुख्य कर्म) **शास्ति गुरुः**—गुरु शिष्य को धर्म का उपदेश करता है ।

(१०) जि—**शतं** (मुख्य कर्म) **जयति देवदत्तम्** (गौण कर्म)—देवदत्त से सौ रुपया जीतता है ।

सुभर्वं शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः प्रधने जिगाय, मुद्गल ने सुभर्व से एक लाख गौएं युद्ध में जीतीं । (ऋ० १०।१०२।५) ।

(११) मन्थ्—**सुधां** (मुख्य कर्म) **क्षीरनिधिं** (गौण कर्म) **मथ्नाति**—क्षीर समुद्र से मथ कर अमृत निकालता है ।

(१२) मुष्—**देवदत्तं** (गौण कर्म) **शतं** (मुख्य कर्म) **मुष्णाति**—देवदत्त से सौ रुपया छीनता है ।

(१३-१६) **अजां** (मुख्य कर्म) **ग्रामं** (गौण कर्म) **नयति हरति कर्षति वहति वा** —बकरी को गाँव को ले जाता है। **उत्कर्षति जलात्तस्मात्स्थलं वः** (मीनान्)। तुम्हें जल से निकाल कर स्थल पर पहुंचाता है।

इन्हीं अर्थों वाली कुछ एक दूसरी धातुओं के उदाहरण—

बलिं भिक्षते वसुधां वामनः। सन्तुष्टमिष्टानि तमिष्टदेवं नाथन्ति के नाम न लोकनाथम् (नैषध० ३।२५)। **त्वां विहाय कं नु नाथेम मनीषितम्** (आपको छोड़कर हम किससे अपना मनोरथ मांगें)। **धनिनं धनं वनुते वनीयकः,** भिखारी धनी से धन मांगता है। **तोयदाद् इतरं नैव चातको वनुते जलम्** (मेघ को छोड़कर दूसरे से चातक जल नहीं माँगता)। **वरयामास तां राजा भीष्मकं भीमविक्रमम्** (हरि० २।५९।१९)। **तां त्वां संवरणस्यार्थे वरयामि विभावसो।** वरयामि==ईप्सामि=याचामि। (भा० आदि० १७३।२२)। **निर्गलिताम्बुगर्भं शरद् घनं नार्दति चातकोपि** (रघु० ५ १७)। यहाँ अर्दति= याचते, माँगता है। शरद् घन गौण कर्म है। प्रधान कर्म अम्बु=जल है जो निर्गलिताम्बुगर्भम् विशेषण द्वारा आक्षिप्त होने से अनिर्दिष्ट रहा है। **आचार्यः सूत्राणि भाषते शिष्यान्** (आचार्य शिष्यों के लिए सूत्रों का भाष्य करते हैं)।

अथाङ्गदाश्लिष्टभुजं भुजिष्या हेमाङ्गदं नाम कलिङ्गनाथम्।
आसेदुषीं सादितशत्रुपक्षं बालामबालेन्दुमुखीं बभाषे॥ रघु० ६।५३।

ममादेशादयं राजा त्वामिदं कार्यमादिशत् (शिवभारत १।३१)। **अहमपीदमचोद्यं चोद्ये** (भाष्य)। **मामपीदमचोद्यं चोदयसि** (मुझ से भी यह न पूछने योग्य बात पूछते हो)। **अथ जिज्ञाससे मां त्वं भरतस्य प्रियाप्रिये** (रा० २।१६), यदि तू मुझ से भरत को क्या प्रिय है, क्या अप्रिय है यह पूछना चाहते हो। **गुरुं जिज्ञासते धर्मम्** (गुरु जी से धर्म पूछता है।) **तत्र हि बहूनर्थानभियुक्तः पुत्रादिर्न जानामीति प्रतिवदन् निह्नववादी न भवति** (मिताक्षरा २।२०)। अभियुक्तः=पृष्टः।

इन द्विकर्मक धातुओं के अर्थ के विषय में यह विशेष अवधेय है कि दण्ड् का अर्थ जुर्माना लेना है, दण्ड देना नहीं (दण्डिरिह ग्रहणार्थो न निग्रहार्थः)। मन्थ् का अर्थ मथकर निकालना है, न कि मथना। यदि इन धातुओं का यह यह अर्थ न माना जाए तो इन के कर्मों में मुख्य-गौण-भाव का विपर्यास हो जाय। मुष् का छीनना अर्थ भी है इसमें वैदिक व लौकिक साहित्य साक्षी हैं— **मा न आयुः प्रमोषीः।** (ऋ०), हमारी आयु न छीनिए। **हा प्रमुषिताः स्मः** (हाय, हम लुट गए)।

पर जब अपादान आदि कारकों की विवक्षा (कहने की इच्छा) होगी तब गौण कर्म के न होने से द्वितीया न होकर अपादान आदि कारकों की अपनी-अपनी विभक्तियाँ होंगी—**गोर्दोग्धि पयः। बलेर्याचते वसुधाम्।** यहाँ गो और बलि से पञ्चमी हुई। **तण्डुलैरोदनं पचति। गर्गेभ्यः (पञ्चमी) शतं दण्डयति। व्रजे गामवरुणद्धि। माणवकात्पन्थानं पृच्छति। वृक्षादवचिनोति फलानि। माणवकाय धर्मं ब्रूते। आचार्यः शिष्येभ्यो धर्मं शास्ति। देवदत्ताच्छतं जयति। क्षीरनिधेः सुधां मथ्नाति। देवदत्तान्मुष्णाति शतम्। अजां ग्रामाय नयति हरति कर्षति वहति वा।**

भट्टोजिदीक्षित ने दुह्याच्—इत्यादि कारिका में पच् धातु भी पढ़ी है। पर यह भाष्यकार को सम्मत नहीं। 'द्व्यर्थः पचिः' ऐसा भाष्यकार मानते हैं। इसलिए '**तण्डुलानोदनं पचति**' का अर्थ होगा '**तण्डुलान्विक्लेदयन्नोदनं पचति**'। यहाँ एक ही पच् धातु दो व्यापारों को कह रही है—(१) विक्लेदन (==अवयवों का शिथिलीकरण) और (२) पकाना, जिससे दो कर्म उपपन्न हो जाते हैं। परिगणित धातुओं से अतिरिक्त धातुओं में यदि कहीं शिष्ट व्यवहार में द्विकर्मकता मिले तो ऐसा ही समाधान समझना चाहिए[१]। ण्यन्त ग्राहि तथा त्याजि धातुओं का द्विकर्मकतया प्रयोग काव्यों में मिलता है—

अयाचितारं नहि देवदेवमद्रिः सुतां ग्राहयितुं शशाक (कुमार० १।५२।)। **धूमोष्मणा त्याजितमार्द्रभावं केशान्तम्......** । (कुमार० ७।१४)। **स त्वया रणे राम जीवितं त्याजितः कथम्** (रा० ४।२०।१३॥)। **मुक्ताजालं चिरविरचितं त्याजितो दैवगत्या** (मेघदूत ९४)। **योऽसौ छद्मनाऽऽचार्यं शस्त्रं संत्याजयत्तदा** (भारत ७।८९९१)। यहाँ 'संत्याजयत्' में अट् का अभाव आर्ष समझना चाहिये। **एष तं नरशार्दूलो रावणिं निशितैः शरैः। त्याजयिष्यति तत्कर्म.....** (रा० ६।८४।१८)॥ **पराजयव्यञ्जनार्थं नानालिङ्गानि पार्थिवाः। उग्रेण ग्राहितास्तेन.....**॥(राज० ४।१७८)। **भरतस्तत्र गन्धर्वान्युधि निर्जित्य केवलम्। आतोद्यं ग्राहयामास समत्याजयदायुधम्**

---

१. इसी प्रकार गौ० ध० ३।५।१८ में पढ़े हुए '**०सप्त गृहान् भैक्षं चरेत् कर्माचक्षाणः**' और अपने कुकर्म का प्रख्यापन करता हुआ सात घरों को जाकर भिक्षा माँगे। इस वचन में चर् धातु चरण-पूर्वक अर्जन अर्थ को लिये हुए प्रयुक्त हुई है, **सप्त गृहान् चरन् भैक्षमर्जयेत्**। सो चर् के पच् धातु की तरह दो कर्म हो जाते हैं। जैसे पच् द्व्यर्थक है वैसे चर् भी। अन्यत्र भी **भिक्षां चर** आदि में चरणेन भिक्षामर्जय ऐसा ही अर्थ सर्वसम्मत है।

(रघु० १५।८८) ॥ **तेजोर्दुर्विदग्धानर्ककरानपि चामराणि ग्राहयितुमीहते हृदयम्** (हर्ष० ६, पृ० १९३) । **नूनमस्य निर्माणे गिरयो ग्राहिताः परमाणुताम्** (**हर्ष० २**) । रामायण में ण्यन्त स्पर्शि का भी द्विकर्मकतया प्रयोग मिलता है—**अस्पर्शयमहं पुत्रं तं मुनिं सह भार्यया** (२।६४।२८) । दापि की भी द्विकर्मकता देखी जाती है— **समुत्थानव्ययं दाप्यः सर्वदण्डमथापि वा** (मनु० ८।२८।७) । **अतोऽन्यथा वर्तमानो दाप्यो द्वादशकं दमम्** (मनु० ८।३९७) । **कन्दुको मे हृतोऽनेन तमयं दाप्यतामिति** (बृ० श्लो० सं० ६।२०) । ग्राहि आदि के ये द्विकर्मक प्रयोग निश्चित ही अपाणिनीय हैं । अन्यत्र भी पाणिनीय शासन का अतिक्रम काव्य-नाटकों में देखा जाता है—**शकटदासोपि तपस्वी तं लेखमजानन्नेव कपटलेखं मया लेखितः** (मुद्रा०) । **परिधापिताः कुमारेण आभरणानि वयम्** (मुद्रा०—अंक ५) ।

देशकालाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणाम् । अकर्मक धातुओं के प्रयोग में देश (कुरु, पञ्चाल आदि) काल और गन्तव्य अध्वा (जो बाट काटनी है, कोस आदि) कर्मसंज्ञक हो जाते हैं । जैसे **कुरून्स्वपिति** । **भुवं भ्रमति** । **महीमटति** । **मासमास्ते** । **कल्यमुत्तिष्ठति** (प्रातः उठता है) । **क्रोशमास्ते**[1] ।

क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं नपुंसकत्वमेकवचनान्तत्वं चेष्यते। क्रियाविशेषण भी "कर्म" कहलाते हैं और इनका नपुंसक लिङ्ग की द्वितीया विभक्ति के एकवचन में प्रयोग होता है—**मन्दं गच्छति। अवहितं शृणोति । साधु भवानास्ताम्** (आप अच्छी तरह आराम से बैठिए) । **सूक्ष्ममीक्षते। इत ऋजु याहि** (यहाँ से सीधे जाओ) । **पन्नं गच्छतीति पन्नगः** (लेटकर चलने से साँप को 'पन्नग' कहते हैं) । **अनुपधि व्यवहर** (निष्कपटता से व्यवहार कर) । **लघ्वायाहि** (जल्दी आओ) । **सव्रीडमाह** । सव्रीडम्=व्रीडया सह वर्तमानं यथा स्यात् तथा । **सत्वरं याति** । सत्वरम्=त्वरया सह वर्तमानं यथा स्यात्तथा।

भट्ट क्षीरस्वामी क्रिया विशेषणों की कर्मता में यह उपपत्ति देते हैं—क्रिया हि धातूनामन्तरङ्गं कर्म । **किं करोति भवतीति** । अत एव क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं स्मरन्ति—**शोभनं घटो भवति** ।

---

१. **वस ब्रह्मचर्यं** श्वेतकेतो। गामट (**भिक्षां चर**) । **पौलस्त्यमाहवे हत्वा रामोऽयोध्यां न्यवर्तत । जित्वा रिपून्महावीरो नगरं स्वं प्रतस्थिवान्** । **तस्माद् बुद्धिवृद्धैः सार्धमासीत मन्त्रम्** (कौट० १।१४।११) । **अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद् ब्राह्मणजीविकाम्** (मनु० ४।११, ७।३२) । **श्वोभूतां पौर्णमासीमुपवसेत्** (गौ० ध० ३।९।४) । **यामेव रात्रिं ते दूताः**

अधिशीङ्स्थासां कर्म (१।४।४६)। अधिपूर्वक शी, स्था, और आस् धातुओं के आधार की कर्म-संज्ञा होती है—**अद्यापि शयनमधिशेते। अहो आलस्यम्। न ग्रामं न वा नगरमधितिष्ठन्ति यतयः। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया** (अपनी प्रकृति को आधीन करके)। **आसनमध्यास्स्व चिरं स्थितोसि** (आसन पर बैठिए, आप देर से खड़े हैं)।

अभिनिविशश्च (१।४।४७)। अभि-नि-पूर्व विश् धातु के आधार की कर्मसंज्ञा होती है—**कल्याणबुद्धयः सन्मार्गमभिनिविशन्ते** (सुमति लोग सन्मार्ग में दृढ़ता से लग जाते हैं)। कहीं-कहीं कर्मसंज्ञा नहीं भी होती—**अर्थकामेष्वभिनिविष्टैर्दुर्ज्ञानो धर्मः** (अर्थ और काम में आसक्त लोगों को धर्म

प्रविशन्ति स्म तां पुरीम्। भरतेनापि तां रात्रिं स्वप्नो दृष्टोऽयमप्रियः॥ रा० २।६९।१। **यत्किञ्चिन्मधुना मिश्रं प्रदद्यात्तु त्रयोदशीम्** (मनु० ३।२७३)। यहाँ वस् आदि अकर्मक धातुओं के प्रयोग में भी जो ब्रह्मचर्य आदि कर्म हैं, उसकी उपपत्ति यह है कि ये धातुएँ अपने अन्दर सकर्मक धातुओं के अर्थ को लेकर प्रयुक्त हुई हैं। यहाँ वस्=**अनुतिष्ठन् वस**। अट=**अनुसरन्नट**। **न्यवर्तत**=उद्दिश्य न्यवर्तत। **प्रतस्थिवान्**=उद्दिश्य प्रतास्थिवान्। **आसीत**=उद्दिश्य आसीत। **जीवेत्**=आश्रित्य जीवेत्, उपजीवेत्। **उपवसेत्**=अवगम्य उपवसेत् **पौर्णमासी** गम्यमान 'अवगम्य' का कर्म है। अर्थ यह है कि कल पौर्णमासी है यह जानकर उससे पूर्व दिन चतुर्दशी में उपवास करे। **प्रविशन्ति**=प्राप्य प्रविशन्ति। त्रयोदशीं प्राप्य। यहाँ भी 'प्राप्य' शेष है।

अनुजातो हि मां सर्वैर्गुणैः श्रेष्ठो ममात्मजः (रा० २।२।११)। यहाँ अनुजातः=अनुरुध्य (अथवा अनुसृत्य) जातः। अनुरोध रूप धात्वर्थ को अपने अन्दर लेकर प्रयुक्त हुई जन् धातु सकर्मक हो गई है ऐसा हमारा निश्चित मत है, जैसा कि अनौ कर्मणि (३।२।१००) में कर्म उपपद होने पर अनुपूर्वक जन् धातु से 'ड' प्रत्यय विधान करते हुए आचार्य 'अनुजन्' को सकर्मक मानते हैं। पर आश्चर्य है रामायण के टीकाकार यहाँ 'अनु' को अनुर्लक्षणे (१।४।८४) से अथवा लक्षणेत्थम्भूताख्यान० से कर्मप्रवचनीय मानकर द्वितीया का समर्थन करते हैं। केवल महेश्वर अनुजातः—अनुसृत्य जातः ऐसा अर्थ करता है और अनुर्लक्षणे आदि सूत्रों को उद्धृत नहीं करता। अनुर्लक्षणे में हेतुभूत लक्षण लिया जाता है, सो उसका यहाँ विषय नहीं। इत्थम्भूताख्यान भी यहाँ संगत नहीं। 'जातः' कहने से इत्थम्भूतः, ऐसा है, इस प्रकार का है, इस अर्थ का कुछ भी आख्यान (कथन) नहीं होगा।

जानना दुष्कर है)। **या या संज्ञा यस्मिन्यस्मिन्संज्ञिन्यभिनिविशते** (भाष्य)। स्मरण रहे अभि और नि जहाँ दोनों उपसर्ग एक साथ इसी निर्दिष्ट क्रम से प्रयुक्त हुए हों वहाँ आधार की कर्मसंज्ञा होती है, अन्यत्र नहीं। '**निविशते यदि शूकशिखा पदे**, यदि पैर में शूक की नोक लग जाती है। केवल 'नि' होने से 'पद' की कर्मसंज्ञा न हुई।

उपान्वध्याङ्वसः (१।४।४८)। उप, अनु, अधि, आ (ङ) पूर्वक वस् (रहना) का आधार कर्मसंज्ञक होता है—**इमे हिमाद्रेरुपत्यकाम् उपवसन्ति** (ये हिमालय की तराई में रहते हैं)। **एतेऽनूपमनुवसन्तीति प्रायः शीतकेन ज्वरेण बाध्यन्ते** (ये जलप्राय प्रदेश में रहते हैं इसलिए प्रायः मलेरिया इन्हें सताता है)। **न शूद्रराज्यमधिवसेत्** (शूद्र के राज्य में न रहे)। **यो हि षण्मासान्ग्राममावसेत्स व्यामुह्येत्** (जो छः मास ग्राम में रहे वह मूर्ख हो जाय)। जब उप-पूर्वक वस् का अर्थ लङ्घन (न खाना) हो तो आधार की कर्मसंज्ञा नहीं होती—**वन उपवसन्ति मुनयः** (मुनि वन में उपवास करते हैं)।

उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी अर्थात् उपपद के योग से जो विभक्ति प्राप्त होती है उसे बाध कर कारक-विभक्ति होती है—नमस्करोति देवान्—यहाँ 'नमः' के योग में चतुर्थी प्राप्त थी, करोति का अनुक्त कर्म होने से 'देवान्' में द्वितीया हुई।

तृतीया

साधकतमं करणम् (१।४।४२)। क्रिया की सिद्धि में जो पदार्थ अत्यन्त उपकारक हो उसे "करण" कहते हैं। जिसके व्यापार के होते ही क्रिया की निष्पत्ति हो वही अत्यन्त उपकारक समझा जाता है।[1]

कर्तृकरणयोस्तृतीया (२।३।१८)। अनुक्त कर्ता और करण में तृतीया होती है—**नियतिः केन लङ्घ्यते**। यहाँ तिङ प्रत्यय कर्मवाची है (कर्मवाची होने पर ही तो आत्मनेपद और यक् हुआ है)। अतः कर्त्ता अनुक्त है सो उसमें तृतीया हुई। **अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्** (मनु० ७।५५)। **वयोभिः खादयन्त्यन्ये प्रक्षिपन्त्यनलेऽप्सु वा** (मनु० ३।२६१)। **सहजेन वियुज्यन्ते पर्णरागेण पादपाः। अन्येनान्यस्य विश्लेषः किं पुनर्न भविष्यति॥** (बुद्धचरित ६।४९)। **अलमियद्भिः कुसुमैः** (शकुन्तला)। इतने पुष्प पर्याप्त होंगे। अलम्=पर्याप्तम्। यहाँ भी अनुक्त कर्ता में तृतीया हुई। **यस्तत्र वेद**

---

१. क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम्।

किमृचा करिष्यति (ऋ० १।१६४।३९)। जो उसे नहीं जानता वह ऋक्पाठ से क्या करेगा? **येन मन्त्रेण जुहोति तद्यजुः** (शत० ब्रा०)। **अहन् वृत्रमिन्द्रो वज्रेण** (ऋ० १।३२।५)। **न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम्**। यहाँ तिङ् प्रत्यय कर्तृवाची है अतः करण (चक्षुः) अनुक्त है सो उसमें तृतीया हुई। **पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः** (अथर्व० १०।८।१४)। इसी प्रकार **असिना कृन्तति शिरांसि शत्रूणाम्। नायमात्मा प्रवचनेन** (व्याख्यानेन) **लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता** (=प्राप्ताः) **जनकादयः। पद्भ्यां स कुरुते पापं यः कलिङ्गान् प्रपद्यते** (बौ०ध० १।१।३।१६)। **नाञ्जलिना पयः पिबेत्। न मुखेनाग्निमुपधमेत्** (आग में मुंह से फूंक न लगाए)। **वास्यैकं तक्षतो बाहुं चन्दनेनैकमुक्षतः। नाकल्याणं न कल्याणं चिन्तयन्नुभयोस्तयोः** (भारत शां०), जो मेरी एक बांह को वासी से छीलता है और जो दूसरा मेरी दूसरी बांह को चन्दन का लेप करता है उनमें न तो एक का इष्ट चिन्तन करता हूँ और न दूसरे का अनिष्ट। **कृच्छ्रा धर्मसमाप्तिः समाम्नानेन लक्षणकर्मणा तु समाप्यते** (आप० ध० २।२९।१३)। **प्रजाभिस्तु बन्धुमन्तो राजानो न ज्ञातिभिः** (हर्षचरित ५, पृ० १५८)। **गवां शतसहस्रेण दीयतां शबला मम** (रा० १।५३।९)। यहाँ दान–प्रतिदान–द्रव्य-विनिमय है। अर्थ यह कि एक लाख गौओं के बदले में यह शबला (कामधेनु) मुझ (विश्वामित्र) को दीजिये। इस व्यवहार में 'शतसहस्र' की करणता स्पष्ट है। **निषण्णो भुवि जानुभ्याम्** (वामन पु० ५२।२२)। **सोमेन पूर्णं कलशं बिभर्षि** (अथर्व० ९।४।६)। **भोजयित्वा सह भ्रात्रा रामं पक्वफलादिभिः** (अध्यात्म रा० १।५।११)। यहाँ भोजयित्वा=भोजनेन तर्पयित्वा। **द्वादश ब्राह्मणान् पश्चाद् भोजयेन्मधुपायसैः**। भोजनपूर्वक तर्पण में तात्पर्य है। **न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः** (कठ० उ०१।१।२७)। **विभागं चेत्पिता कुर्याद् इच्छया विभजेत् सुतान्। ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन ...॥** (याज्ञ० २।११४)। श्रेष्ठभागेन दत्तेन। ज्येष्ठम्' इस का भी विभजेत् में अन्वय है। **धनुषा विध्यति मृगान्** इत्यादि में जानो।

पुण्येन दृष्टो हरिः। यहाँ पुण्य के दर्शन क्रिया में व्यापृत न होने से वह करण नहीं; हेतु है। पुण्य दर्शनयोग्यता को सम्पादन करता है, दर्शन क्रिया को नहीं। सो यहाँ हेतु में तृतीया है, करण में नहीं।

न केवलं श्रूयमाणैव क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका गम्यमानाऽपि। यह काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति के कर्ता वामन का वचन है। अर्थ यह कि न केवल

श्रूयमाण क्रियापद के साथ अन्वय होने से किसी दूसरे प्रातिपदिक (नाम) से कारक विभक्ति होती है, गम्यमान (जो प्रयुक्त तो नहीं पर वाक्यार्थ से प्रतीत हो रहा है) क्रियापद भी उसमें निमित्त हो जाता है—**अलं महीपाल तव श्रमेण**। यहाँ 'श्रम' गम्यमान साधन क्रिया का करण है सो इससे तृतीया हुई। अलम्=न। हे महीपाल तव श्रमेण न किमपि सेत्स्यति, मा श्रमः इत्यर्थः। ऐसा वाक्यार्थ होता है। इसी प्रकार **कृतं प्रलापेन**। **अलं रुदितेन** (रोने से कुछ न बनेगा अर्थात् मत रो)। **अलं महतामपवादेन**। **सुन्दरि न मे मालविकया कश्चिदर्थः**। **अपेहि, न मेऽस्ति कार्यं** (=प्रयोजनम्) **त्वया** (साध्यमिति शेषः)। **किं मधुना किं विधुना किं सुधया किं वसुधयाऽखिलया**। (साध्यमिति शेषः) **यदि हृदयहारिचरितः पुरुषः पुनरेति नयनयोरयनम्**॥ **किं कार्यं कनकेन तेन भवति च्छेदाय कर्णस्य यत्** (पञ्चतन्त्र)। (साध्यमिति शेषः)। **हिरण्येनार्थिनो भवन्ति राजानः** (भाष्य)। **एभिस्तुषैरर्थिनो भूषण-मृजाक्षमैः स्वर्णकाराः** (दश कु०)। इन दो उदाहरणों में तद्धितान्त 'अर्थिनः' के एकदेश अर्थ (=प्रयोजन) का अध्याहार्य साधन क्रिया में अन्वय है जिस क्रिया का हिरण्य तथा तुष करण हैं। **हिरण्येनार्थिनः**—हिरण्येन साध्यो योऽर्थः (अत एवासंनिहितः) तेन तद्वन्तः। **ये व्यर्था द्रव्यपरिग्रहैः** (आप० ध० २।२६। १७)। व्यर्थाः—विगतोर्थः (द्रव्यपरिग्रहैः साध्यः) येषां ते। यहाँ समास के एकदेश अर्थ (=प्रयोजन) का अनुक्त साधन क्रिया में अन्वय है, जिसका 'द्रव्यपरिग्रह' करण है। **यद्यर्थिता तु दारैः स्यात् क्लीबादीनां कथञ्चन** (मनु० ९।२०१)। इस मनु वाक्य को 'यदि ते क्लीबादयो दारैरर्थिनः स्युः' ऐसे अनूदित किया जा सकता है। तब उक्त रीति से 'दार' की करणता स्पष्ट है। **अयि निरनुक्रोशस्य पुत्रौ, मा चापलम्** (कुन्दमाला)। यहाँ 'कुरुतम्' क्रियापद गम्यमान है। इस क्रिया का अनुक्त कर्म होने से 'चापल' से द्वितीया हुई।

गन्तव्य-स्थान को पहुँचने के लिए मार्ग निश्चय ही करण है। **सुजनो हि पथा याति नापथा** (सज्जन मार्ग से चलता है, कुमार्ग से नहीं)। **वणिक्सार्थो जलवर्त्मना विदेशं प्रस्थितः** में पथिन्, अपथिन्, वर्त्मन् से तृतीया हुई। हाँ, जहाँ मार्ग ही गन्तव्य है, वहाँ कर्म में द्वितीया निर्बाध होगी—**पन्थानं गच्छति, अध्वानं याति**। **नित्यं पन्थानं गच्छतीति पान्थः** (मुसाफिर जो चलता रहता है)।

यह नियम नहीं कि अमुक पदार्थ का जो वास्तविक स्वरूप है उसके अनुसार उसका कारकत्व निश्चित हो। बहुत कुछ कल्पना पर निर्भर है। शिष्टों के व्यवहार में देखा गया है कि गत्यर्थक और धारणार्थक धातुओं के प्रयोग में

यान (सवारी) अथवा शरीर के अंगों को करण माना गया है यद्यपि वे आधार-स्वरूप हैं—**रथेन याति । आत्मनः पदं विमानेन विगाहमानः** (रघुवंश १३।१) (आकाश को विमान में बैठकर पार करता हुआ)। **न भारं शिरसा वहेत्** (अष्टाङ्ग० सूत्र० २।३८)। **मध्येन सा वेदिविलग्नमध्या वलित्रयं चारु बभार बाला** (कुमारसम्भव)। **गुणानुरागेण शिरोभिरुह्यते नराधिपैर्माल्य-मिवास्य शासनम्** (किरात १।२१)। अतः आधार मानकर रथे याति इत्यादि नहीं कह सकते।

दिवः कर्म च (१।४।४३)। देवन क्रिया (जुआ खेलना) के साधकतम कारक की कर्मसंज्ञा भी होती है। यथाप्राप्त करण संज्ञा भी। करण—**अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व** (ऋ० १०।३४।१३) कर्म—**योऽक्षान्दीव्यति स परिदेवयते** (जो पासों से खेलता है वह पछताता है)।[1]

संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि (२।३।२२) सम्-पूर्व ज्ञा धातु के कर्म में विकल्प से तृतीया होती है—**मात्रा संजानीते** (माता के साथ अनुकूलता से वर्तता है, माता के साथ एकमत वाला है[2])। पक्ष में यथाप्राप्त द्वितीया भी होती है। **मातरं संजानीते। मातरं संजानाति** (माता को उत्कण्ठापूर्वक स्मरण करता है)। **शतं संजानीते** (सौ रुपया दूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करता है)। सम् ज्ञा का ढूंढ़ना अर्थ नहीं है।

करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्यासत्त्ववचनस्य (२।३।३३)। अद्रव्यवाची करण-कारक स्तोक, अल्प, कृच्छ्र, कतिपय से पञ्चमी भी होती है, यथा-प्राप्त तृतीया भी—**स्तोकान्मुक्तः**। स्तोकेन मुक्तः (थोड़े में ही छूट गया)। **कृच्छ्रान्मुक्तः**। कृच्छ्रेण मुक्तः। (दुःख भोगने से छूटा)। द्रव्यवाची होने पर तृतीया ही होगी। **स्तोकेन विषेण हतः** (थोड़े से विष से मारा गया)।

चतुर्थी

कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् (१।४।३२)। दान क्रिया के 'कर्म के साथ कर्त्ता जिसे जोड़ता है वा जोड़ना चाहता है उस पदार्थ को सम्प्रदान कहते हैं। दान का अर्थ है फिर न लेने के लिए अपना स्वत्व (अधिकार) हटाते हुए दूसरे का स्वत्व (अधिकार) बना देना।

---

१. दिव् का व्यवहार अर्थ लेने पर अर्थ होगा—पासे फेंकता है। द्वितीया सिद्ध ही है।

२. माँ को अच्छी तरह जानता है—यह मूलार्थ था। पंजाबी आदि प्रादेशिक भाषाओं में अब भी ऐसा कहने की रीति है।

चतुर्थी सम्प्रदाने (२।३।१३)। सम्प्रदान में चतुर्थी होती है। **विप्राय गां ददाति। वितरति पारितोषिकं छात्राय। वि यो रत्ना भजति मानवेभ्यः** (ऋ० ४।४४।१)। **अहं दाशुषे विभजामि भोजनम्** (ऋ०१०।४८।१), मैं हविः देने वाले को भोजन देता हूँ। **पुत्रेभ्यो विभजते धनं पिता। पात्रेभ्यः प्रतिपादयति** (=ददाति) **विद्यां गुरुः। अप्सु प्रवेश्य तं दण्डं वरुणायोपपादयेत्।** (मनु० ९।२४४)। **बलिनेऽर्पयत्यात्मानमबलः। अर्थांस्त्यजत पात्रेभ्यः**—योग्य व्यक्तियों को दान दो। (भारत उद्योग ५९।२१)। **अल्पीयसैव कालेन स ते शापशोकविरतिं वितरिष्यति** (हर्ष० पृ० १७)। **पितृभ्यो निपृणाति पिण्डान्** (पितरों के पिण्ड देता है)। **निर्यात्य वैरं सफलं सपुष्पं तस्मै नरेन्द्राधमपूरुषाय** (भा० वन० १७६।१०) निर्यात्य=प्रत्यर्प्य, संशोध्य। **ब्राह्मणाय बुभुक्षितायौदनं देहि, स्नातायानुलेपनं, पिपासते पानीयम्** (निरुक्त ७।१३)।

कहीं-कहीं अधिकरणता की विवक्षा करके दानार्थक धातुओं के प्रयोग में सप्तमी भी देखी जाती है—**वितरति** (=ददाति) **गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे** (उत्तररामचरित)। **दरिद्रान् भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम्** (हे कुन्तीपुत्र गरीबों का पालन कर, धनी को धन मत दे)। **श्रुतवृत्तोपपन्ने वा ब्राह्मणे प्रतिपादयेत्** (मनु० ९।२४४)। **अर्थिजने च किमिव नातिसृजन्ति महान्तः** (हर्ष० पृ० २५६)। अतिसृजन्ति=ददति, देते हैं।

अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया वक्तव्या। अशिष्ट-व्यवहार (प्रतिषिद्धाचरण) में सम्प्र पूर्वक दा (ण्) देना भ्वा० के प्रयोग में सम्प्रदान में तृतीया होती है, चतुर्थी नहीं—**दास्या सम्प्रयच्छते** (तया रंस्य इति)। (दासी को संभोगेच्छा से धन देता है)।

क्रियया यमभिप्रैति सो पि सम्प्रदानम्। क्रिया के साथ भी जिस पदार्थ को कर्त्ता जोड़ना चाहता है वह भी सम्प्रदान होता है। अकर्मक और सकर्मक दोनों प्रकार की धातुओं के प्रयोग में इस वार्तिक की प्रवृत्ति होती है—**युद्धाय संनह्यते। पत्ये शेते। श्राद्धाय निगर्हते।** (श्राद्ध की निन्दा करता है)। **गुरवे भिक्षां निवेदयति। यजमानाय पुराणमाचष्टे पौराणिकः** (पुराणपाठी यजमान को पुराण पढ़कर सुनाता है)। **यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे** (जो निश्चित कल्याण है वह मुझे कहिए)। **धृतराष्ट्रात्मजं तस्मै भीमसेनाय धीमते। शयानं सलिले सर्वे कथयामो धनुर्भृते** (भारत शल्य० ३०।३३)॥ **चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि** (ऋ० १०।१८।१)। **गां धयन्तीं परस्मै नाचक्षीत** (गौ० ध० १।९।२४)। **यो हि यस्मा उपकरोति स तेन सम्यग् दृष्टो भवति** (दुर्ग-निरुक्त १०।२२)।

कर्मणा यमभिप्रैति—सूत्र में अन्वर्थसंज्ञा मानी गई है अर्थात् सम्यक् प्रदीयतेऽस्मै तत्सम्प्रदानम्—जिसे कुछ दिया जाय और वापस न लिया जाय वह सम्प्रदान है। अतः **रजकस्य वस्त्रं ददाति । घ्नतो पृष्ठं ददाति** (मारते हुए को पीठ देता है)। यहाँ रजक और घ्नत् से चतुर्थी नहीं होती। पर भाष्यकार ऐसी अन्वर्थ संज्ञा को स्वीकार नहीं करते। उनका '**खण्डिकोपाध्यायः शिष्याय चपेटां ददाति**' यह प्रयोग इस बात का सूचक है। इसी प्रकार '**न शूद्राय मतिं दद्यात्**' इस मनुवचन में भी शूद्र से चतुर्थी हुई। यहाँ कुछ भी देना नहीं। 'मतिं दद्यात्' का अर्थ तो 'मतेर्जनकं शास्त्रमुपदिशेत्' है। भाष्यकार के मत में कैसी भी दानक्रिया क्यों न हो सम्प्रदान संज्ञा हो जायगी। उनके मत में रजकस्य वस्त्रमित्यादि में सम्प्रदान की अविवक्षा में शैषिकी (सम्बन्ध मात्र से होने वाली) षष्ठी हो जायगी। **स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च** (मनु० २।१३८)। यहाँ दान त्याग मात्र है और वह भी मार्ग से परे हटना, अतः चतुर्थी न होकर शैषिकी षष्ठी हुई।

रुच्यर्थानां प्रीयमाणः (१।४।३३)। रुचि (पसन्द आना) अर्थ वाली धातुओं के प्रयोग में जिसे पसन्द आता है (जो प्रसन्न होता है) उसे सम्प्रदान कहते हैं—**संस्कृतं मे यथा रोचते न तथा वागन्तरम्** (=अन्या वाक्) (रोचते=रुचिविषयी भवति)। **नारदाय रोचते कलहः । नाट्यं मे यथा स्वदते न तथा काव्यम् । अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा** (नैषध), जल से तृप्त पुरुष को मधुर सुगन्ध वाला शीतल जल नहीं भाता।

श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः (१।४।३४)। श्लाघ्-स्तुति करना, ह्नु (ङ)-छिपाना, स्था-ठहरना, शप्-शपथ लेना के प्रयोग में जिसे स्तुति आदि जतलाना इष्ट हो उसकी सम्प्रदान संज्ञा है—**नृपाय श्लाघते बन्दी** (सूत राजा को जतलाना चाहता हुआ उसकी स्तुति करता है)। (नृपं श्लाघमानस्तां श्लाघां तमेव ज्ञपयितुमिच्छति)। **पुत्रायापह्नुते धनं वणिक्** (बनिया पुत्र को बतलाना चाहता हुआ किसी दूसरे से धन को छिपाता है)। **तापसाय तिष्ठते ऽप्सराः**, तपस्वी के प्रति अपनी इच्छा को प्रकाशित करना चाहती हुई ठहरती है। यहाँ स्था से अभिप्राय प्रकाशन अर्थ में 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' इस सूत्र से आत्मनेपद होता है। **प्रियायै शपते कामुकः** (कामुक अपनी प्रिया को जतलाना चाहता हुआ शपथ लेता है)। यहाँ 'शप उपलम्भने' इस वार्तिक से शप् से आत्मनेपद होता है। **देवदत्ताया-पह्नुते**—कई लोग इसका यह अर्थ करते हैं—**सन्निहितमेव देवदत्तं धनिका-**

देरपलपति अर्थात् देवदत्त के विद्यमान होते हुए भी धनिक आदि से कह देता है कि वह यहाँ नहीं है।

धारेरुत्तमर्णः (१।४।३५)। ण्यन्त धृ(ङ) के प्रयोग में उत्तमर्ण (उत्तम ऋणे—जो ऋण के विषय में उत्तम, जिस का ऋण किसी दूसरे ने देना है) सम्प्रदान संज्ञक होता है। **स मे शतं मुद्रा राजतीर्धारयति न च निर्यातयति,** उसे मेरे सौ रुपये देने हैं, पर लौटाता नहीं। **ऋषिभ्यो बहुमानं धारयामः।** यहाँ सम्बन्धमात्र में षष्ठी प्राप्त थी उसके रोकने के लिए सम्प्रदान संज्ञा विधान कर दी।

स्पृहेरीप्सितः (१।४।३६)। स्पृह—चाहना (अदन्त चुरादि) के प्रयोग में इष्ट पदार्थ की सम्प्रदान संज्ञा होती है—**विद्यावित्ता वयं नापातरमणीयेभ्यः परिणतिविरसेभ्यो विषयेभ्यः कलयाऽपि स्पृहयामः। कथमन्ये करिष्यन्ति पुत्त्रेभ्यः पुत्त्रिणः स्पृहाम्।** (भारत द्रो० १९५।१०)। **इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति** (ऋ० ८।२।१८)। **उपस्पृशंस्त्रिषवणं मधुमूलफलाशनः। नायोध्यायै न राज्याय स्पृहयेऽहं त्वया सह** (रा० २।९५।१७)॥ **उपस्पृशंस्त्रिषवणम्**—तीनों सन्ध्याओं में स्नान करता हुआ। ईप्सिततम होने पर तो कर्मसंज्ञा अव्याहत होगी—**प्राकृतास्तु स्पृहयन्ति लौकिकानर्थान्,** सामान्य लोग एकमात्र लौकिक अर्थों को चाहते हैं।

क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः (१।४।३७)। क्रुध्, द्रुह् (हानि पहुँचाने की इच्छा करना), ईर्ष्य भ्वा० (न सहना), असूञ् (कण्ड्वादि)—इन धातुओं के और इनके समानार्थक धातुओं के प्रयोग में जिसके प्रति कोप हो, वह सम्प्रदान-संज्ञक होता है—**मा नः क्रुधः पशुपते** (अथर्व० ११।२।१९-२०)। **अपराद्धाय शिष्याय क्रुध्यति गुरुः। उत्तरं वक्तीति रुष्यति माता कन्यकायै,** जवाब देती है, इसलिए माता पुत्री पर क्रुद्ध होती है। **किमित्यकारणमेव मे भामसे भामिनि,** हे चण्डि बिना कारण ही मुझसे क्यों बिगड़ती हो? **अयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते** (ऋ० ७।८६।३)। **किमस्मभ्यं जातवेदो हृणीषे** (ऋ० ७।१०४।१४), हे अग्ने तू हमसे क्यों क्रोध करते हो। पाणिनि धातु पाठ में हृणीङ कण्ड्वादि है।

क्रोध आदि कोपप्रभव (कोपजन्य) लिए जाते हैं। इसीलिए सामान्य रूप से 'यं प्रति कोपः' ऐसा कहा। **न ह्यकुपितः क्रुध्यति** इस भाष्य वचन से स्पष्टतर ज्ञापित होता है कि **कोप** और **क्रोध** समानार्थक नहीं हैं। कोप क्रोध का पूर्वरूप है, क्रोध उसका उद्भूत उत्तररूप है, अतः कादम्बरी आदि में

कुप्यन्ति हितवादिने' इत्यादि में चतुर्थी असाधु ही है। षष्ठी ही साध्वी है। **हन्त्येष नियमाद् वध्यानवध्येषु न कुप्यति** (रा० २।२।४६) । यहाँ अधिकरण की विवक्षा में सप्तमी भी निर्दोष है। रामायण में एक स्थान (१।४९।७) पर द्वितीया का प्रयोग भी मिलता है— **इदानीं कुप्यते** (= कुप्यति) **देवान् देवराजः**। यह असमाधेय है। कुप् निश्चित ही अकर्मक है।

विविधं बाधिताः प्रजा राज्ञे द्रुह्येयुरिति किं चित्रम्। न द्रूये सात्वतीसूनुर्यन्मह्यमपराध्यति (माघ २।११) । अपराध्यति=द्रुह्यति । **कुशलेभ्यश् छात्रेभ्य ईर्ष्यन्त्यकुशलाः**, कुशल छात्रों के प्रति दूसरे डाह करते हैं। **ईर्ष्यति लक्ष्मीः सरस्वत्यै तेन नैते एकाधिकरणे भवतः**, लक्ष्मी सरस्वती को देखकर जलती है इसलिए ये दोनों एक स्थान में नहीं रहतीं। **यस्मा इरस्यसीदु न्वर्यो** (ऋ० १०।८६।३) । इरस् धातु कण्ड्वादि ईर्ष्यार्थ में पढ़ी है। **यः खलु हताशो गुरुभ्योऽप्यसूयति** (गुरूणां गुणेषु दोषानुद्भावयति) **न तस्मै विद्याकणमपि वितरन्ति गुरवः**। परन्तु जहाँ ईर्ष्या तो है पर कोपजनित नहीं और जिसके प्रति ईर्ष्या है उसके प्रति कोप नहीं वहाँ सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती— **भार्यामीर्ष्यति** (मैनामन्यो द्राक्षीदिति)। परैरीक्ष्यमाणां भार्यां न सहते इत्यर्थः। यह नहीं सहता कि कोई दूसरा उसकी स्त्री को देखे। अक्षान्तिरीर्ष्या—अमरकोष के इस वचन का व्याख्यान करते हुए श्रीक्षीरस्वामी लिखते हैं—भार्यादिः परदर्शनासहने रूढाऽक्षान्तिरीर्ष्या। अयं तु परोत्कर्षासहनं मात्सर्यमीर्ष्यां मन्यते। इस कथन से पता लगता है कि क्षीरस्वामी के अनुसार भार्यादि विषयक परदर्शन का न सहना ईर्ष्या का प्रसिद्ध अर्थ है।[1]

क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म (१।४।३८) । उपसर्ग-सहित **क्रुध्** और **द्रुह्** के प्रयोग में जिसके प्रति कोप हो उसकी कर्म संज्ञा होती है, सम्प्रदान संज्ञा नहीं —**न खलु तामभिक्रुद्धो गुरुः**, क्या गुरु (कण्व) ने उस (शकुन्तला) पर क्रोध नहीं किया ? **क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येत्** (मनु० ६।४८) । **स्वस्योपका-**

१. इस सूत्र में कुछ धातुओं के पढ़ने का यह प्रयोजन है कि इन्हीं और इनके समानार्थक धातुओं के प्रयोग में उक्त सम्प्रदान संज्ञा होती है, अन्यत्र नहीं। अतः **मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा** (अथर्व०)— यहाँ द्विष् के प्रयोग में भ्रातृ और स्वसृ शब्दों से द्वितीया हुई। द्विष् का अर्थ 'पसन्द न करना, है। इसलिए जड़ वस्तु के प्रति भी द्वेष सङ्गत है—**औषधं द्वेष्टि रुग्णः**, रोगी को औषध अच्छा नहीं लगता ।

रिणोऽप्यभिद्रुह्यन्ति कृतघ्नाः, अपने उपकारकों का भी कृतघ्न लोग बुरा चाहते हैं। **मा नो मर्ता अभिद्रुहन्** (ऋ० १।५।१०), मनुष्य हमारे साथ द्रोह न करें।

राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः (१।४।३९)। राध् (दिवा०) और ईक्ष् (भ्वा०) के प्रयोग में जिसके विषय में अनेक प्रकार का प्रश्न[1] हो उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है—**देवदत्ताय राध्यति गर्गः। देवदत्तायेक्षते गर्गः।** पूछे जाने पर गर्ग देवदत्त के अच्छे बुरे भाग्य पर विचार करता है, ऐसा यहाँ अर्थ है। राध् का अर्थ है साधना। यहाँ शुभ अशुभ दैव का पर्यालोचन अर्थ है। सो धातु के अर्थ के अन्दर ही 'कर्म' (दैव) उपसंगृहीत हो जाता है, जैसे 'जीव प्राणधारणे' यहाँ। जहाँ ऐसा होता है वहाँ धातु अकर्मक हो जाती है। इसी लिए राध् और ईक्ष् दोनों ही यहाँ अकर्मक हैं। और अकर्मक राध् (अर्थ चाहे कुछ भी हो) दिवादिगणी समझी जाती है। राधोऽकर्मकाद् वृद्धावेव—अकर्मक राध् से ही श्यन् होता है जैसे वृद्धि अर्थ में। सम्बन्धमात्र में देवदत्त से षष्ठी प्राप्त थी, उसे रोकने के लिए सम्प्रदान संज्ञा करके चतुर्थी का विधान किया है।

प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता (१।४।४०)। प्रतिपूर्वक और आङ्पूर्वक श्रु धातु के प्रयोग में पहले होने वाली प्रेरणा क्रिया के कर्ता की सम्प्रदान संज्ञा होती है—**हरिश्चन्द्रो विश्वामित्राय राज्यं प्रतिशृणोति**, राज्य देने की प्रतिज्ञा करता है। **मित्रं मित्राय साहायकमाशृणोति।** यहाँ प्रतिपूर्वक तथा आङ्-पूर्वक श्रु का अर्थ प्रतिज्ञा करना है। जब कोई प्रतिज्ञा करता है कि मैं यह वस्तु दूँगा अथवा यह काम करूँगा उससे पहले कोई दूसरा उसे प्रेरणा करता है कि यह वस्तु आप मुझे दो अथवा यह कार्य मेरे लिए करो। इस प्रेरणारूप पूर्व-क्रिया के कर्ता की यहाँ सम्प्रदान संज्ञा विधान की है। दूसरे शब्दों में जिसे वचन दिया जाय (जब प्रतिश्रु अथवा आश्रु का प्रयोग हो) उसे सम्प्रदान कहते हैं।

अनुप्रतिगृणश्च (१।४।४१)। अनु-पूर्वक तथा प्रति-पूर्वक गॄ (क्र्यादि० उच्चारण करना) के प्रयोग में जो पहले होने वाली शंसन (पढ़ना) क्रिया के कर्ता की सम्प्रदान संज्ञा होती है—**होत्रेऽनुगृणात्यध्वर्युः**, अध्वर्यु नाम का ऋत्विक् होता नाम के ऋत्विक् का उत्साह बढ़ाता है। होता पहले शस्त्र पढ़ता है, पीछे अध्वर्यु उसका शब्द से अनुगमन करता हुआ उत्साह बढ़ाता है।

---

१. 'विप्रश्न' शब्द 'दैवविषयक नाना-प्रश्न' इस अर्थ में रूढ है, अतएव अमर दैवज्ञा, विप्रश्निका, ईक्षणिका इन्हें पर्याय रूप में पढ़ता है।

परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् (१।४।४४)। परिक्रयण (किराये पर लेना, वेतनादि से अपने अधीन करना) अर्थ में जो अत्यन्त उपकारक साधन है उसकी विकल्प से सम्प्रदान संज्ञा होती है। पक्ष में करण संज्ञा तो सिद्ध ही है—**प्रतिमासं दानीयेभ्यः शताय रूप्यकेभ्यः परिक्रीतोऽयं दासः**, सौ रुपया प्रति मास वेतन पर इसे नौकर रखा है। पक्ष में **प्रतिमासं दानीयैः शतेन रूप्यकैः परिक्रीतोऽयं दासः। विंशतये रूप्यकेभ्यः (विंशत्या रूप्यकैः) परिक्रीतमिदं गेहमस्माभिः**, हमने यह मकान २० रुपया किराये पर लिया है। परिक्रयण में 'परि' शब्द समीप अर्थ को कहता है। परिक्रयण का अर्थ हुआ लगभग क्रयण (खरीदना)। जो खरीदा जाय उस पर सदा के लिए पूरा-पूरा अधिकार होता है, परिक्रयण में थोड़े समय के लिए। नियतकालं भृत्या (=वेतनेन) स्वीकरणम् (=स्ववशे करणम्) परिक्रयणम्।

क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः (२।३।१४)। जिस अप्रयुज्यमान धातु का क्रियार्था क्रिया को कहने वाली दूसरी धातु उपपद हो उस धातु के 'कर्म में चतुर्थी विभक्ति होती है—**एधेभ्यो वनं निर्गच्छन्ति वर्णिनः**, ब्रह्मचारी लकड़ी लाने के लिए वन को निकल जाते हैं। यहाँ एधेभ्यः=एधानाहर्तुम् अथवा एधानाहारकाः)। सो यहाँ आहृ जिसका प्रयोग नहीं हो रहा, के तुमुन्नन्त अथवा ण्वुलन्त के कर्म 'एध' शब्द से चतुर्थी हुई। आहृ का 'निर्गच्छन्ति' यह उपपद है। 'जाना क्रिया' दूसरी होने वाली क्रिया 'लाना' के लिए हो रही है। अतः यह **उपपद धातु** क्रियार्था हुई। **दुष्टेभ्यो नमस्कुर्वन्ति शिष्टाः सबलेभ्यश्चाबलाः**। यहाँ दुष्टेभ्यः=दुष्टाननुकूलयितुम्। सबलेभ्यः =सबलाननुकूलयितुम्। **ब्राह्मणायावगुर्यैव** (मनु० ४।१६५) =ब्राह्मणं हन्तुं शस्त्रमुद्यम्य=ब्राह्मण को मारने के लिये शस्त्र उठाकर। **स्यन्दन्ते सरितः सागराय**, नदियाँ सागर को पहुँचने के लिये बह रही हैं। **इन्द्रो वृत्राय वज्रं प्राहरत्** (ताण्ड्य ब्रा० १५।४।५)। वृत्राय=वृत्रं हन्तुम्। **रावणाय शरान्घोरान् विससर्ज चमूमुखे** (रा० ६।१०२।२)। **प्रीतः प्रतस्थे पुनराश्रमाय** (भट्टि १।२४)। आश्रमं गन्तुं प्रचक्रमे इत्यर्थः। आश्रम को चल पड़ा ऐसा अर्थ है।

मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु (२।३।१७)। दिवादि मन् धातु के कर्म में, जो प्राणी से इतर हो, विकल्प से चतुर्थी होती है जब अनादर गम्यमान हो— **कामं त्वां बहु मन्यतां लोकः। अहं त्वा तृणाय (तृणं) मन्ये। अहं त्वा बुसाय (बुसं) मन्ये**। यदि अनादर न पाया जाय, वस्तुस्थिति का वर्णन हो तो द्वितीया ही होगी —

अश्मानं दृषदं मन्ये, मन्ये काष्ठमुलूखलम् ।
अन्धायास्तं सुतं मन्ये यस्य माता न पश्यति ॥ (काशिका)

सूत्र में 'अप्राणिषु' के स्थान में 'अनावादिषु' ऐसा पढ़ना चाहिए ऐसा वार्तिककार कहते हैं। यह व्यवस्थित विभाषा है। इसके अनुसार नौ, काक, अन्न, शुक, शृगाल से चतुर्थी नहीं होती। श्वन् से द्वितीया और चतुर्थी दोनों होती हैं—**न त्वा श्वानं मन्ये, न त्वा शुने मन्ये** ।...... **उन्नतेध्वनि । शरीराण्यव करभाः स्वानि भाराय मेनिरे** (शिवभा० २०।३४) । यह चतुर्थी का वैकल्पिक विधान दिवादि मन् के प्रयोग में किया गया है अतः तनादि मन् के प्रयोग में चतुर्थी नहीं होगी— **न त्वा तृणं मन्वे ।**

गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि (२।३।१२) । गत्यर्थक धातुओं के कर्म में द्वितीया और चतुर्थी विभक्तियाँ होती हैं, यदि वह कर्म मार्ग न हो और यदि गति शरीर से हो—**अस्तमितोर्कः, सम्प्रति गृहान्यामः** (**सम्प्रति गृहेभ्यो यामः**) । **यान्ति वासाय** (**वासं**) **पक्षिणः । वर्षासु ग्रामं** (**ग्रामाय**) **गन्तारः पौराः सीदन्ति ।** परन्तु **इहैव स्थिता वयं पारेसमुद्रं** (=समुद्रस्य पारे) **लङ्कां मनसा यामः**। यहाँ गति मन से है अतः 'लङ्कां मनसा यामः' में लङ्का से चतुर्थी नहीं हो सकती। **हरिं मनसा जगाम द्रुपदात्मजा** (द्रौपदी ने भगवान् कृष्ण को स्मरण किया) । **अध्वानं** (मार्गं, पन्थानं) **याति** । यहाँ अध्वन् आदि से पक्ष में चतुर्थी नहीं होती। यहाँ आस्थित (=आश्रित) मार्ग से ही चतुर्थी का निषेध है। जहाँ उत्पथ पर चलता-चलता पथ पर आना चाहता है वहाँ पक्ष में पथिन् से चतुर्थी होगी ही—**उत्पथेन पथे गच्छति चेत् तदपि वरम् । यो यो हि समरे पार्थं प्रत्युद्याति विशां पते । स संख्ये विशिखैस्तीक्ष्णैः परलोकाय नीयते** (भारत भीष्म० ५५।३४) ॥ पार्थं प्रत्युद्याति—अर्जुन के सामने आता है, उसका सामना करता है। विशां पतिः=प्रजापतिः=राजा।

पञ्चमी

ध्रुवमपायेऽपादानम् (१।४।२४) । जो पदार्थ अपाय (=विश्लेष= जुदाई) के साध्य होने पर अवधि माना गया हो वह अपादान-संज्ञक होता है। **अपादाने पञ्चमी** (२।३।२८) अपादान कारक को कहने के लिए पञ्चमी विभक्ति आती है। **विद्याशालान्निष्क्रामन्ति विद्यार्थिनः । आवेशनान्निर्यान्ति कारिणः,** कारीगर कारखाने से निकलते हैं। **गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् । क्षीणे पुण्ये स्वर्गलोकाच्च्यवन्ते,** पुण्य के भोग द्वारा क्षीण हो जाने पर स्वर्गलोक से नीचे

आ जाते हैं। **भागिनं भागान्नुदन्ते** (ऐ० ब्रा० २।७), जिसका भाग है, उसे भाग से परे करते हैं। **उद्धर मां शुचः प्रभो।**

आचार्यात्पादमादत्ते पादं शिष्यः स्वमेधया ।
पादं सब्रह्मचारिभ्यः पादः कालेन पच्यते ॥

स भवांस्तारयत्वस्माद् दुःखामर्षमहार्णवात् (भारत ७।२९।५९)। यहां ण्यन्त तारि धातु का अर्थ 'उद्धरण' है । **गणान्नं गणिकान्नं च लोकेभ्यः परिकृन्तति** (मनु० ४।२१९)। **नदेभ्योपि ह्रदेभ्योपि पिबन्त्येव सदा पयः।** यहाँ गम्यमान उद्धरण की अवधि होने से नद तथा ह्रद से पञ्चमी हुई । **न हिमाद्रेर्न मुक्ताभ्यो न रम्भाभ्यो न चन्दनात्। न च चन्द्रमसः शैत्यं नैराश्याद् यदवाप्यते ॥** (यो० वा० ५।७४।४३)। रम्भा=कदली । **दिष्ट्या व्यसनमहार्णवादपाराद्-त्तीर्णोऽसि** । उत्तीर्णः=उद्गतः। बाहिर आया हुआ । **उदक्तमुदकं कूपात्**, कूएँ से जल निकाला गया। **पुनीहि मां पाप्मभ्यः प्रभो। धावतोऽश्वात्पतति।** यहाँ अवधि 'अश्व' चल है । सूत्र में 'ध्रुव' से अभिप्राय उस पदार्थ से है जो जुदाई में अवधि हो और जिस पर उस जुदाई का कोई प्रभाव न हो, अर्थात् जुदाई होने से पहले जो उसका स्वरूप था, जुदाई के पश्चात् भी उसी में (ध्रुव) स्थित रहे।[1] **परस्परस्मान्मेषावपसर्पतः**—यहाँ दोनों मेष अपनी-अपनी अपसर्पण क्रिया (परे हटना) में स्वतन्त्र होने से कर्ता भी हैं और उसी क्रिया के लिए अवधि भी। पर 'परस्पर' शब्द से पञ्चमी होती है। क्योंकि अवधि परस्पर शब्द से कही गई है।

जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम् । निन्दा, विराम (टालना, हटना, थमना) और प्रमाद (ध्यान न देना) अर्थ वाली धातुओं के प्रयोग में जिसकी निन्दा (जिससे घृणा) की जाय, जिससे टला जाय और जहाँ प्रमाद किया जाय उसकी अपादान संज्ञा होती है—**कल्याणबुद्धयोऽधर्माज्जुगुप्सन्ते न पापबुद्धयः। विरम विरमातो दुष्कर्मण आत्मानं चेत्परीप्ससि**, यदि अपनी रक्षा चाहते हो तो इस दुष्कर्म से टल जाओ, टल जाओ। **तदा निर्विद्यते सोऽर्थात्परिभग्नक्रमो नरः** (भा० शां० १०४।४०)। निर्वेद नैराश्य को कहते हैं। वहाँ भी बुद्धिकृत विराम है ही। **स्वाध्यायान्मा प्रमदः**, (तै० उ०), वेदपाठ में प्रमाद मत कर । इन उदाहरणों में सर्वत्र विश्लेष तो है पर वह संयोगपूर्वक विभाग-रूप नहीं, बुद्धिकृत है। अतः वार्तिक का आरम्भ हुआ। हाँ, यदि

---

१. अपाये यदुदासीनं चलं वा यदि वाऽचलम् ।
ध्रुवमेवातदावेशात्तदापादानमुच्यते ॥

केवल निन्दा हो और निवृत्ति (मन से परे हटना) कुछ भी न हो तो अपादान संज्ञा नहीं होगी—**किं त्वं मामजुगुप्सिष्ठाः** (भट्टि)। **जुगुप्सेरन्न चाप्येनम्** (याज्ञवल्क्य ३।२९६)। **स्वर्गस्त्रीपूर्वनिर्माणं निजमेवाजुगुप्सत** (कथा-सरित्सागर, द्वितीय वेताल)। **जनापवादमात्रेण न जुगुप्सेत चात्मनि** (काव्य-मीमांसा, कविरहस्य, दसवाँ अध्याय)। **यद्वा तद्वा भवतु। भार्गवस्तादृशानि तु वीररत्नानि न जात्या जुगुप्सते** (बालरामायण, द्वितीय अङ्क)।

भीत्रार्थानां भयहेतुः (१।४।२५)। डरना और रक्षा करना अर्थवाली धातुओं के प्रयोग में जिससे डर हो और जिससे रक्षा करनी हो उसे अपादान कहते हैं—**बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरेदिति,** (भा० आदि० १।६८) थोड़ा पढ़े हुए से वेद डरता है, ऐसा न हो यह मुझे मारे। **अल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्। गुरुभिरेव शिशवो धर्मलोपात् पालयितव्याः** (महावीर०)। **आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन** (तै०उ० आनन्दवल्ली) (ब्रह्म के आनन्दस्वरूप को जानता हुआ किसी से नहीं डरता)। **संमानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव** (मनु० २।१६२), ब्राह्मण संमान से नित्य ही ऐसे डरे जैसे विष से। **प्रायेणाकृतकृत्यत्वान्मृत्योरुद्विजते जनः,** प्रायः कर्तव्यपालन न कर सकने के कारण मनुष्य मृत्यु से डरता है। **पिशुनादहेरिव शङ्कते। अपराद्धः शिष्यः संत्रस्यति गुरोः। द्वितीयाद्वै भयं भवति।** यहाँ धातु 'भी' का प्रयोग न होने पर भी 'द्वितीय' शब्द से पञ्चमी हुई है। इसमें 'पञ्चमी भयेन' यह समास-सूत्र ज्ञापक है। यह पञ्चमी कारक विभक्ति नहीं।

पराजेरसोढः (१।४।२६)। परा-पूर्वक जि धातु के प्रयोग में जिसे सहन न किया जा सके उस पदार्थ की अपादान संज्ञा है—**अध्ययनात्पराजयते मन्दः** (मूर्ख पढ़ाई से हार जाता है, उकता जाता है=अध्ययनं न सहते)। **शत्रोः पराजयते**—शत्रु से हार जाता है। किन्तु **शत्रुं पराजयते**—शत्रुं प्रसहतेऽभिभवति शत्रु को हराता है। यहाँ शत्रु 'असोढ' नहीं, किन्तु सोढ=अभि-भूत—तिरस्कृत है सो अपादान संज्ञा न हुई। पराजि का अर्थ किसी वस्तु का हारना—खोना भी है। तब भी यह धातु सकर्मक है—**दुरोदरेण पराजयत द्रौपदीं धर्मराजः,** युधिष्ठिर ने जुए से द्रौपदी को हार दिया।

वारणार्थानामीप्सितः (१।४।२७)। निषेधार्थक (जिनका रोकना अर्थ है) धातुओं के प्रयोग में चाहे हुए पदार्थ की अपादान संज्ञा होती है। वाक्य में जो कर्म है उससे चाहे हुए पदार्थ की यहाँ अपादान संज्ञा विधान की है—**न वयं त्वां भाषान्तराध्ययनाद्वारयामः, केवलं प्रथमं संस्कृतमधीयीथा इतीच्छामः। यदीच्छसि वशे कर्तुं जगदेकेन कर्मणा। परापवादसस्येभ्यो गां चरन्तीं निवारय॥**

(यदि तू चाहता है कि मैं जगत् को एक ही कर्म से वश में कर लूं, तो परनिन्दा-रूप सस्य से चरती हुई वाणी-रूपी गौ को हटा दे । **अम्बा चापलान्निषेधति बालाम् ।**

अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति (१।४।२८) । व्यवधान (ओट) होने पर जिससे अपने-आप को छिपाना चाहता है उसकी अपादान संज्ञा होती है— **उपाध्यायादन्तर्धत्ते शिष्यः ।** अपराध आदि के कारण शिष्य चाहता है कि उपाध्याय मुझे न देखे, सो इस इच्छा से वह ओट में हो जाता है । **मातुर्निलीयते कृष्णः । ओतोस्तिरोभवति सत्वरमाखुः**, बिल्ली से चूहा झटपट छिप जाता है । परन्तु **चौरान्न दिदृक्षते**—चोरों को देखना नहीं चाहता, यहाँ सामने खड़े चोरों को आँख उठा कर नहीं देखता, क्योंकि उसे डर आता है । अन्तर्धि (ओट) के न होने से यहाँ अपादान संज्ञा नहीं हुई ।

आख्यातोपयोगे (१।४।२९) । नियमपूर्वक विद्या-ग्रहण के विषय में आख्याता=प्रवक्ता=जिससे शिष्य विद्या-ग्रहण करता है की अपादान संज्ञा है— **तीर्थान्मया विद्या गृहीता**, मैंने गुरु से विद्या ग्रहण की है । **अधीतं छन्दः, व्याकरणं संप्रति गुरोरधीये** । परन्तु **निबोध मे कथयतः कथां रामायणीम् । निशामय तदुत्पत्तिं विस्तराद् गदतो मम** (दुर्गासप्तशती) । **इदानीमहमागन्तुकानां श्रुत्वा पुरुषविशेषकौतूहलेनागतोऽस्मीमामुज्जयिनीम्** (चारुदत्त, अङ्क २) । **इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे** (यजु: ४०।१०), यह हमने चिन्तनशील विद्वानों से सुना है जिन्होंने हमें इसे खोलकर बताया । यहाँ नियमपूर्वक अध्ययन न होने से अस्मद्, आगन्तुक और धीर की अपादान संज्ञा न हुई । इसी प्रकार **नटस्य गाथां शृणोति** नट से कहानी सुनता है में नट की अपादान संज्ञा नहीं हुई । **देवदत्तः परीक्षां नोत्तीर्ण इति कस्याशृणोः**, देवदत्त परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हुआ है यह तुमने किससे सुना । यहाँ भी किम् से पञ्चमी नहीं हुई । ऐसा ही अन्यत्र जानो ।

जनिकर्तुः प्रकृतिः (१।४।३०) । जन्म क्रिया के कर्ता अर्थात् उत्पन्न होने वाले पदार्थ की प्रकृति (=उपादान कारण) की अपादान संज्ञा है— **ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते** (ये प्रजाएँ ब्रह्म से जन्मती हैं) । शाङ्करवेदान्त में ब्रह्म अभिन्ननिमित्तोपादान कारण माना जाता है । **गोमयाद् वृश्चिको जायते । शृङ्गाच्छरो जायते** (सींग से बाण उत्पन्न होता है) । **कामात्क्रोधोऽभिजायते । तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः** (तै० उ०) । उपपद विभक्ति से कारक विभक्ति बलवती होती है, अतः यहाँ आत्मन् आदि में अपादान में पञ्चमी समझनी चाहिये न कि अध्याहृत

अनन्तरादि के योग से उपपद-विभक्ति। **नाङ्कुरोत्पत्तिरबीजात्** (चरक सूत्र ११।३२)—जो बीज नहीं उससे अंकुर नहीं जन्मता।

भुवः प्रभवः (१।४।३१)। प्र-भू धातु के प्रयोग में जो प्रभव=स्रोत हो उसकी अपादान संज्ञा होती है—**हिमवतो गङ्गा प्रभवति**, हिमालय से गङ्गा निकलती है। **काश्मीरेभ्यो वितस्ता प्रभवति**, काश्मीर से वितस्ता—झेलम निकलती है। यहाँ गङ्गा और वितस्ता हिमालय और काश्मीर का परिणाम-रूप नहीं, अथवा ऐसा कहिए कि हिमालय और काश्मीर गङ्गा और वितस्ता की प्रकृति नहीं है। इसलिए पूर्वसूत्र से अपादान संज्ञा नहीं हो सकती थी। **धर्मादर्थः प्रभवति** (रा० ३।९।३०)। **सङ्गादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः** (विष्णु पु० ४।२।१२४)।

ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च। गम्यमान ल्यप्प्रत्ययान्त धातु के कर्म और अधिकरण में पञ्चमी होती है—**इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि** (शु०यजु: १।५)। मैं अभी झूठ को छोड़कर सत्य को अपनाता हूँ। **धर्मासनाद् विशति वासगृहं नरेन्द्रः** (उ०रा० १।७) महाराज धर्मासन छोड़ रनिवास में प्रवेश करते हैं। धर्मासनात्=धर्मासनं परित्यज्य। यहाँ परित्यज्य के कर्म में पञ्चमी हुई। **सोमात्सुताद् इन्द्रो अवृगीत वसिष्ठान्** (ऋ० ७।३३।२) इन्द्र ने अभिषुत (निकाले हुए) सोमरस की उपेक्षा कर वसिष्ठ गोत्रजों को वरा)। यहाँ 'उपेक्ष्य' के कर्म में पञ्चमी हुई है। **कामादर्थं वृणीते यः स वै पण्डित उच्यते** (भा०उ० ३७।२०), जो काम को छोड़कर अर्थ को अपनाता है वही पण्डित है। **यज्ञशरणात्सेनापतिः पुष्यमित्रो वैदिशस्थं पुत्रमायुष्मन्तमग्निमित्रं स्नेहात्परिष्वज्यानुदर्शयति** (मालविका)। यहाँ यज्ञशरणात्=यज्ञशरण उपविश्य=यज्ञशरण (यज्ञशाला) में बैठकर। यहाँ उपविश्य के अधिकरण में पञ्चमी हुई। **संशप्तकास्तु समयात्संग्रामादनिवर्तिनः** (अमरकोष) संशप्तक वे होते हैं जो प्रतिज्ञा करके=शपथ लेकर, युद्धभूमि से पीछे नहीं हटते। यहाँ समयात्—समयमास्थाय। यहाँ आस्थाय के कर्म 'समय' से पञ्चमी हुई। **परां प्रीतिमुपागम्य सङ्ग्रामादुपजग्मतुः** (हरिवंश २।१२५।२३)। सङ्ग्रामात्=सङ्ग्रामं परित्यज्य। **स्नुषा श्वशुराल्लज्जमाना विलीयमानैति** (ऐ० ब्रा० ३।२।११)। **स प्रापदप्राप्तपराभियोगं नरेन्द्रगुप्तं नगरं मुहूर्त्तात्** (कुमार० ७।५०)। मुहूर्त्तात्—मुहूर्त्तं प्राप्य। **रूपात् प्रायात्** (मीमांसा १।२।११)। **प्रायाच्चानृतवादिनी वाक्** (शा० भा० १।२।११)। प्रायात्—प्रायो बाहुल्यम्, तदाश्रित्य—बहुत करके। **अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्संगतं रहः** (शाकुन्तल)। विशेषात्==विशेषमाश्रित्य। **यत्सानोः सानुमारुहत्** (ऋ० १।१०।२)। सानोः==सानुं परित्यज्य। ऐसे

ही **ग्रामाद् ग्रामान्तरं गच्छति** इत्यादि में जानो। **सिंहासनादाज्ञापयति प्रजाः प्रजेशः**। सिंहासनात्—सिंहासन उपविश्य। **प्रासादात्प्रेक्षते** प्रासादमारुह्येत्यर्थः। **श्वशुराज्जिह्रेति स्नुषा**। श्वशुरं वीक्ष्येत्यर्थः, ससुर को देखकर। **दिवोपि वज्रायुधभूषणाया हृणीयते वीरवती न भूमिः** (भट्टि २।३८)। हृणीङ लज्जार्थ में कण्ड्वादि है। इन्द्र से विभूषित स्वर्ग को भी देख कर वीरों की भूमि लज्जाती नहीं। **अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः**, (पा० ८।३।४) अनुनासिक को छोड़कर, अर्थात् जिस पक्ष में अनुनासिक नहीं होता, तब अनुस्वार होता है। इन सब उदाहरणों में ल्यबन्त 'परित्यज्य' आदि का प्रयोग नहीं, किन्तु अर्थ की प्रतीति होने से ये सब गम्यमान हैं। जहाँ ल्यबन्त प्रयोग के बिना ही ल्यबन्तार्थ की प्रतीति होती है, वही इस का विषय है। **कुतो भवान्**। **पाटलिपुत्रात्**, आप कहाँ से आ रहे हैं, मैं पाटलिपुत्र से आ रहा हूँ इत्यादि में क्रिया गम्यमान होने पर भी तन्निमित्तक विभक्ति हुई है। इस विषय में भाष्य में यह वार्त्तिक पढ़ा है—गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तीनां निमित्तम्।

षष्ठी

कर्तृकर्मणोः कृति (२।३।६५)। कृत्प्रत्ययान्त शब्द के साथ योग (=अर्थद्वारक सम्बन्ध) होने पर कर्ता और कर्म में षष्ठी होती है इसे कृद्योग-लक्षणा षष्ठी कहते हैं—**सम्प्रति भवतः शायिकाऽस्ति**, अब आपके सोने की बारी है। **शोभनस्तवोपन्यासः**, तुम्हारा कथन सुन्दर है। **सृष्टिरियं ब्रह्मणः कृतिः**। यहाँ भवत्, युष्मद् और ब्रह्मन् कर्ता हैं। शायिका, उपन्यास और कृति कृत्प्रत्ययान्त हैं। जिस-जिस क्रिया को ये शायिका आदि कहते हैं, उस-उस के भवत् आदि कर्ता हैं। यही इनका आपस में योग है। **अथ कस्य विकारोऽयं येनायं पतितो** भुवि (भा० महाप्रस्था० २।२०), यह किसने बिगाड़ किया है। कस्य विकारः=किंकृतः=केन कृतः। **ब्रह्मणो जिज्ञासा**। **सूत्राणां कृतिः**। **न्यासस्य** रक्षणम्। **पुरां भेत्ता**। **वज्रस्य भर्ता**। **कामानामुपभोगः**। यहाँ ब्रह्मन्, सूत्र, न्यास, अप्, पुर्, वज्र तथा काम कर्म हैं। इनका जिज्ञासा आदि कृदन्तों के साथ योग है। अतः ब्रह्म आदि में षष्ठी हुई। कृत्प्रत्यय के योग में यह विधि कही गई है। तद्धित प्रत्यय के योग में तद्धित प्रत्यय से कर्म के अनुक्त होने से कर्म में द्वितीया ही होगी—**ये ऽत्र शास्त्रं श्रुतपूर्विणस्तैर्नात्र बह्वादेयमस्ति**, जो पहले ही शास्त्र, व्याकरणशास्त्र पढ़ चुके हैं, उन्हें यहाँ कुछ बहुत ग्राह्य नहीं। **कटं कृतपूर्वी देवदत्तः सम्प्रति कुथं वयति**, देवदत्त पहले चटाई बना चुका है, अब दरी बुन रहा है)। यहाँ श्रुतपूर्विन् और कृतपूर्विन् में इनि (इन्) तद्धित

है, जो कर्ता को कहता है। इससे कर्म अनुक्त रहता है। अतः कर्म में द्वितीया हुई।

नेताऽश्वस्य स्रुघ्नस्य, स्रुघ्नमिति वा, घोड़े को स्रुघ्न ले जाने वाला। द्विकर्मक धातु के प्रयोग में प्रधान कर्म में नित्य षष्ठी होती है, गौण कर्म में विकल्प से। क्रियाविशेषणों से यहाँ षष्ठी नहीं होती—**ऋजु गन्ता** (तृच्)। **साधु वक्ता। कुटिलं प्रवर्तकः।**

उभयप्राप्तौ कर्मणि (२।३।६६)। जब एक ही कृत् प्रत्ययान्त के योग में कर्ता और कर्म दोनों में षष्ठी प्राप्त होती हो तब कर्म में ही षष्ठी होती है। ऐसा नियम है। कर्ता के अनुक्त होने से उसमें तृतीया होती है—**आश्चर्यः पर्वतस्यारोहोऽन्धेन। चित्रमाङ्गिरसेन शिशुनाऽध्यापनं पितॄणाम्,** अङ्गिरस् गोत्रज बच्चे का अपने पिता आदि को पढ़ाना आश्चर्यजनक है। **शोभनः खल्वोदनस्य पाकः सूदेन। अद्भुतः समुद्रस्य बन्धो वानरैः।** एक ही कृत् के योग में ऐसा नियम किया है। भिन्न-भिन्न कृत् प्रत्ययों के योग में तो कर्ता और कर्म दोनों में षष्ठी निर्बाध होगी—**आश्चर्यमिदमोदनस्य नाम पाको ब्राह्मणानां च प्रादुर्भावः** (काशिका), आश्चर्य है, ज्यों ही भात पका त्यों ही ब्राह्मण आ निकले। यहाँ 'पाक' कृदन्त के साथ 'ओदन' कर्म का योग है और प्रादुर्भाव कृदन्त के साथ 'ब्राह्मण' कर्ता का योग है।

अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति (१।४।२८) इस सूत्र में 'आत्मनः' ऐसे कर्मकी नियम से प्रतीति होने से 'येन' यहाँ अनुक्त कर्ता में तृतीया हुई, षष्ठी न हुई।

अकाकारयोः स्त्रीप्रत्यययोः प्रयोगे नेति वक्तव्यम्। अक और अ (स्त्री-अधिकार-विहित) कृत्प्रत्ययों के योग में यह नियम नहीं होता—**भेदिका चन्द्रस्य तमसाम्,** चाँद का अन्धेरे को दूर करना। **शुश्रूषा नो व्याकरणस्य,** हमें व्याकरण पढ़ने की इच्छा है। यहाँ कर्ता और कर्म दोनों में षष्ठी हुई।

शेषे विभाषा। अक और अ प्रत्ययों को छोड़कर दूसरे स्त्र्यधिकारविहित कृत्प्रत्ययों के योग में उक्त नियम का विकल्प है—**विचित्रा हि सूत्राणां कृतिः पाणिनेः पाणिनिना वा।** कोई एक व्याख्याकार सभी (स्त्र्यधिकारविहित तथा अस्त्र्यधिकारविहित) कृत्प्रत्ययों के योग में नियम का विकल्प मानते हैं—**शब्दानामनुशासनमाचार्य्येणाचार्य्यस्य वा।** इस मत के अनुसार 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' सूत्र व्यर्थ हो जाता है।

क्तस्य च वर्तमाने (२।३।६७)। वर्तमान काल को कहने वाले क्त[1] (निष्ठा

---

१. मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च (३।२।१८८) से 'क्त' वर्तमान अर्थ में विधान किया गया है।

प्रत्यय) के योग में कर्ता में षष्ठी होती है—**इदं वो विदितम्। अर्च्चिता अस्य गुरवः**, इससे गुरु पूजित हैं। **अयं राज्ञां पूजित इति महानस्यादरो लोके। प्रेक्षापूर्वकारी मनुष्य इदं ममाभीष्टमिदं नेति पूर्वं विविङ्क्ते ततः प्रवर्तते**, सोच-विचार कर कार्य करने वाला मनुष्य पहले, यह मुझे इष्ट है यह नहीं है इसका विवेचन करता है तब प्रवृत्त होता है। 'क्त' प्रत्यय के योग में न लोकाव्यय० (३।२।६९) से षष्ठी का निषेध कहेंगे सो उसका यहाँ विषय-विशेष में प्रति-प्रसव (=दुबारा अभ्यनुज्ञा) कर दिया गया है।

अधिकरणवाचिनश्च (२।३।६८) आधारवाची[1] 'क्त' के योग में कर्ता और कर्म में षष्ठी होती है—**इदमेषामासितम्**, यह इनके बैठने का स्थान है। **इदमेषां शयितम्। इदमेषां भुक्तम्**, यह इनके भोजन करने का स्थान है। इन सब में कर्ता में षष्ठी हुई। **भुक्तमिदमोदनस्य**, भात खाने का यह स्थान है। यहाँ कर्म में षष्ठी हुई है।

न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् (२।३।६९)। कर्तृकर्मणोः- इस सूत्र से अतिप्रसक्त हुई षष्ठी का यहाँ निषेध किया जाता है। 'ल' के आदेश शतृ, शानच्, कानच्, क्वसु, कि, किन्[2], उ, उक, अव्यय, निष्ठाप्रत्यय (=क्त, क्तवतु), खल्प्रत्यय, युच् (खल् के अर्थ वाला), शानन्, चानश् और तृन् प्रत्ययों के योग में षष्ठी नहीं होती। शतृ —**ग्रामं गच्छंस्तृणं स्पृशति**। शानच्—**अहो अनन्यमनस्कता स्वाध्यायमधीयानस्यच्छात्रस्य**। क्वसु—**इमे वेदाञ्शुश्रुवांसो ब्राह्मणाः वन्द्याः**। उ—**ओदनं बुभुक्षुरुपसर्पति मातरं बालः। तत्त्वं जिज्ञासुरुपसीदति गुरुम्**, तत्त्व को जानना चाहता हुआ गुरु के पास जाता है।

इष्णुचोऽपि प्रतिषेधो वक्तव्यः। **सम्प्रति कुमार्य इव कुमारा अपि तनूमलंकरिष्णवो भवन्ति**, आजकल लड़कों को लड़कियों की तरह शरीर सँवारने की आदत है। **वर्णः स्वर्णमपाकरिष्णुरलिनीजिष्णुः कचानां चयः**। (शृङ्गारशतक ५), रंग सोने को मात करने वाला है और केशपाश भ्रमरी को जीत रहा है। उक—**आगामुकं वाराणसीं रक्ष आहुः**, कहते हैं बनारस में राक्षस आया करता है। **परहितं घातुकः पिशुन इति किमत्र चित्रम्**, दूसरे के हित को नष्ट करना दुष्ट का स्वभाव है इसमें क्या आश्चर्य है।

---

१. अधिकरण में 'क्त' क्तोधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः (३।४।७६) से विधान किया गया है।

२. कि, किन्, कानच् के छन्दोमात्र विषय होने से उदाहरण नहीं दिए गए हैं।

उकप्रतिषेधे कमेर्भाषायामप्रतिषेधः। इस वार्तिक से लोक में कम् धातु से जब 'उक' हो तो षष्ठी का निषेध नहीं होता—**दास्याः कामुकः**। अव्यय—**तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्। इह त्वमेव भूतार्थं प्रजानासि व्याहर्तुम्**। खल्— **ईषत्करः प्रपञ्चो हरिणा**। युच् (खलर्थ)—**दुर्ज्ञानोऽयमर्थस्त्वया**। निष्ठा (क्त, क्तवतु) —**बहूपकृताः स्मस्त्वया। बहुपकृतवानसि नः सुहृदः**, हम मित्रों पर आपने बड़ा उपकार किया है। शानन्— **सोमं पवमानो राजते राजन्यः। कवचं बिभ्राणो राजकुमारः शोभतेतराम्**, कवच पहनने योग्य वय को प्राप्त हुआ राजकुमार अतिशय शोभा पा रहा है। शतृ[1]—**अधीयन्धातुपारायणं शोभते ब्राह्मणवटुः**, ब्राह्मण ब्रह्मचारी धातुपाठ का आदि से अन्त तक अनायास पाठ करता हुआ शोभा पाता है। तृन्—**निचेतारो हि मरुतो गृणन्तं प्रणेतारो यजमानस्य मन्म** (ऋ० ७।५७।२), मरुत् देवता स्तोता को बढ़ाते हैं और यजमान के स्तोत्र की रचना करते हैं। **नित्यं त्राता च हन्ता च धर्माधर्माश्रितान् नरान्** (भा०कर्ण०)। **अध्येतारं परं** (=ब्रह्म) **वेदान् प्रयोक्तारं महाध्वरे। रक्षितारं शुभाँल्लोकाँल्लेभिरे तं जनाधिपम्** (भा० आदिपर्व० २२२।५)॥ **प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते**॥ (गीता ३।२७) यहाँ क्रियमाणानि कर्माणि कर्ता—ऐसा अन्वय है। प्रकृति के गुणों से किये जा रहे कर्मों को करने वाला। **विनेतारं सेनां सततमपहन्तारमसुरान्। अमुं वीरं वव्रे बहुषु समनीकेषु मघवा** (महा०च० ४।१८)॥ **नित्यं बन्धून् उद्भावयिता शत्रूंश्च न्यग्भावयिता भव**, नित्य ही बन्धुओं को उन्नत करने के स्वभाव वाला और शत्रुओं को नीचा दिखाने के स्वभाव वाला हो। **न जातु वदिता जनापवादाँल्लोकस्य प्रियो भवति**, लोगों की निन्दा करने वाला कभी उनका प्यारा नहीं होता।

द्विषः शतुर्वा। द्विष् के शत्रन्त के कर्म में षष्ठी विकल्प से होती है—**परं द्विषन् परस्य वा द्विषन्ननात्मनीनमाचरति मन्दः**, दूसरे के साथ द्वेष करता हुआ मूर्ख अपने हित के विरुद्ध आचरण करता है।

अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः (२।३।७०)। भविष्यत्काल को कहने वाले अक प्रत्यय और भविष्यत् और आधमर्ण्य (ऋणी होना) को कहने वाले इनि

---

१. सूत्र में तृन् प्रत्याहार लिया जाता है, प्रत्यय नहीं। लटः शतृ० इस सूत्र के तृ से लेकर तृन् (३।२।१३५) सूत्र के नकार तक यह प्रत्याहार लिया जाता है। इस प्रत्याहार में शानन्, चानश् और शतृ ('अनायासक्रिया करने वाला इस अर्थ में') समाविष्ट हैं।

इनि, णिनि) के योग में कर्म में षष्ठी नहीं होती—**केदारांल्लावका यान्त्यहर्मुखे कृषाणाः**, सबेरे खेतों को काटने के लिए किसान जा रहे हैं। **व्याकरणमध्यायका गुरुचरणानुपसीदामः**, व्याकरण पढ़ने के लिए हम पूज्य गुरुजी की सेवा में जाते हैं। **आगमिष्यति वैदेहीं मां चापि प्रेक्षको जनः** (रा० २।५४।२५), वैदेही=जानकी और मुझे देखने के लिये लोग आयेंगे।

कस्य चित्त्वथ कालस्य साङ्काश्यादागतः पुरात्।
सुधन्वा वीर्यवान् राजा मिथिलामवरोधकः॥ (रा० १।७१।१६)

मिथिलामवरोधकः =मिथिलामवरोत्स्यामीति, मैं मिथिला का अवरोध (घेरा) करूंगा इस अभिप्राय से आया। इनि[1]—**चिरस्य ग्रामं गमिनो वयमिति शङ्कामहे विरला एव तत्र नोऽभिज्ञास्यन्ति**, हम बहुत समय बाद गाँव जा रहे हैं, डर है हमें वहाँ थोड़े लोग पहचानेंगे। **एवा मथ्नामि ते मनो यथा मां कामिन्यसः** (अथर्व० २।३०।१)। यहाँ 'कामिनी' में भविष्यति गम्यादयः से भविष्यत् अर्थ में 'इनि' हुआ है। 'असः' यह वेदमात्र गोचर लेट् लकार है। णिनि—**श्रेष्ठिने शतं दायिनः स्मः, न च शक्ता विगणयितुम्**, हम ने सेठजी का सौ रुपया देना है, पर हम चुका नहीं सकते। यदि आधमर्ण्य अर्थ न हो तो कर्म में षष्ठी निर्बाध होगी—**नास्य स्वश्छन्दः कटकरणे अवश्यंकार्ययं** (=ंकारी अयं) **कटस्य**।

कृत्यानां कर्तरि वा (२।३।७१)। तव्य अनीयर् आदि कृत्य प्रत्ययों (जो कृत् ही हैं) के योग में कर्ता में षष्ठी विकल्प से होती है—**गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणाम्**। यहाँ पक्ष में 'ते' के स्थान पर अनुक्त कर्ता में तृतीया भी निर्दुष्ट होगी। **अवचेयानि मया मम वा कुसुमानि**। **इदं मया मम वा कर्तव्यम्**। **किं नु खलु इमं जनं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता** (शाकुन्तल), क्या बात है, इस पुरुष को देख कर मुझे तपोवन विरोधी विकार प्राप्त हो रहा है। यहाँ 'विकार' गमन (प्राप्ति) क्रिया का कर्ता है इसमें गमनीया (=गन्तव्या, प्राप्तव्या) कृत्यप्रत्ययान्त के योग से षष्ठी हुई है। पक्ष में तृतीया भी निर्दोष होगी।

अजेयः सर्वलोकेषु देवदानवमानवैः।
कार्त्तिकेयसहायस्य अपि शूलभृतः स्वयम्॥ (हरिवंश २।५०।४९)

---

१. गमेरिनिः इस औणादिक सूत्र से यहाँ इनि (=इन्) प्रत्यय भविष्यत् अर्थ में प्रयुक्त होता है। आचार्य भी—भविष्यति गम्यादयः (३।३) में औणादिक इनिप्रत्ययान्त गमिन् गामिन् आदि भविष्यत् काल में साधु होते हैं, ऐसा कहते हैं।

यहाँ एक ही पद्य में पूर्वार्ध में तृतीया और उत्तरार्ध में षष्ठी दोनों प्रकार के व्यवहार की समकक्षता की ओर संकेत करती है ।

उभयप्राप्तौ कृत्ये षष्ठ्याः प्रतिषेधो वक्तव्यः । कृत्य प्रत्यय के योग से कर्त्ता और कर्म दोनों में षष्ठी नहीं होती—**नेतव्या ग्राममजा देवदत्तेन ।**

दिवस्तदर्थस्य (२।३।५९)। दिव् (व्यवहार करना, जुए में लगाना) के कर्म कारक में षष्ठी होती है द्वितीया नहीं—**शतस्य दीव्यति वणिक्**, बनिया सौ रुपया का व्यापार करता है। **सहस्रस्य दीव्यति धूर्त्तः** जुआरी सौ रुपया लगाता है।

विभाषोपसर्गे (२।३।५९)। सोपसर्गक दिव् के कर्म में षष्ठी भी होती है और द्वितीया भी—**शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति वणिक् । सहस्रस्य सहस्रं वा प्रतिदीव्यति धूर्त्तः । ततस्तयोर्युद्धमतीव दारुणं प्रदीव्यतोः प्राणदुरोदरं द्वयोः** (भारत ८।४२१०), तब उन दोनों का प्राणों की बाजी लगाकर अति भयानक युद्ध हुआ ।

सप्तमी

आधारोऽधिकरणम् (१।४।४५)। कर्ता अथवा कर्म के द्वारा[1] उनमें होने वाली क्रिया के आधार को अधिकरण कहते हैं। अधिकरण तीन प्रकार का है—औपश्लेषिक, वैषयिक, अभिव्यापक। उपश्लेष संयोग को कहते हैं। सामीप्य को उपश्लेष-रूप ही माना जाता है। निमित्त भी क्रिया का विषय होने से विषयान्तर्गत आधार ही है। अभिव्याप्तिरूप क्रिया का आधार होने से अधिकरण अभिव्यापक कहलाता है

सप्तम्यधिकरणे च (२।३।३६)। अधिकरण में (और दूर, समीपवाची शब्दों से) सप्तमी विभक्ति होती है—(१) **कट आस्ते देवदत्तः**। (२) **स्थाल्यां पचति षष्टिकान्सूदः**, रसोइया सट्ठी के चावलों को बटलोई में पकाता है। (३) **मोदकेष्वभिलाषोऽस्य माणवकस्य।** कभी-कभी गत्यर्थक सकर्मक धातुओं के गति अर्थ को उपसर्जन (गौण) तथा प्राप्ति को प्रधान मान कर आधार की विवक्षा में सप्तमी देखी जाती है—**यदि स्वयं वज्रधरोऽस्य गोप्ता तथापि याता पितृराजवेश्मनि** (भारत कर्ण० ९०।४७)। (४) **भर्तृ-दाराभिलाषित्वादस्यां मे महती स्वता** (स्वप्ननाटक)। (५) **अनल्पाऽस्य**

---

१. क्रिया का आश्रय कर्ता और कर्म होते हैं। यदि सीधे ही क्रिया के आधार को अधिकरण कहा जाय तो कर्तृ–संज्ञा और कर्मसंज्ञा (अष्टाध्यायी सूत्रपाठ) में परे होने से अधिकरण संज्ञा को बांध लेगी। अतः 'कर्ता और कर्म द्वारा' ऐसा कहा।

रुचिरस्ति व्याकरणे । मुक्तावुत्तिष्ठते । [मुक्ति के विषय में (के निमित्त) यत्न करता है । **युद्धे संनह्यते** (६) **अस्ति तिलेषु तैलम् अस्ति च दधनि सर्पिर्नचान्तरेण यत्नं तल्लभ्यते,** तिलों में तेल है और दही में घी है पर वह बिना यत्न के नहीं प्राप्त होता ।[1] **गुरौ वसति** (गुरु की अधीनता में रहता है) यह वैषयिक अधिकरण है । **एताभ्यां रंस्यसे सार्धं वस वै मयि बाहुक** (भारत वन० ६७।७॥), . .. हे बाहुक, मेरे पास रहो। **नाऽब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं चरेत्** (मनु० २।२४२॥) यहाँ वैषयिक अधिकरण है । सामीप्य-रूप उपश्लेष के होने से औपश्लेषिक अधिकरण है । **यद् दारुणि बध्यसे यच्च रज्ज्वां यद् भूम्यां यच्च वाचा ।** (अथर्व० ६।१२१।२) । यहां दारु, रज्जु, भूमि में अधिकरणत्व की विवक्षा करके सप्तमी का प्रयोग ही व्यवहारानुकूल माना जाता है । अतः **शिबके** (कीलके) **बध्नाति** (कील से बांधता है) ऐसा कहने की रीति है, शिबकेन (कीलकेन) नहीं कह सकते ।

औपश्लेषिक अधिकरण में सप्तमी के कुछ और उदाहरण—**पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया** (मनु० २।६७) । गुरौ वासः=गुरु के समीप रहना, अन्तेवासी होना । **ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत** (ऐ० ब्रा० ८।१) । सरस्वत्याम्=सरस्वत्याः समीपे, सरस्वती के तट पर । **धनुः श्रेष्ठं यदेतत्त्वयि तिष्ठति** (रा० १।६६।५), यह जो उत्तम धनुष तेरे पास है । **ब्रह्मणि खलु वै क्षत्रं प्रतिष्ठितम् । क्षत्रे ब्रह्म** (ऐ० ब्रा० ८।२), ब्राह्मण जाति पर क्षत्रिय जाति आधृत है और क्षत्रिय जाति पर ब्राह्मण जाति । **चौराः प्रमत्ते जीवन्ति व्याधितेषु चिकित्सकाः,** प्रमत्त=प्रमादी लोग चोरों की जीविका का आधार हैं और रोगी वैद्यों की जीविका का (भा० उद्योग० ३३।८४) । **यस्याः प्रसादे जीवामि** (रा० २।१२।४१), जिसकी प्रसन्नता मेरे जीवन का आधार है । **एतान्यपि चाणक्यप्रयुक्तेन वणिग्जनेनास्मासु विक्रीतानि** (मुद्रा० ५, पृ० २४५)) । **शरीरं विक्रीय क्षणिकधनलोभाद् धनवति** (मुद्रा० ५।४) । धनवति=धनवतः सकाशे । धनवान् के पास बेचकर । मासे देयमृणम्=**मासदेयम्**=मास के अन्त में देने योग्य ऋण । **किमसाध्यं भवेदस्य येनासि प्रेषितो मयि** (हरि० २।५३।२३) । मयि—मत्सकाशे ।

---

१. यहाँ पहले दो उदाहरणों में औपश्लेषिक अधिकरण है, तीसरे, चौथे और पाँचवें उदाहरणों में वैषयिक और छठे में अभिव्यापक अधिकरण है । **तिलेषु तैलम्** इस वचन का आधार **तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतस्वरणीषु चाग्निः** :—यह श्वेताश्वतर उ० का वचन है ।

न कदाचिद् द्विजे तस्माद् विद्वानवगुरेदपि (मनु० ४।१६९)। द्विजे नाऽव-गुरेत्—ब्राह्मण पर लाठी न उठाये।

कहीं-कहीं कारकान्तर के प्रसङ्ग में अधिकरण की विवक्षा करके सप्तमी देखी जाती है। ऐसा शिष्ट व्यवहार है—**तलाभ्यामथ रामस्तु वक्त्रे हत्वा स राक्षसम्** (हरि० १६०२६)। हनन क्रिया का कर्म होने से वक्त्र में द्वितीया प्राप्त थी। ऐसे ही **वज्रेणास्य मुखे जहि** (अथर्व० ६।६।२), वज्र से इसके मुंह पर चोट दो। **प्राहरन्मुष्टिना मूर्ध्नि।** (हरि० २।३०।४४)। **तां कीचकः प्रधावन्तीं केशपाशे परामृशत्** (भा० ४। ४६१), कीचक ने उसे दौड़ती हुई को बालों से पकड़ा। यहाँ परामर्श (स्पर्श, ग्रहण) क्रिया का आधार समझ कर सप्तमी प्रयुक्त हुई। **दद्यात्कृष्णाजिनं पृष्ठे गां पुच्छे करिणं करे। केसरेषु तथैवाश्वं दासीं शिरसि दापयेत्॥** यहाँ पृष्ठे आदि में गम्यमान गृहीत्वा अथवा स्पृष्ट्वा का आधार समझ कर सप्तमी हुई। **तस्मिन् वाच्याः प्रिया वाचो भवता बान्धवैः सह** (भा०उद्योग० ८८।११), यहाँ कर्म अथवा सम्प्रदान की अविवक्षा करके अधिकरण विवक्षा में 'तस्मिन्' में सप्तमी हुई। **न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ** (क०उ० २।२।५)। यहाँ श्रिञ् धातु के प्रयोग में कर्म की अविवक्षा करके अधिकरण विवक्षा में 'यस्मिन्' यहाँ सप्तमी हुई। **न ह्यस्य विद्यते कर्म किञ्चनामौञ्जिबन्धनात्। वृत्या शूद्रसमो ज्ञेयो यावद् वेदे न जायते** (वसिष्ठ धर्म० २।१२)। लोक में जनन-क्रिया के प्रति माता की अधिकरणता प्रसिद्ध है। उसी न्याय से वेद को मातृ रूप देने से उस में सप्तमी हुई। आथर्वणिक लोग वेद को मातृरूप देते हैं—**स्तुता मया वरदा वेदमाता** (शौ० अथर्व० १९।७१।१)। **ते देवेष्व-पृच्छन्त ते देवा अब्रुवन्नेष वै पिता यो मन्त्रकृदिति** (ता० ब्रा० १३।३।२४)। अपृच्छन्त अपृच्छन् के स्थान में आर्ष प्रयोग है। देवेषु यह देवान् अथवा देवेभ्यः के स्थान में अधिकरणविवक्षया प्रयोग है। **एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत्। पृथिव्यां नास्ति तद् द्रव्यं यद् दत्त्वा ह्यनृणी भवेत्॥** (अग्निसंहिता श्लोक ९) शिष्ये—शिष्यसन्निधौ, शिष्य के संमुख, समीप।

वैषयिक अधिकरण के कुछ और उदाहरण—

वध्यास्ते सर्वतः पापा ये युष्मास्वपराधिनः (भा० कर्ण० ३४।९)। **कस्मिंश्चि-त्पूजार्हेऽपराद्धा शकुन्तला। पतितः पिता त्याज्यो माता तु पुत्रे न पतति** (वसिष्ठ ध० १२।४७)। पुत्र के लिये माता कभी भी पतित नहीं होती। **त्वमेवं-सौन्दर्या स च रुचिरतायां परिचितः** (मालती०)। **रामं राज्ये-**

ऽभिषेक्ष्यति–राज्यनिमित्तं रामस्याभिषेकं करिष्यति (रा० २।६।२१)। **अपि भवानुत्कण्ठते मदयन्तिकायाम्** (विषये) (मालती ४, पृ० १०६)। **अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः** (मनु० २।२१३)। **साहित्ये** (=साहाय्यनिमित्तम्) **नरदेवानां प्रेषितो मागधेन वै** (हरि० २।५३।१९)। **अनृतं च समुत्कर्षे** (जात्युत्कर्षनिमित्तम्) (मनु० ११।५५)। **भगवांस्त्वेव मे कामे ब्रूयात्** (कामपूर्त्यर्थम्) (छां० ४।९।२)। **एवं विक्रोशतां तेषां द्विजातीनां निवर्तने** (=निवर्तनाय) (रा० २।४५।३२॥)। **मा न एकस्मिन्नागसि मा द्वयोरुत त्रिषु। वधीर्मा शूर भूरिषु** (ऋ०८।४५।३४)॥ हे शूर इन्द्र, हमें एक अपराध के निमित्त अथवा दो तीन अथवा बहुत अपराधों के निमित्त मत मार। **दक्ष यज्ञवधे** (दक्षयज्ञध्वंसाय) **पूर्वं धनुरायम्य वीर्यवान्** (रा० १।६६।९)। **सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मः।** (बृ० उ० २।१।१) इस वाणी के निमित्त एक हजार गौएँ देंगे। **वाते पित्ते श्लेष्म शान्तौ** (श्लेष्म शान्त्यर्थम्) **च पथ्यं तैलं सर्पिर्माक्षिकं च क्रमेण** (अष्टाङ्गहृदय उ० ४०।८६)। **कर्म चेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी** (मनु० १।६६), कृष्णपक्ष कर्मनिष्पत्ति के लिये पितरों का एक दिन है, शुक्ल पक्ष उनकी निद्रा के लिये रात्रि है। **क्रये प्रसारितं क्रय्यम्** (अमर)। क्रये—क्रयार्थम्, लोकाः क्रीणीयुरिति। खरीदने के निमित्त। ताकि लोग खरीद सकें।

कारकान्तर के प्रसङ्ग में वैषयिक अधिकरण की विवक्षा करके शिष्ट व्यवहार में सप्तमी देखी जाती है—**दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ** (साङ्ख्यकारिका)। यहाँ कर्म की अविवक्षा है और अधिकरण की विवक्षा। **मातरि शुश्रूषितव्यं पितरि शुश्रूषितव्यम्** (भाष्य)। **योऽस्मासु सर्वेषु शुश्रूषुरनहंकृतः** (भा० महाप्रास्था० २।९)। **तस्यां शुश्रूषा नित्या पतितायामपि** (आपस्तम्ब)। **श्रोत्रियेषूपकुर्वंश्च** (मनु० ८।३९४)। कर्म की विवक्षा में द्वितीया भी साध्वी होगी। कारकत्व की अविवक्षा में शैषिकी षष्ठी भी निर्दोष होगी। **ते देवा अब्रुवन्नियं वा इन्द्रस्य प्रिया जाया वावाता प्रासहा नाम, अस्यामेवेच्छामहा** इति (ऐ० ब्रा० ३।२।११) यहाँ इमाम् इच्छामः के स्थान में अस्यामिच्छामहे ऐसा वैषयिक अधिकरण की विवक्षा करके प्रयोग हुआ है। इच्छामहे में आत्मनेपद आर्ष है।

'क्ङिति च' (१।१।५) इत्यादि सूत्रों में जो निमित्त सप्तमी है वह भी निमित्त रूप विषय में होने से वैषयिकी सप्तमी ही है।

इको यणचि (६।१।७७) इत्यादि सूत्रों में जो 'अचि' इत्यादि में परसप्तमी है वह अव्यवहित परत्व-रूप उपश्लेष के होने से औपश्लेषिक अधिकरण में सप्तमी समझनी चाहिये।

सप्तमीविधाने क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानम्। जब क्त प्रत्ययान्त से तद्धित इनि (इन्) विधान किया गया हो तब उस इन्नन्त के कर्म में सप्तमी होती है—**आम्नाती**[२] **छन्दसि**, वेद का जिसने अभ्यास किया है। **अधीती व्याकरणे। कलिती कल्पे। गृहीती ज्योतिषि**, ज्योतिष को जिसने ग्रहण किया है। **परिगणिती याज्ञिके।**

द्वितीयो वर्गः—**उपपदविभक्तयः।**

इस शास्त्र में किन्हीं दूसरे उपोच्चारित (पास में उच्चारण किये हुए) अर्थ द्वारा सम्बद्ध पदों (उपपदों) के कारण जो विभक्तियाँ विधान की गई हैं, उन्हें उपपद विभक्तियाँ कहते हैं, जहाँ इस पद के योग में यह विभक्ति हुई है, ऐसा व्यवहार होता है। इस प्रकरण में प्रायः उपपद विभक्तियों का निरूपण किया है, पर कुछेक ऐसी भी शास्त्र-विहित विभक्तियाँ दी गई हैं, जिन का विधान उपपद के कारण नहीं हुआ है, किन्तु अर्थ विशेष के अभिधान के लिये।

सर्वा उपपदविभक्तयः षष्ठ्यपवादिकाः—सभी उपपद विभक्तियाँ षष्ठी का अपवाद हैं ऐसा समझना चाहिये।

प्रथमा

प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा (२।३।४६)।

प्रातिपदिकार्थमात्र में, प्रातिपदिकार्थ के अतिरिक्त लिङ्गमात्र की अधिकता में, प्रातिपदिकार्थ के अतिरिक्त परिमाणमात्र की अधिकता में, तथा प्रातिपदिकार्थ के अतिरिक्त वचनमात्र की अधिकता में प्रथमा विभक्ति आती है। प्रतिपदं (पदे पदे) भवं प्रातिपदिकम्। प्रत्येक पद (सुबन्त पद) में प्रकृति-भूत अंश विद्यमान होता है वह प्रातिपदिक कहलाता है। प्रातिपदिक के उच्चारण करने पर जिस अर्थ की नियम से प्रतीति होती है वह जातिरूप वा व्यक्तिरूप अर्थ प्रातिपदिक का अर्थ होता है। अव्यय जो अलिङ्ग हैं, और जो नियतलिङ्ग शब्द हैं, वे प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा के उदाहरण हैं, जैसे **उच्चैः। नीचैः** (अव्यय)। **कृष्णः** (पुं०)। **श्रीः** (स्त्री०)। **ज्ञानम्** (नपुं०)। अव्ययों से परे आये हुए सुप् का लुक् हो जाता है। विभक्ति लाने का लाभ यह है कि उच्चैस्, नीचैस् आदि की प्रत्यय-लक्षण से पदसंज्ञा हो जाती है, जिससे स् को रु होकर विसर्ग हो जाता है। किं च। पद-संज्ञा होने से इनके पीछे आने वाले तव, मम

---

२. आम्नाती आदि का विग्रह ऐसे है—आम्नातम् अनेनेति इत्यादि।

आदि पदों के स्थान में ते, मे आदि आदेश भी हो सकते हैं। कृष्ण आदि में लिङ्ग का नियम होने से लिङ्ग विशेष का प्रातिपदिकार्थ में ही अन्तर्भाव हो जाता है, अर्थात् प्रातिपदिकार्थ के साथ ही अपृथग्रूप से लिङ्ग का भी बोध हो जाता है। जो अनियत-लिङ्ग हैं उन प्रातिपदिकों से लिङ्ग-विशेष का बोध नहीं होता अतः उनसे लिङ्गमात्राधिक्य में प्रथमा विभक्ति आती है--**तटः**। **तटी**। **तटम्**। परिमाणमात्राधिक्य में अर्थात् प्रातिपदिकार्थ- व्यतिरिक्त परिमाण-सामान्य को कहने के लिये प्रथमा विभक्ति आती है--**द्रोणो व्रीहिः**, द्रोणपरि-च्छिन्न व्रीहि-राशि। 'द्रोणः' का अर्थ तो केवल द्रोण रूप परिमाण है। यह परिच्छेद्य-परिच्छेदक भाव-सम्बन्ध से 'व्रीहिः' का विशेषण बन जाता है। वचनमात्राधिक्य में प्रथमा की प्राप्ति ही न थी, कारण कि वचन (संख्या) शब्द अपने स्वरूप से ही एकत्व, द्वित्व आदि को कहते हैं, प्रत्यय पहले ही उक्तार्थ है, उसका अर्थ कहा जा चुका है, उसे आकर वहाँ और क्या कहना है, ऐसा होने पर भी पदत्व-लाभ के लिये विभक्ति लगाना आवश्यक है। **एकः**। **द्वौ**। **बहवः**।

सम्बोधने च (२।३।४७)। सम्बोधन (अभिमुख करना) अर्थ में प्रथमा आती है--**हे देवदत्त**। **हे यज्ञदत्त**।। यहाँ ह्रस्वान्त से परे होने से सु (स्) का लोप हो जाता है। सम्बोधन अर्थ में आयी हुई प्रथमा विभक्ति को 'आमन्त्रित' कहते हैं।

देवदत्तः पचति। यज्ञदत्तेन पच्यत ओदनः। इत्यादि स्थलों में देवदत्तः, ओदनः आदि में जो तिङसमानाधिकरणे प्रथमा कही जाती है वह वस्तुतः प्राति-पदिकार्थ में ही प्रथमा समझनी चाहिये। देवदत्त कर्ता है, पचति का तिप् कर्ता को कहता है। ओदन कर्म है, पच्यते में 'त' कर्म को कहता है। यही यहाँ तिङ के साथ देवदत्त तथा ओदन की समानाधिकरणता है। जब तिङ प्रत्यय ने कर्ता तथा कर्म को कह दिया तो देवदत्त तथा ओदन से प्रथमा शुद्ध प्राति-पदिकार्थ में रही, यह निःसन्देह सिद्ध होता है।

द्वितीया

उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु।
द्वितीयाऽऽम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते॥

तसिप्रत्ययान्त उभयतः, सर्वतः के योग में, धिक्, उपरि-उपरि, अधि-अधि, अधोऽधः और अन्यत्र भी (यथा यावत्, प्रतिभाति आदि के योग में) द्वितीया आती है--**उभयतो राजमार्गं फलिनो द्रुमाः**, राजमार्ग के दोनों ओर

फल वाले वृक्ष हैं। **सर्वतः सम्पदः सतः**, सत्-पुरुषों के चारों ओर सम्पत्तियाँ होती हैं। **धिक् त्वां जाल्म !** हे असमीक्ष्यकारिन् तुझे धिक्कार हो। **धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्** (रा० १।५६।२३)। **उपर्युपरि ते शिरो भ्रमति भ्रमरः**, तेरे सिर से जरा ऊपर भौंरा मँडरा रहा है। **अध्यधि नासाग्रं ते पिटका संवृत्ता,** तेरी नासिका के अग्रभाग के कुछ ऊपर फुंसी हो गई है। **अधोऽधोऽधरं तिलकालकः**, निचले होंठ के ठीक नीचे काला तिल है। **प्रत्यहं प्रातर् इरावतीं यावद् विहरामि**, मैं प्रतिदिन प्रातः रावी नदी तक सैर करता हूँ। **न साम्परायः** (=सम्परायः) **प्रतिभाति बालम्**, अज्ञानी को परलोक नहीं सूझता। **बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्**, भूखे को कुछ नहीं सूझता। **त्रितं कूपेऽवहितमेतत् सूक्तं प्रतिबभौ**, (निरुक्त २।४।६), कूंएँ में गिरे हुए त्रित (ऋषि) को यह (ऋग्वेद का) सूक्त प्रतिभात हुआ।

अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि। अभितः (दोनों ओर, चारों ओर, समीप[1] में), परितः, समया (समीप), निकषा (समीप), हा, तथा प्रति के योग में द्वितीया आती है। अभितः आदि सभी अव्यय हैं। **राजानमभितः स्थितः परिजनः**, राजा के चारों ओर नौकर चाकर खड़े हैं। **तस्यास्तु खल्विमानि लिङ्गानि प्रजननकालमभितो भवन्ति** (चरक, शरीरस्थान ८।३६), उसके प्रसूति काल के निकट ये चिह्न प्रकट होते हैं। **श्मशानमभितो गत्वा आससाद कुरूनथ** (भा० विराट० ३८।५), श्मशान के समीप जाकर इत्यादि। **दुर्गं परितः परिखा**, किले के चारों ओर खाई है। **परितः प्रपतन्ति दुष्कृतो विपदः**, दुर्जनों के चारों ओर विपत्तियाँ आती हैं। यहाँ 'दुष्कृतः' दुष्कृत् (क्विबन्त) का द्वितीया बहु० है। **समया सूर्यास्तमयं नभोऽभ्रितमभूत्**, सूर्यास्त के लगभग आकाश में बादल छा गये। **निकषा समुद्रं स्थिता वसतयः समशीतोष्णा भवन्ति**, समुद्र के निकट की बस्तियाँ समानरूप से शीतोष्ण होती हैं। **हा वेद निन्दकम्**, वेद का निन्दक शोचनीय है। **मां प्रति नाऽसौ वीरः**, वह मेरे लिये कोई वीर नहीं। **न हि त्वा कश्चन प्रति** (अथर्व २०।९३।२), तेरा प्रतिद्वन्द्वी कोई नहीं। **ततोऽभ्यहन् मृगांस्तत्र सुबहूनाश्रमं प्रति** (भा० वन० २२३।११), तब उसने आश्रम के समीप बहुत से मृगों को मारा। **चन्द्रोपरागं प्रति तु केनापि विप्रलब्धासि** (मुद्राराक्षस), चन्द्रग्रहण के विषय में तो किसी ने तुझे ठगा है,

---

१. ततो राजाऽब्रवीद् वाक्यं सुमन्त्रमभितः स्थितम् (रा० १।११।४)। पम्पा नामाऽभितो वारी (रा० ३।७५।५७)। यहां दोनों स्थलों में 'अभितः' का अर्थ समीप है।

झुठलाया है। **शब्दार्थे रूढि प्रत्यनादरो न युक्तः ।** **तमिमं पालयिष्यामि राघवागमनं प्रति** (=यावत्, तक) (रा० २।११५।१७।।) **फाल्गुनं वाऽथ चैत्रं वा मासौ प्रति यथाबलम्** (मनु० ७।१८२), फाल्गुन अथवा चैत्र इन दो मासों में। **त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात् क्षत्रियं प्रति** (मनु० १०।७७), (अध्यापन आदि) तीन कर्म ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रिय के विषय में निवृत्त हो जाते हैं। **मन्दौत्सुक्योऽस्मि नगरगमनं प्रति** (शाकुन्तल), नगर जाने के विषय में (अब) मेरी उत्सुकता बहुत कम है। **त्वयैकमीशं प्रति साधु भाषितम्** (कुमार०), एक बात तुमने शिव के विषय में ठीक कही है । **न हि मे संशीतिरस्या दिव्यतां प्रति** (=दिव्यता के विषय में)—कादम्बरी। **कृतातिथ्योऽथ रामस्तु सूर्यस्योदयनं प्रति** (रा० ३।२।१), सूर्यस्योदयनं प्रति—सूर्योदय काल में। **परनेयोऽग्रणीर्यस्य स मार्गान् प्रति मुह्यति** (भा० सभा० ५५।४), जिसका नेता दूसरों के कहने पर चलता है वह मार्ग के विषय में संमूढ होता है। **वह्निर्विवाहं प्रति कर्मसाक्षी** (कुमार० ७।८३)। **अम्लः कपित्थे लवणः सैन्धवे नागरे कटुः। तिक्तस्तिक्तकरोहिण्यां कषायश्चाभयां प्रति ।।** (काश्यप सं०, खिल० ३।८)। अभयाम् प्रति=अभयायाम्, अभया=हरीतकी में।

अन्तराऽन्तरेणयुक्ते (२।३।४)। अन्तरा (मध्य में), अन्तरेण (विना, मध्य में, के विषय में) इन अव्ययों के योग में द्वितीया आती है—**दिवं च पृथिवीं चान्तराऽन्तरिक्षम्**, द्युलोक और पृथिवी लोक के बीच में अन्तरिक्ष लोक है। **त्वां च मां चान्तरा महदन्तरम्**, तेरे और मेरे बीच में बड़ा अन्तर है। **अन्तरा प्रातराशं च सायमाशं तथैव च। सदोपवासी भवति यो न भुङ्क्ते कदाचन ।।** (बौ० ध० २।७।१४।१२।।), प्रातः भोजन और सायं भोजन के बीच में जो नहीं खाता वह नित्य उपवासी ही होता है। **प्रमाणमन्तरेण नार्थप्रतिपत्तिः** (न्याय-भाष्य), प्रत्यक्ष आदि प्रमाण के बिना पदार्थ का ज्ञान नहीं होता। **किं नु खलु मामन्तरेण चिन्तयति गुरुः**, गुरु जी मेरे विषय में क्या विचार करते हैं? **न चान्तरेण यजिं यजिफलं लभन्ते, याजकाः पुनरन्तरेणापि यजिं गां लभन्ते** (महाभाष्य), यजमान याग के बिना याग-फल (स्वर्ग) नहीं पाते। याजक—पुरोहित तो याग के बिना भी गौ को प्राप्त करते हैं। **हविर्धानमन्तरेण** (भा० द्रोण० १४३।७१), हव्यगृह के अन्दर।

एनपा द्वितीया (२।३।३१)। एनप्-प्रत्ययान्त दक्षिणेन, उत्तरेण (दोनों अव्यय) के योग में द्वितीया विभक्ति आती है, षष्ठी भी इष्ट है—**दक्षिणेन ग्रामम् (ग्रामस्य) आरामः**, ग्राम के दक्षिण में बागीचा है। **उत्तरेण ग्रामं (ग्रामस्य) सरित्**, ग्राम के उत्तर में नदी है।

कई लोग मध्य, अपर आदि शब्दों से भी एनप् प्रत्यय मानते हैं। उनके

अनुसार मध्येन, अपरेण आदि के योग में भी द्वितीया होगी—**स तानि द्रुमजालानि जातानि गिरिसानुषु । पुष्पिताग्राणि मध्येन जगाम वदतां वरः ॥** रा० २।९८) १५॥ **अपरेणाग्निमानुडहं रोहितं चर्म ।** (गो० गृ० २।३।२), अग्नि के पश्चिम में बैल का लोहित चर्म ।

पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् (२।३।३२) । पृथक्, विना, नाना के योग में द्वितीया, तृतीया, पञ्चमी विभक्तियाँ आती हैं—**पृथक् पुत्रं (पुत्रेण, पुत्रात्) न गृहिणः सुखम्**, बिना पुत्र के गृहस्थ को सुख नहीं । **नार्यसिद्धिर्विना यत्नम् (यत्नेन, यत्नात्) । नाना नारीं (नार्या, नार्याः) निष्फला लोकयात्रा**, स्त्री के बिना यह जीवन निष्फल है ।

विना के योग में द्वितीया के अन्य उदाहरण—**को रसो गोरसं विना,** गोक्षीर को छोड़ कर दूसरा कौन-सा रस है ? **नास्ति चेष्टा विना हिंसाम्**, बिना हिंसा के कोई प्रवृत्ति संभव नहीं । द्वितीया व तृतीया का एक साथ उदाहरण—

न शौरिणा विना पार्थो न शौरिः पाण्डवं विना (भा० सभा० २०।१४॥)

विना के योग में द्वितीया का परम्पराप्राप्त रुचिर उदाहरण—

विना वातं विना वर्षं विद्युत्प्रपतनं विना ।
विना हस्तिकृतान्दोषान् केनेमौ पातितौ द्रुमौ ॥

आँधी नहीं आई, वृष्टि नहीं हुई, बिजुली नहीं गिरी, हाथी ने कोई तोड़-फोड़ भी नहीं की, तो यह दो वृक्ष किसने गिरा दिये ?

ऐसा ही रोचक पण्डितराज जगन्नाथ का श्लोक है—

यथा तानं विना रागो यथा मानं विना नृपः ।
यथा दानं विना हस्ती तथा ज्ञानं विना यतिः ॥
(भा० वि० १।११९)

दान=मद-जल, जो मत्त हाथी के कपोलों से बहता है ।

उसी का तृतीया के उदाहरण में यह हृदय-हारी पद्य है—

पङ्कैर्विना सरो भाति सदः खलजनैर्विना ।
कटुवर्णैर्विना काव्यं मानसं विषयैर्विना ॥ (भा० वि० १।११६)

सदः=सभा ।

विना के योग में पञ्चमी के उदाहरण में यह सुश्रुत का सार-गर्भित श्लोक है—

पाको नास्ति विना वीर्याद् वीर्यं नास्ति विना रसात् ।
रसो नास्ति विना द्रव्याद् द्रव्यं श्रेष्ठमतः स्मृतम् ॥

अनुर्लक्षणे (१।४।८४) । हेतु-भूत लक्षण (चिह्न) के द्योत्य होने पर 'अनु' कर्मप्रवचनीय-संज्ञक होता है और *कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया* २।३।८, कर्मप्रवचनीय से जो युक्त हो उससे द्वितीया विभक्ति होती है—**शाकल्यस्य**

संहितामनु प्रावर्षत्, शाकल्य की संहिता (ऋग्वेद) के पाठ (जो वर्षा का निमित्ति है) के होते ही वृष्टि हुई। संहितापाठ लक्षण है, वृष्टि लक्ष्य है।

तृतीयार्थे (१।४।८५)। तृतीया विभक्ति के अर्थ के द्योत्य होने पर 'अनु' कर्मप्रवचनीय होता है और उसके योग में द्वितीया होती है—**नदीम् अन्ववसिता** (=अनु अवसिता) **सेना**, नदी के साथ सम्बद्ध सेना, अर्थात् नदी के साथ-साथ खड़ी हुई सेना। 'अवसित' षिञ् बन्धने से अवपूर्व क्तान्त रूप है। **शौच-प्रियाणामार्याणां नदीरन्ववसितानि बभूवुर्नगराणि**, शुद्धिप्रिय आर्यों के नगर नदियों के साथ लगे हुए होते थे।

हीने (१।४।८६)। हीन अर्थ के द्योत्य होने पर 'अनु' कर्मप्रवचनीय होता है और उसके योग में द्वितीया आती है—**अन्वर्जुनं धानुष्काः**, अन्य धनुर्धारी अर्जुन से हीन हैं। **अनु शाकटायनं वैयाकरणाः**।[1]

उपोऽधिके च (१।४।८७)। अधिक व हीन अर्थ द्योत्य होने पर 'उप' कर्मप्रवचनीय होता है। कर्मप्रवचनीय होने से दोनों अर्थों में द्वितीया प्राप्त थी, पर अधिक अर्थ में सप्तमी का विधान आगे किया जायगा—**उप पाणिनिमन्ये वैयाकरणाः**, दूसरे वैयाकरण पाणिनि से हीन हैं।

लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः (१.४.९०)। लक्षण के द्योत्य होने पर, अर्थात् लक्ष्य-लक्षण भाव सम्बन्ध में इत्थम्भूत (इस प्रकार का है) इसे कहने के लिए, भाग और वीप्सा अर्थों में प्रति, परि और अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है और उनके योग में द्वितीया होती है। 'भाग' अर्थ को छोड़कर शेष अर्थों में 'अभि' की भी कर्म-प्रवचनीय संज्ञा होती है। **वृक्षं प्रति-परि-अनु विद्योतते विद्युत्**=वृक्षेण लक्षिता विद्युत् प्रकाशते, वृक्ष पर जो प्रकाश पड़ा उससे वहां (क्षणिक) विद्युत् चमकी यह जाना जाता है, अतः वृक्ष विद्युद्-विलास का लक्षण हुआ।

इत्थम्भूताख्यान—**साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति-परि-अनु। वासुदेवं प्रति-परि-अनु भक्तोऽयमिति वासुदेवक इत्युच्यते।** वासुदेव का यह भक्त है अतः इसे 'वासुदेवक' कहते हैं। भाग—**यदत्र माम् प्रति-परि-अनु स्यात् तन्मे देहि, नातोऽधिकं मार्गामि**, जो इसमें मेरा भाग हो, वह मुझे दीजिए, मैं इससे अधिक नहीं मांगता **हरं प्रति हलाहलमभवत्**, हर (महादेव) के भाग में विष

---

१. जब अनु का अर्थ लक्षणादि कुछ भी न हो, किन्तु पश्चात् मात्र अर्थ हो, तब इसके योग में षष्ठी होती है—**प्रतिप्रस्थाता अध्वर्योरनु होमं जुहोति** (श० ब्रा० ४।५।२ १—१२)। **युधिष्ठिरो ययावग्रे .... अर्जुनस्तस्य चान्वेव** (भा० महाप्र० १।३१)।

आया। वीप्सा (पूरी तरह से सम्बन्ध करने की इच्छा)—**वृक्षं वृक्षं प्रति सिञ्चति।** वीप्सा में द्विरुक्ति होती है जैसे यहां वृक्ष में हुई। 'अभि' की भाग अर्थ में कर्मप्रवचनीय संज्ञा न होने से उपसर्ग-संज्ञा बनी रहेगी—**यन्ममात्राभिष्यात् तन्मे दीयताम्**, जो यहां मेरा भाग हो वह मुझे दिया जाय। उपसर्ग होने से 'मम' यहां षष्ठी हुई तथा स्यात् के 'स्' को 'ष्' भी।

लक्षण अर्थ में अनु के योग में द्वितीया के कुछ और उदाहरण—

धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते, नो चेदनूत्पद्यन्ते न धर्महानिर् भवति। (आप० ध० १।२०।३-४) धर्माचरण के होने पर (पीछे) लौकिक अर्थ स्वयम् उत्पन्न हो जाते हैं, यदि नहीं होते, तो (भी) धर्म किया हुआ व्यर्थ नहीं जाता। **राजानमुत्तिष्ठमानमनूत्तिष्ठन्ते भृत्याः।** (कौट० अर्थ० १।१९।१८), राजा के उद्योगी होने पर भृत्य भी उद्योगी हो जाते हैं।

अतिरतिक्रमणे च (१।४।९५)। अतिक्रमण (लाँघना, आगे बढ़ जाना) अर्थ में तथा पूजा अर्थ में 'अति' कर्मप्रवचनीय होता है और उसके योग में द्वितीया आती है—**श्रिया समानान् अति सर्वान्त्स्याम्**। (अथर्व० ११।१।२१), मैं श्री में समान सबसे आगे बढ़ जाऊँ। **इयं रूपेणाप्सरसोऽति**, यह रूप में अप्सराओं से आगे बढ़ गई है। **अति वा एषा (ऋक्) अन्यानिच्छन्दांसि यदतिच्छन्दाः** (ता०ब्रा० ५।२।११), अतिच्छन्दाः नाम की ऋक् दूसरे छन्दों से उत्कृष्ट है। **सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते** (मनु० २।१४५)। यहाँ 'अति' कर्मप्रवचनीय है। लट् कर्मकर्ता में है, ३।१।८७ पर पढ़े हुए 'दुहिपच्योर्बहुलम्' इस वार्तिक में बहुलग्रहण से, ऐसा मेधातिथि मानते हैं।

दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च (२।३।३५)। दूर, अन्तिक (=समीप) इनसे और इनके पर्यायवाची शब्दों से द्वितीया आती है, पञ्चमी और तृतीया भी। यह विभक्तियाँ प्रातिपदिकार्थ में ही आती हैं, कुछ भी अधिक अर्थ को नहीं कहतीं—**दूरं याहि, न ममान्तिकं तिष्ठ। ग्रामस्य दूरेण कूप इति क्लिश्यन्ते ग्रामीणा जलार्थिनः**, ग्राम से कुआँ दूर है, अतः जलार्थी ग्रामीण दुःखी होते हैं। **ममान्तिकाद् अतिक्रामंस्त्वं नाभिभाषसे मामिति परं ताटस्थ्यं ते,** मेरे पास से निकलते हुए मुझ से बोलते नहीं हो, यह तुम्हारी परम उदासीनता है। **स्तुतिभ्यो व्यतिरिच्यन्ते दूरेण चरितानि ते**। (रघु० १०।३१), तेरे कर्म स्तुति से बहुत आगे बढ़े हुए हैं।

कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे (२।३।५)। अत्यन्त संयोग गम्यमान होने पर काल तथा अध्व-वाची शब्दों से द्वितीया आती है। गुण, क्रिया, द्रव्य के द्वारा पूर्ण रूप से अभिव्याप्ति को अत्यन्त संयोग कहते हैं। गुण आदि जब काल तथा

अध्वा को अविच्छिन्न रूप से व्याप्त करते हैं वह अत्यन्त संयोग होता है। **अन्तः** =विच्छेदः, अन्तमतिक्रान्तः=अत्यन्तः। **दशाहमाशौचम्**, दस दिन तक आशौच (अपवित्रता) होती है। **सर्वकालं दुःखाऽविद्या दुरुच्छेदा च**, अविद्या नित्य ही दुःखदायिनी और दुर्विनाश्या होती है। **स राजा इमानि दिवसानि प्रजागरकृशो लक्ष्यते** (शाकुन्तल), वह राजा इन दिनों (लगातार) जागने से कृश हुआ दीखता है। क्रिया—**नैव रात्रिं न दिवसं न मुहूर्तं न च क्षणम्। रामरावणयोर्युद्धं विश्राममगमत्तदा**॥ (रा० ६।९२।३५), रात, दिन, मुहूर्त अथवा क्षण भर के लिए भी राम-रावण का युद्ध न ठहरा। **त्रीणि वासराणि धारासारेणावर्षीद् देवः**, तीन दिन लगातार मूसलाधार वृष्टि हुई।। **मासं भृतोऽसौ विंशत्या रूप्यकैः**, उसे एक महीने के लिये २० रुपये पर नौकर रख लिया गया। द्रव्य—**मासं गुडधानाः**, यह गुड़ और धान मास तक चल जायेंगे। अध्वा की व्याप्ति के उदाहरण— **क्रोशं कुटिला नदी**, यह नदी एक कोस तक टेढ़ी है।

विस्तीर्णा योजनशतं शतमध्यर्धमायता।

वैहायसी कामगमा पञ्चयोजनमुच्छ्रिता॥ (भारत)

(देवसभा) १०० योजन चौड़ी, १५० योजन लम्बी, आकाशस्थ, स्वेच्छा संचार वाली, और पांच योजन ऊँची है। **क्रोशमधीते**, एक कोस तक पढ़ता जाता है। **योजनं पर्वतः**।

तृतीया

अपवर्गे तृतीया (२।३।६)। फलप्राप्तौ सत्यां क्रियापरिसमाप्तिरपवर्गः। जिस काल वा अध्वा (देशप्रमाण) तक निरन्तर क्रिया होने से फल की प्राप्ति होने पर क्रिया समाप्त हो जाती है, उससे तृतीया आती है—**द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरणं श्रूयते**, बारह बरसों में निरन्तर अध्ययन से व्याकरण समाप्त हो जाता है। **कतिभिर्होराभिः कलिकातामासादयिता रेलयानम्**, कितने घण्टों में रेलगाड़ी कलकत्ता पहुँचेगी। **क्रोशेनाधीतोऽनुवाकः**, कोस तक लगातार चलने से अनुवाक का अध्ययन समाप्त हो गया। **मासेन जय्यो व्याधिर्मासिकः**, जो रोग मास भर में पूरी तरह जीता जा सकता है उसे 'मासिक व्याधि' कहते हैं। **मासेन सुकरं कर्म मासिकम्**, जो काम मास भर में समाप्त किया जा सकता है उसे 'मासिक कर्म' कहते हैं। **षष्टिकाः षष्टिरात्रेण पच्यन्ते** (पा० ५।१।९०)। जो चावल ६० रातों में अर्थात् २ महीनों में पक जाते हैं उन्हें 'षष्टिक' अर्थात् साठी के चावल कहते हैं। **त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थाय कृष्णद्वैपायनो मुनिः। महाभारतमाख्यानं कृतवान् इदमद्भुतम्**॥ (भा० आदि० ६२।५२)

सहयुक्तेऽप्रधाने (२।३।१९)। सह, सह के पर्याय साकम्, सार्धम्, सत्रा, समम् आदि के योग में अप्रधान से तृतीया आती है—**पुत्रेण सह-साकम्-सार्धम्-**

समम् आगतः पिता। पिता का यहाँ क्रियासम्बन्ध शब्दोक्त है, और पुत्र का प्रतीयमान, अतः पुत्र अप्रधान है। **शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित्प्रलीयते** (कुमार ४।३३), चाँद के साथ ही चाँदनी चली जाती है, मेघ के साथ ही विद्युत् नष्ट हो जाती है। **शिल्पिनः सह शाठ्येन जायन्त इति घुष्यते**। (बृ० श्लो० सं० ५।२६२), कारीगर जन्म के साथ ही शठता लिये आते हैं ऐसा प्रवाद है। **सहापकृष्टैर्महतां न सङ्गतं भवन्ति गोमायुसखा न दन्तिनः** (किरात० १४।२२), नीच लोगों के साथ उत्तम पुरुषों की संगति नहीं होती, हाथी गीदड़ों के मित्र नहीं होते। सहार्थ में भी तृतीया आती है—**मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः** (उ०मेघ० ५४)। इस प्रकार क्षण भर के लिये भी तेरा (हे मेघ) विद्युत् से वियोग न हो। **पिता मात्रा** (पा० १।२।७०), मातृ शब्द के साथ उच्चारित पितृ शब्द शेष रहता है। **गन्धोत्तमा प्रसन्नेरा कादम्बर्या परिस्रुता** (अमर)। कादम्बर्या=कादम्बर्या सह। गन्धोत्तमा आदि सुरा के नाम अमर ने पढ़े हैं। **सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति**। (छां० ६।८।१॥), तब वह सत् (ब्रह्म) के साथ एक हो जाता है। **अस्य मुखं सीताया मुखचन्द्रेण संवदति** (उत्तर राम०)। संवदति=साथ मिलता-जुलता है।

येनाङ्गविकारः (२।३।२०)। जिस विकृत अङ्ग से अङ्गी (देह) का विकार लक्षित होता है तद्वाचक शब्द से तृतीया होती है—**अक्ष्णा काणः**। **पादेन खञ्जः**। पाओं से लंगड़ा। **पृष्ठेन कुब्जः**। **पाणिना कुणिः**=लुंजा। सूत्र में अङ्ग शब्द अङ्ग-समुदाय अर्थात् शरीर का वाचक है। **स बाल आसीद् वपुषा चतुर्भुजः** (माघ १।७०) वह बाल रूप में शरीर से चतुर्भुज था। अङ्ग-हानि की तरह अङ्गाधिक्य भी विकार माना जाता है ऐसा काव्यालङ्कार सूत्र-वृत्ति-कार वामन मानते हैं।

हेतौ (२।३।२३)। क्रिया, द्रव्य, गुण के कारण से तृतीया होती है—**पुण्येन दृष्टो हरिः**, पुण्य के कारण हरि का दर्शन हुआ। 'पुण्य' दर्शन की योग्यता उत्पन्न करता है, दर्शन-व्यापार में करण नहीं। योग्यता होने पर चक्षुर्व्यापार ही दर्शनक्रिया को साधता है, अतः चक्षुः करण है। क्रिया, द्रव्य, गुण में से कोई भी हेतु का विषय हो सकता है। हेतु व्यापारवान् नहीं होता, अर्थात् वाक्य में श्रूयमाण क्रिया में व्यापृत नहीं होता। इसके विपरीत करण नियम से क्रिया-विषयक होता है और क्रिया की सिद्धि में व्यापृत होता है। द्रव्यादिविषयो हेतुः कारकं नियतक्रियम् (वा०प० ३।७।२५) अनाश्रिते तु व्यापारे निमित्तं हेतुरिष्यते। (३।७।२४) हेतु के विषय में काशिका का संक्षिप्त पर सारगर्भित वचन है—फलसाधन- योग्यः पदार्थो लोके हेतुरुच्यते, अर्थात् जो पदार्थ फल को साक्षात् निष्पन्न तो नहीं

करता, पर उसे निष्पन्न करने की योग्यता रखता है, उसे लोक में 'हेतु' कहते हैं। अतः **धनेन कुलम्, कन्यया शोकः,** इत्यादि में धनादि सीधे कुलादि के जनक नहीं हैं, तो भी कुलादि की जनकता में योग्यता अवश्य रखते हैं, अतः ये हेतु हैं, करण नहीं। **पुण्येन गौरवर्णः**, यहाँ गुण के प्रति पुण्य हेतु है। फल भी हेतु होता है, उससे तृतीया आती है—**अध्ययनेन वाराणस्यां वसति,** पढ़ने के लिये वाराणसी में रहता है।

इत्थम्भूतलक्षणे (२।३।२१)। इमं प्रकारं प्राप्तः =इत्थम्भूतः। भू यहाँ प्राप्त्यर्थ में चुरा० आधृषीय धातु है। 'इस प्रकार का है,' उसके लक्षण (ज्ञापक चिह्न) से तृतीया आती है—**अपि भवान् कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीत्,** क्या आपने कमण्डलु से ज्ञापित छात्र को देखा? **अयं जटाभिस्तापस इति भाति। एकपाकेन वसन्तोऽविभक्ता भ्रातरः किमपि सुखं निर्विशन्ति,** एक साथ खाना पकाते हुए बिना विभाग किये रहते हुए भाई कुछ अनिर्वचनीय सुख भोगते हैं। **स्वरितेनाधिकारः** (पा० १।३।११), स्वरित लक्षण से अधिकार जाना जाता है। **तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्।** (बृ०उ० ३।५।१), इसलिये ब्राह्मण पाण्डित्य (ब्रह्मज्ञान) को पूर्णरूपेण प्राप्त करके बालभाव से उपलक्षित होकर रहने की इच्छा करे।

राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः। (अमर), रक्त चोंच और चरणों से उपलक्षित श्वेत हंस राजहंस कहलाते हैं। **नयनाभ्यां प्रसुप्तोपि जागर्ति नयचक्षुषा। व्यक्तक्रोधप्रसादश्च स राजा पूज्यते जनैः॥** (रा० ३।३३।२१), जो राजा निमीलित नयनों से सोया हुआ लक्षित होता है, पर नीति रूपी खुली आँख से जागता हुआ दीखता है, जिसका क्रोध और प्रसाद प्रकट है वह प्रजा से पूजा जाता है।

हेत्वर्थ में तृतीया के अन्य उदाहरण—**अहो बत महत् कष्टं विपरीतमिदं जगत्। येनापत्रपते साधुरसाधुस्तेन तुष्यति॥** (भारत), जिस हेतु सज्जन लज्जित होता है, दुर्जन उसी हेतु प्रसन्न होता है। **प्रार्थितः सम्प्रदानेन प्राजापत्यः प्रकीर्तितः** (शङ्खस्मृति ४।५), कन्या देने के लिये (पिता जिसमें) प्रार्थना करता है वह विवाह 'प्राजापत्य' कहलाता है। **सुभगा किल कौसल्या यस्याः पुत्रोऽभिषेक्ष्यते। यौवराज्येन महता.....॥** (रा० २।८।९), जिसके पुत्र का यौवराज्य के निमित्त अभिषेक होगा। **सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।** (मनु० ३।६०), भर्ता भार्या के कारण प्रसन्न और भार्या भर्ता के कारण। **स्थानिनो देवाः स्थानैरुपनिमन्त्र्यन्ते, भो इहास्यताम्, इह रम्यताम् इति।** (योगभाष्य ३।५१), अपने-अपने स्थानों

वाले देवताओं को स्थान-देने के निमित्त बुलाया जाता है। **दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः** (शाकुन्तल)। **न्यमन्त्रयत सन्तुष्टो द्विजश्चैनं वरैस्त्रिभिः।** (भा० अनुशा० १५२।६), ब्राह्मण ने प्रसन्न होकर तीन वर देने के लिये उसे बुलाया। **लक्ष्म्या निमन्त्रयाञ्चक्रे तमनुच्छिष्टसम्पदा।** (रघु० १२।१५), भरत ने उसे (राम को) अननुभूतगुणोत्कर्ष वाली (राज्य-) लक्ष्मी देने के हेतु निमन्त्रण किया। **सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते।** (मनु०२।१४५), सहस्र पिताओं से माता गौरव के कारण अधिक है। **पुंसाऽनुजः** यह तृतीयाऽलुक् समास है। अर्थ है—पुमान् (पुत्र) के पूर्व उत्पन्न होने से अनुज है। **जनुषान्धः।** यह भी तृतीया ऽलुक् समास है। जन्म के हेतु अन्धा। **अशत्रुर्जनुषा सनाद् असि।** (ऋ० १।१०२।८), तू नित्य ही जन्म से शत्रुहीन है। **रामो मत्तो मासेन पूर्वः, श्यामश्चाध्यर्धेन मासेनावरः**, राम मुझ से १ महीना बड़ा है, श्याम १॥ महीना छोटा है। **तव शिष्यं महाबाहो धनुष्यवरं त्वया।** (भा०   )। **पित्रा समः मात्रा सदृशः। माषोनः**, मासा भर कम। **वाचा कलहः। गुडेन मिश्रः।** इत्यादि में भी हेतु में तृतीया समझनी चाहिये।

प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्। प्रकृति आदि शब्दों से तृतीया होती है यह वार्तिककार का वचन है। प्रकृति आदि शब्द गण-पठित नहीं हैं। शिष्टों के प्रयोगों से जाने जाते हैं। जहां करण अथवा हेतु कुछ भी नहीं, वही इस वार्तिक का विषय है। **प्रकृत्या चारुः। निसर्गेणाभिरूपः**, स्वभाव से सुन्दर। **गोत्रेण गार्ग्यः।** गोत्रमस्य गार्ग्य इत्यर्थः। **प्रायेण याज्ञिकः। समेन धावति**, समतल मार्ग से दौड़ता है। **विषमेण धावति। द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति**, दो दो परिमाण-भूत द्रोण पात्रों से (धान्य) खरीदता है। **नाम्ना सुतीक्ष्णश्चरितेन दान्तः।** यहाँ 'नाम्ना' में प्रकृत्यादि होने से तृतीया हुई। नाम और सुतीक्ष्ण में तादात्म्य है। सुतीक्ष्णनामा ऐसा अर्थः।

प्रकृत्यादि होने से तृतीया के अन्य उदाहरण—

तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते। (मनु० ७।२७), उस (दण्ड) का ठीक ढंग से प्रणयन करता हुआ राजा त्रिवर्ग (=धर्म, अर्थ, काम) से बढ़ता है। **ननु उटजसंनिहिता शकुन्तला। अद्य पुनर्हृदयेनासंनिहिता** (शाकुन्तल), अरी शकुन्तला पर्णशाला के संनिहित=पास है, पर हृदय से असंनिहित है। यहाँ भी हृदयेनाऽसंनिहिता=असंनिहितहृदया, जिसका हृदय (शरीर में) उपस्थित नहीं है। **उल्का चाप्यपसव्येन पुरं कृत्वा व्यशीर्यत।** (भा० सभा० ८०।२९) उल्का नगर की दाईं ओर नष्ट हो गई। **स्वागतेनागतां तां तु भगवानभ्यभाषत।** (भा० अनुशा० १८।७८)। आई हुई उसको

'स्वागतं ते' ऐसा कहा। **अपाङ्क्त्योपहता पङ्क्तिः पाव्यते यैर्द्विजोत्तमैः। तान् निबोधत कार्त्स्न्येन द्विजाग्र्यान्पङ्क्तिपावनान्॥** (मनु० ३।१८३), कार्त्स्न्येन =कृत्स्नान्। **कियता स्कम्भः प्रविवेश तत्र।** (अथर्व० १०।७।८), इस जगत् का आधार-रूप (स्कम्भ=खँभा) खम्भा वहाँ कितना प्रविष्ट हुआ। **धर्मेण प्रजाः प्रशिष्युर्नृपालाः,** राजा धर्म के अनुसार प्रजा का शासन करें। **मेधया तद्वान्, धनेन धनवान्,** इत्यादि में प्रकृत्यादि होने से अभेद में तृतीया है। **प्रियप्रियेण ददाति। सुखसुखेन ददाति।** आसानी से, बिना दुःख माने देता है। (काशिका ८।१।१३)। **पृष्ठतः सेवयेदर्कं जठरेण हुताशनम्** (हितोप० २।३३)। **आग्नेयो वै ब्राह्मणो देवतया। ऐन्द्रो वै देवतया क्षत्रियो भवति** (ऐ० ब्रा० ७।१३)। क्षत्रिय इन्द्रदेवताक है, अर्थात् क्षत्रिय का इन्द्र देवता है। **मम भर्ता महातेजा वयसा पञ्चविंशकः।** (रा० ३।४७।१०), मेरा पति अतितेजस्वी वय में पच्चीस वर्ष का है। **अन्धो जडः पीठसर्पी सप्तत्या स्थविरश्च यः।** (मनु० ८।३९४), अन्धा, बहिरा, पर्प से चलने वाला, सत्तर वर्ष का बूढ़ा। **वितथेन ब्रुवन् दर्पाद् दाप्यः स्याद् द्विशतं दमम्।** (मनु० ८। २७३)। दर्प (घमण्ड) से मिथ्या बोलते हुए से २०० जुर्माना दिलाये। **मूढोपि वपुषा राजन्** (किरात० ११।६)। **भूमिपालस्तु तदाकर्ण्य हृदयेनातिमात्रमप्रीयत।** (हर्ष० ३, पृ० ११५)। **यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन वा।** (मनु० ७।१७२)। वाहनेन परिक्षीणः, बलेन परिक्षीणः= परिक्षीणवाहनः, परिक्षीणबलः। **काणं वाप्यथवा खञ्जमन्यं वापि तथाविधम्।** (मनु० ८।२७४)। **तथ्येनापि ब्रुवन्दाप्यः....॥ पयो दधिभावेन परिणमते। महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति** (मनु० ७।८)। **द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्** (मनु० १।३२)। **आत्मना चतुर्थः** (काशिका ६। ३।६)। **इति वार्तिककारेण भावे सर्वलिङ्गो निर्देशः कर्तव्यतया चोदितः।** (हेलाराजटीका, वाक्य० ३।८।५८)। **दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसङ्ख्यया।** (मनु० १।७२)। संख्या में सहस्र दैव युगों का। **अस्मिन्धर्मोऽखिलेनोक्तो गुणदोषौ च कर्मणाम्।** (मनु० १।१०७)। **निम्नेन सलिलं याति।** (बृ० श्लो० सं० ९।१२)। निम्नेन=निम्नम्। **तल्लक्षं योजनानां प्रमाणेन निगद्यते।** (वामन० पु०), प्रमाण से अर्थात् इयत्ता में वह १ लाख योजन कहा जाता है। तद् योजनलक्षप्रमितम् इत्यर्थः। **परिहासविजल्पितं सखे परमार्थेन न गृह्यतां वचः** (शाकुन्तल), हंसी में कहा हुआ यह वचन, हे मित्र, सच करके न जानिये। **नाम्ना च गोत्रेण च कर्मणा च संकीर्तयन् भूमिपतीन् समेतान्।** (भा० आदि०)। भूमिपतीनां नामानि गोत्राणि कर्माणि च

संकीर्तयन्नित्यर्थः। भूमिपतियों को नामादि से कहता हुआ, अर्थात् उनके नामादि का निर्देश करता हुआ। गिरतेर्लङि ध्वमि चतुर्भिरधिकं शतं रूपाणि (सि० कौ० भावकर्मप्रक्रिया)। यहाँ चतुर् आधिक्य का परिच्छेदक है।

आस्ते सर्वास्ववस्थासु हृदयेनापराजितः, ..हृदय से न हारा हुआ।

उपरिनिर्दिष्ट प्रकार के तृतीया के प्रयोगों में तदात्मकता, तदवच्छेदकता अथवा तत्प्रकारित्व अर्थ है। इस विषय में किसी मर्मज्ञ विद्वान् का वचन है—

प्रकृत्यादिगणाज्जाता तृतीया तु तदात्मताम्।
अवच्छेदकताबुद्धिं प्रकारित्वादि शंसति॥ इति।

चतुर्थी

तादर्थ्ये उपसंख्यानम्। तादर्थ्य अर्थात् 'यह उसके लिये है' इस अर्थ में जिसके लिए कोई वस्तु है उसके वाचक शब्द से चतुर्थी होती है—**यूपाय दारु**, यूप बनाने के लिये लकड़ी। यज्ञिय पशु के बन्धनार्थ खूंटे को यूप कहते हैं। **कुण्डलाय हिरण्यम्**, कुण्डल बनाने के लिये सोना। **रन्धनाय स्थाली**, राँधने के लिये देगची। **अवहननाय उलूखलम्**, अवघात=धान कूटने के लिये ऊखल।

तादर्थ्य में चतुर्थी के अन्य उदाहरण—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे॥

काव्य यश के लिये, धन कमाने के लिये, व्यवहार ज्ञान के लिये, अनिष्ट के नाश के लिये, तत्काल परमानन्द के लिये तथा प्रिया-तुल्य उपदेश प्राप्ति के लिये है। (मम्मट)।

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम्॥ (अथर्व० ६।४१।१)। मन के लिये, स्मरण शक्ति के लिये, बुद्धि के लिये, संकल्प के लिये तथा चेतना के लिये, आगामि विषयक ज्ञान जनन करने वाली शक्ति के लिये (मत्यै), शास्त्रज्ञान के लिये (श्रुताय), दृक् शक्ति के लिये हम हवि द्वारा पूजा करें।

रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः। (मनु० १।६५), रात प्राणियों के लिये सोने के लिये है और दिन कर्म करने के लिये। **दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायाऽऽसुरी मता** (गीता १६।५)। **भूत्यै जागरणमभूत्यै स्वपनम्**। (यजुः ३०।१७), जागना ऐश्वर्य के लिये है और सोना अनैश्वर्य (दारिद्र्य) के लिये। **अमा सते वहसि भूरि वामम्** (ऋ० १।१२४।१२)।

हितयोगे चतुर्थी वक्तव्या। **हितमिदं भेषजमातुराय**, यह औषध रोगी

के लिए हितकारी है । **परलोकविरुद्धानि कुर्वाणं दूरतस्त्यजेत् । य आत्मानमति-सन्धत्ते सोऽन्यस्मै स्यात् कथं हितः ॥** (भा० उद्योग०) । **य आत्मानम्**—जो अपने आपको धोखा देता है वह दूसरे का कैसे हितकारी हो सकता है । **यद् वाव जीवेभ्यो हितं तत् पितृभ्यः** (श० ब्रा०) । वाव—निश्चितम् ।

नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालं व षड्योगाच्च । (२।३।१६) यहाँ अलम् से अलम् का तथा समर्थ, शक्त, प्रभु, योग्य, पर्याप्त इत्यादि उसके पर्यायों का ग्रहण है । **नमो ब्रह्मणे । नमस्तेस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु** (कठ उ०), हे ब्राह्मण! तुझे नमस्कार हो और मेरा कल्याण हो । **स्वस्ति गोब्राह्मणेभ्योऽस्तु** (रा० ३।२३।२८) । सार्थक 'नमः' शब्द का ग्रहण है, नमस्य क्यजन्त नामधातु में 'नमस्' अनर्थक है अतः **कपिलाय महामुनये मुनये शिष्याय तस्य चासुरये । पञ्चशिखाय तथेश्वरकृष्णायैते नमस्यामः ॥** साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी की इस आर्या में नमः स्वस्ति—सूत्र से चतुर्थी नहीं हुई, किन्तु गम्यमान 'प्रीणयितुम्' (प्रसन्न करने के लिये) तुमुन्नन्त का कर्म होने से । अलम्—**अलं मल्लो मल्लाय,** एक मल्ल (पहलवान) दूसरे के बराबर है । **अलं कुमार्या** (कुमार्यै) **अयं कुमारः,** यह कुमार इस कुमारी के योग्य है ।

अलमर्थ में जो पद (सुबन्त, तिङन्त) प्रयोग में आते हैं उनके योग में चतुर्थी के उदाहरण—

न यक्षः शक्ष्यत्यग्रतः स्थितये (दश कु०पृ० २४५) । **क्षत्रियस्याकर्षणाऽशकत्** (दश कु० पृ० २४२) । **भवत्सम्भावनोत्थाय परितोषाय मूर्छते । अपि व्याप्त-दिगन्तानि नाङ्गानि प्रभवन्ति मे ॥** (कुमार० ६।५९), आपके सत्कार से उत्पन्न हुए बढ़ते हुए परितोष (प्रह्लाद) को अपने अन्दर धारण करने के लिये दिशाओं के अन्तों तक व्याप्त भी मेरे अङ्ग समर्थ नहीं हैं । **पर्याप्त एकः पुलाकः स्थाल्या निदर्शनाय** (भाष्य), एक दाना ही स्थालीस्थ तण्डुलादि की अवस्था दर्शाने के लिये पर्याप्त है । **समधृते मधुसर्पिषी मरणाय** (चरक, सूत्र० २६।८६), समान मात्रा में मिलाये मधु और घृत मृत्यु लाने में समर्थ होते हैं । यहाँ अलम्, भवतः, प्रभवतः, कल्पेते इत्यादि में से कोई एक शेष समझना चाहिये । **विक्रियायै न कल्पन्ते सम्बन्धाः सदनुष्ठिताः** । (कुमार० ६।२९), सज्जनों से बनाये हुए सम्बन्ध बिगड़ते नहीं । **प्रतिकारविधानमायुषः सति शेषे हि फलाय कल्पते** (रघु० ८।४०), इलाज (चिकित्सा) आयुः शेष होने पर ही फल उत्पन्न करने के योग्य होता है । **तदनुवर्तमानो नरकाय राध्यति** (राध्यति=कल्पते, के योग्य होता है) (आप० ध० १।१२।१२॥) **विद्येव कन्यका मोहादपात्रे प्रतिपादिता । यशसे न न धर्माय जायेताऽनुशयाय तु** (क० स० सा०) ॥ यहाँ जायेत=कल्पेत ।

प्रतिपादिता=दी हुई। अनुशय=पश्चात्ताप। प्रभु आदि का जब अधिकार रखना, प्रभुत्व रखना, अभिभव करना आदि अर्थ हो तो इन के योग में षष्ठी आती है—**न चास्य रोगाः सहसा प्रभवन्ति** (चरक सूत्र० ५।५९), इसे रोग एकदम दबाते नहीं। **प्रभवति तातः स्वस्य कन्यकाजनस्य**, (मालती०), पिता को अपनी पुत्रियों पर अधिकार है। अधिकारार्थक प्र-भू के प्रयोग में जिस पर अधिकार हो उससे सप्तमी भी देखी जाती है, हाँ षष्ठी प्रायिक है—

किमेतावत्यपि भवानस्मासु न प्रभवति (म० वी०च०)। **प्रभवन्त्योऽपि हि भर्तृषु कारणकोपाः कुटुम्बिन्यः** (मालविका १।१८)। **न केवलं मनुष्येषु देवं देवेष्वपि प्रभु। सति मित्रे धनाध्यक्षे चर्मप्रावरणो हरः** (रविगुप्त)॥

स्वाहा—अग्नये स्वाहा—अग्नये सुहुतमस्तु, अग्नि के लिये शोभन हवि हो। **पितृभ्यः स्वधा** (पितरों को भोजन)। **इन्द्राय वषट्**।

क्लृपि सम्पद्यमाने चतुर्थी वक्तव्या। कृपू सामर्थ्ये भ्वा० आ० के प्रयोग में इसके समानार्थक जन्, सम्पद् आदि के प्रयोग में विकारवाची शब्द से चतुर्थी आती है—**मूत्राय कल्पते यवागूः। उच्चाराय कल्पते यवागूः**, यवागू मूत्र रूप में परिणत हो जाता है। **उच्चाराय कल्पते माषः। भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते**, भक्ति ज्ञानरूप में परिणत हो जाती है।

उत्पातेन ज्ञापिते च (का०) उत्पात (प्राणियों के शुभाशुभ का सूचक भूतपरिणाम) से जो ज्ञापित हो उससे चतुर्थी होती है—

वाताय कपिला विद्युद् आतपायाऽतिलोहिनी।
पीता सस्यविनाशाय दुर्भिक्षाय सिता भवेत्॥ (भाष्य)

जब बिजुली कपिलवर्ण की हो तो उससे आँधी ज्ञापित होती है, इत्यादि।

तुमर्थाच्च भाववचनात् (२।३।१५)। 'भावे' (३।३।१८) इस अधिकार में विहित जो भाववचन (=भाववाचक) घञ् आदि प्रत्यय हैं उनका क्रियार्थक क्रिया के उपपद होने पर तुमुन् की तरह भविष्यत् काल में प्रयोग होता है। ऐसे भाववचन—प्रत्ययान्त शब्दों से चतुर्थी आती है—**यागाय (=यष्टुं) याति। पाकाय व्रजति। भूतये प्रतिष्ठते** (भूति के लिये प्रस्थान करता है)। याति व्रजति। प्रतिष्ठते—ये क्रियार्थक उपपद क्रियायें हैं। 'यागाय याति' का अर्थ है यक्ष्ये इति याति, मैं यज्ञ करूंगा, इसलिये जाता है।

पञ्चमी

यतश्चाध्वकालनिर्माणं तत्र पञ्चमी। जहाँ से दूरी तथा काल मापा जाय तद्वाचक शब्द से पञ्चमी आती है। **तद्युक्ताद् अध्वनः प्रथमासप्तम्यौ**, उस

अवधि से युक्त (मापे हुए) अध्वा (दूरी, देशपरिमाण) से प्रथमा तथा सप्तमी विभक्तियाँ आती हैं। **कालात्सप्तमी**, तद्युक्त (उस अवधि से युक्त) काल से केवल सप्तमी विभक्ति आती है—**गवीधुमतः सांकाश्यं चत्वारि योजनानि** (प्रथमा), **चतुर्षु योजनेषु वा**, गवीधुमान् नगर से सांकाश्य नगरी ४ योजन दूरी पर है। **कार्तिक्या आग्रहायणी मासे** (सप्तमी), कार्तिक की पूर्णिमा से अगहन की पूर्णिमा १ महीना बाद होती है। **सहस्राश्वीने वा इतः स्वर्गो लोकः**। (ऐ० ब्रा० २।२।७), स्वर्ग लोक यहां से इतनी दूर है कि एक घोड़ा सहस्र दिन चलकर वहां पहुँच सके। अश्वस्य एकाहगमः=आश्वीनः, एक दिन में एक घोड़ा जितना चल सके, उसे आश्वीन कहते हैं।

अन्यारादितरर्तेदिक्छब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते (३।२।२९)। अन्य, आरात् (=दूर-समीप), इतर, ऋते, (रूढ) दिशावाचक[1] शब्द, अञ्च् धातु जिसमें आरात् उत्तरपद हो। आ (च्), आहि के योग में पञ्चमी होती है। अन्य के समानार्थक शब्दों का भी ग्रहण होता है— **जीव ईश्वरादन्य इति शाङ्करा न सहन्ते। भेदका गुणा इति देवदत्ताद् यज्ञदत्तो भिन्नः**, गुण भेदक (भेद करने वाले) होते हैं, इसलिये देवदत्त से यज्ञदत्त भिन्न है। **अन्यत् कुम्भाद् अपां पूर्णाद् अन्यत् पादावसेचनात्। अन्यत् कुशलसम्प्रश्नान् नैषिष्यति जनार्दनः॥** (धृतराष्ट्र के प्रति विदुर का कथन), स्वागतार्थ मङ्गलजलकलश को छोड़कर चरण प्रक्षालनार्थ जल को छोड़कर, कुशल प्रश्न को छोड़ कर और कुछ भी जनार्दन (कृष्ण) नहीं चाहेंगे। **आचार्याधीनो भवान्यत्राधर्माचरणात्**। अधर्माचरण को छोड़ कर और सब बातों में तू आचार्य के अधीन रहना। **प्रायः पित्तलमम्लमन्यत्र दाडिमामलकात्** (चरक, सूत्र० २७।४), प्रायः सभी खट्टे पदार्थ पैत्तिक होते हैं, दाडिम (अनार) और आमले को छोड़कर। **तुष्टः स्वद्रव्यादन्यत्र कृतालंबुद्धिः**, संतुष्ट वह होता है जो अपनी वस्तु को छोड़ कर दूसरी वस्तु में निषेध बुद्धि रखता है। अलम् का यहाँ निषेध अर्थ है। **कमलानां मनोहराणामपि रूपाद् विसंवदति शीलम्** (मुद्रा० १।१९), मनोहर कमलों का शील रूप से भिन्न है। आरात्—**आरात् संकसुकाच्चर** (अथर्व० ८।१।१२), शव-भक्षक अग्नि से परे चल। **ग्रामाद् आराद् आरामः**, ग्राम के समीप बागीचा है। **आराच्छत्रोः सदा वसेत्**, शत्रु से सदा दूर रहे। **सम्प्रीतान् स्था-**

---

१. सूत्र में दिक्छब्द' ऐसा पढ़ा है। इसका दिशि दृष्टः शब्दः—दिक्छब्दः ऐसा अर्थ लिया जाता है। इससे जो शब्द दिशा का वाचक होकर काल अर्थ में प्रवृत्त हुआ है उसके योग में भी पञ्चमी होती है।

पर्येद् आरात्, विश्वस्त लोगों को अपने समीप रखे । इतर—**तापसव्यञ्जनोऽयम् इतरस्तापसात्,** इस की वेषभूषा तपस्वियों की-सी है, पर यह तपस्वी से भिन्न है। **चतुर्थवर्णोऽपि शूद्र इतर आर्यात्,** यद्यपि वर्णों में शूद्र का चतुर्थ वर्ण है, पर वह आर्य से भिन्न है (आर्यों में उसकी गणना नहीं)। ऋते—**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः,** ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं। **शूलं नर्ते** (=न ऋते) **ऽनिलाद् दाहः पित्ताच्छोफः** (—पित्तात् शोफः) **कफोदयात्** (अष्टाङ्ग० सूत्र० २६।६), शूल (दर्द) बिना वायुप्रकोप के नहीं होता, जलन पित्त की अधिकता के बिना नहीं होती, शोफ (सूजन) बिना कफ-वृद्धि के नहीं होती। **नाहमिन्द्राणि रारण** (=रराण) **सख्युर्वृषाकपेर्ऋते ।** (अथर्व० २०।१२६। १२), हे इन्द्राणी, मैं अपने सखा विष्णु के बिना प्रसन्न नहीं हूँ। दिक्-शब्द—**पूर्वो ग्रामाद् उत्तरो ग्रामाद् उदपानः,** ग्राम के पूर्व में, ग्राम के उत्तर में कुआँ है। **ब्रह्म हि पूर्वं क्षत्रात्** (पञ्चविंश ब्रा०), ब्राह्मण जाति क्षत्रिय जाति से पहले है। मूल में दिग्वाची पूर्व शब्द यहाँ काल वाची हो गया है। **क उ नु ते महिमनः** (=महिम्नः) **समस्याऽस्मत् पूर्व ऋषयोऽन्तमापुः** (ऋ० १०।५४।३), किन ऋषियों ने हमसे पूर्व तेरी सम्पूर्ण महिमा का अन्त पाया। अञ्च् उत्तरपद—**प्राक् प्रभातात् प्रस्थास्ये,** प्रभात से पहले चल पड़ूंगा। **प्राङ् नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते ।** (मनु० २।२९), नाभि नाल के छेदन से पहले जात-कर्म संस्कार का विधान है। वर्धन—वर्ध, चुरा० छेदन करना।

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत् प्राग् विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥ (मनु० २।२१)

(उत्तर में अवस्थित) हिमालय और (दक्षिण में अवस्थित) विन्ध्य पर्वत के बीच का देश जो सरस्वती के रेत में अन्तर्हित होने के स्थान के पूर्व को है और प्रयाग के पश्चिम को है वह मध्यदेश कहलाता है। आ(च्), आहि—

समुद्राद् उत्तरा उत्तराहि वसन्तो वयं न बहु विद्मस्तत्तीरवर्ति-लोकाचारान्, समुद्र से दूर उत्तर दिशा में रहते हुए हम समुद्र तट पर रहने वाले लोगों के आचार को बहुत नहीं जानते। **दक्षिणा दक्षिणाहि** (=दूरदक्षिण में) **ग्रामाद् वाहिनी** (=नदी)।

अकर्तर्यृणे पञ्चमी (२।३।२४)। कर्तृ-वर्जित (जो कर्ता न हो) ऋण जो हेतु हो उससे पञ्चमी विभक्ति आती है। यह हेतु-तृतीया का अपवाद है। **कस्यचिच्छतं मुद्रा ऋणं देयं न चासौ तद् विगणयति, ततः शताद् बध्यते** (शत ऋण के हेतु बांधा जाता है।

विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् (२।३।२५)। गुण जो हेतु हो पर स्त्रीलिङ्ग न हो, उससे विकल्प से पञ्चमी आती है, पक्ष में यथाप्राप्त तृतीया होती है—

जाड्याद् (जाड्येन) दुर्जनवागुरासु पतितः, मूर्खतावश दुष्टों के जाल में फंस गया। **अन्यः पतितोपि पाण्डित्यात् ततो मुक्तः,** दूसरा फंसा हुआ भी चतुराई से वहाँ से छूट गया। उणादयो बहुलम् (३।३।१।।) पर पढ़े हुए श्लोकवार्तिक में **बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः** में स्त्रीलिङ्ग 'तनुदृष्टि' से कैसे पञ्चमी हो गई? इसके समाधान के लिये 'विभाषा' यह योग–विभाग किया जाता है। दूसरा योग गुणेऽस्त्रियाम्। विभाषा इस योग में गुण और स्त्रीलिङ्ग निषेध का सम्बन्ध नहीं होता। इसी तरह **नास्ति, अनुपलब्धेः,** नहीं है, क्योंकि उपलब्ध नहीं होता, में पञ्चमी होती है। **वह्निमान् पर्वतो धूमात्** यहाँ 'धूम' गुण नहीं तो भी पञ्चमी हुई। **प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते** (कठ०उ०), मूर्ख योगक्षेम के कारण प्रेय (प्यारी चीज) को प्राप्त करना चाहता है।

मा नस्तस्माद् एनसो देव रीरिषः (ऋ० ७।८९।५), हे देव हमें उस पाप के कारण न मारिये।

प्रतिनिधि और प्रतिदान अर्थ का द्योतक 'प्रति' शब्द कर्मप्रवचनीय होता है। प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः (१।४।९२)। मुख्य सदृश जो मुख्य के स्थानापन्न होता है उसे प्रतिनिधि कहते हैं। 'प्रतिदान' बदले में देने को कहते हैं।

प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात् (२।३।११)। जिसका प्रतिनिधि हो और जिसके बदले में दिया जाय तद्वाचक शब्द से कर्मप्रवचनीय युक्त होने पर पञ्चमी आती है—**अभिमन्युरर्जुनतः प्रति**। अभिमन्यु अर्जुन का प्रतिनिधि है। यहाँ पञ्चमी अर्थ में तसिप्रत्यय विकल्प से हुआ है, पक्ष में पञ्चमी भी रहेगी—**अर्जुनात् प्रति। प्रद्युम्नो वासुदेवतः प्रति।** प्रतिदान—**तिलेभ्यः प्रति यच्छति माषान्,** तिलों के बदले माष देता है। **धनात् प्रति मानं यच्छत्यधन्यः,** अभागा धन के बदले मान (आत्ममान) देता है। **उक्षाणं पक्त्वा सह ओदनेन अस्मात् कपोतात् प्रति ते नयन्तु।** (भा० वन० १९७। १५), बैल को ओदन के साथ पकाकर इस कपोत के बदले ले जायें।

पञ्चम्यपाङ्परिभिः (२।३।१०) अप, परि (दोनों वर्जन अर्थ में कर्मप्रवचनीय) तथा आङ(=आ) मर्यादा व अभिविधि अर्थ में कर्मप्रवचनीय के योग में पञ्चमी होती है—**अप त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः,** त्रिगर्त को छोड़ कर वृष्टि हुई। **परि परि त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः** यहाँ परि की द्विरुक्ति वैकल्पिक है। **परि त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः।** ऐसा भी कह सकते हैं। **अर्हयेन्मधुपर्केण परि संवत्सरात् पुनः।** (मनु० ३।११९), एक वर्ष छोड़ कर फिर मधुपर्क से पूजन

करे। **आकुमाराद् यशः पाणिनेः**। यहाँ आङ् अभिविधि में है। **आ काश्मीरेभ्य आ च कन्यान्तरीपाद् अयं लोको भारतं वर्षमुच्यते**, काश्मीर से कन्याकुमारी तक यह देश भारतवर्ष कहलाता है। **आ मूलाच्छ्रोतुमिच्छामि**, मैं प्रारम्भ से सुनना चाहता हूँ। **आ विन्ध्याद् उत्तरापथः**, विन्ध्याचल तक उत्तरापथ है। यहाँ आङ् मर्यादा अर्थ में है। **आ प्रणखात् सर्व एव सुवर्णः**। प्रणखः=प्रारम्भो नखस्य, नख का आदि।

वर्जनार्थक 'अप' के योग में रामायण का उदाहरण—

यत्सम्प्रत्यप लोकेभ्यो लङ्कायां वसतिर्भयात्।

पञ्चमी विभक्ते (२।३।४२)। जिस समुदाय वा व्यक्ति से किसी अन्य समुदाय वा व्यक्ति का भेद (=गुणकृत उत्कर्ष वा अपकर्ष) दिखाना हो, उससे पञ्चमी विभक्ति आती है—**माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः**, मथुरानिवासी पाटलिपुत्र निवासियों से अधिक धनी हैं। **न मनसः किञ्चनाऽऽशीयोऽस्ति** (श० ब्रा० ५।१।४।८), मन से अधिक शीघ्र चलने वाला कोई पदार्थ नहीं। **कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः** (गीता)। **मौनात्सत्यं विशिष्यते** (मनु०), चुप्पी से सच बोलना बढ़िया है। **नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं महत्** (मनु० ८।८२ के पश्चात् प्रक्षिप्त), सत्य से बढ़कर धर्म नहीं, और झूठ से बड़ा पाप नहीं। **संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते** (गीता), सम्मानित पुरुष का अपयश मृत्यु से भी बढ़कर है। **अपि राज्यादपि स्वर्गादपीन्दोरपि माधवात्। अपि कान्तासमासङ्गान्नैराश्यं परमं सुखम्॥** (यो० वा० ५।७४।४४), राज्य से भी, स्वर्ग से भी, चांद से भी, वसन्त से भी, प्रिया-समागम से भी नैराश्य (आशा-त्याग) बड़ा सुख है। **न ह्यतः पापात्पापीयो यदनुपकरणस्य दीर्घमायुः**। (चरक, सूत्र० ११।५), इससे बड़ा पाप नहीं जो साधनहीन जन की लम्बी आयु हो। **नान्यत् कर्मास्ति पापीयः क्षत्रियस्य पलायनात्**। (भा० शल्य० ३।५७), क्षत्रिय के लिये युद्ध से भागने के सिवा और बड़ा पाप नहीं है। **पापीयानश्वाद् गर्दभः** (तै० सं०), गधा घोड़े की अपेक्षा घटिया है। **विश्वस्माद् इन्द्र उत्तरः** (ऋ० १०।८६।१), इन्द्र सब से उत्कृष्ट है। **वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि। लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति॥** (उ० राम० २।७)। **प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयांस्ततोप्युञ्छः प्रशस्यते**। (मनु० १०।११२), दान लेने से शिल कणिश (छिट्टे) का आदान अच्छा है, उससे भी उञ्छ (खेत में खेती कटते समय गिरे हुए कणों (दानों) का चुनना) अच्छा है। **भिषग्भ्यो भिषक्तरा आपः**। (अथर्व० १९।२।३), जल वैद्यों से बड़ा वैद्य है। **भूयान् वै ब्राह्मणः क्षत्रियात्**। (ऐ०

ब्रा० ७।३।३)। **अपि हि भूयांसि शताद् वर्षेभ्यः पुरुषो जीवति।** (श० ब्रा० १।९।३।१९), पुरुष सौ वर्ष से भी अधिक वर्षों तक जीता है। **अभियुक्ततराः पक्षिणां पोषणे बन्धने च म्लेच्छाः** (आर्येभ्यः)। (शाबर भाष्य १।३।१०) अभियुक्ततराः= अधिक जानकारी रखने वाले।

द्वितीया विभक्ति के प्रसङ्ग में दूर-समीप-वाची शब्दों से पञ्चमी के कुछ उदाहरण दिये जा चुके हैं। यहाँ कुछेक और उदाहरण दिये जाते हैं—

नैव प्रवृत्तिं शृणुमस्तयोः कस्यचिदन्तिकात् (रा० ४।४९।६)। हमें उन दो के विषय में किसी से वार्ता नहीं सुनी। **क्रीणीयाद् यस्त्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकात्। स क्रीतकस्सुतस्तस्य ....॥** (मनु० ९।१७४), जिसे माता पिता से मोल में लेवे वह उसका 'क्रीतक' पुत्र कहलाता है। **त्यजेद् दूराद् भिषक्पाशान् पाशान् वैवस्वतानिव** । (अष्टाङ्ग० उत्तर० ४०।७६), कुचिकित्सकों को यम के फांसों के समान दूर छोड़ दे। 'भिषक्पाश' में पाशप् प्रत्यय निन्दार्थ में है। याप्ये पाशप् (५।३।४७)। **राज्ञः सकाशात्तेषां तु प्रतिज्ञातो वधो मया** । (रा०)। राजा (=महाराज दशरथ) के समीप मैंने उनके वध की प्रतिज्ञा की थी।

प्रभृति, आरभ्य, बहिः, ऊर्ध्वम्, परम्, उत्तरम् अनन्तरम्, पुरा आदि के योग में पञ्चमी आती है। प्रभृति—**कार्तिक्याः प्रभृति**, कार्तिक की पूर्णिमा से लेकर। **शैशवात्प्रभृत्यनागा अयं जनः पात्रं ते कृपामसृणस्य कटाक्षस्य**, बाल्यावस्था से ही निर्दोष यह जन तेरे दयामृदु दृक्पात का पात्र है। **अद्य प्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः** (कुमार० ५।८६), आज से हे सुन्दरी, मैं तेरा दास हूँ। यहाँ 'अद्य जो **अस्मिन्नहनि** के अर्थ को कहता है, **'अस्माद् अह्नः'** (आज दिन से) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ समझना चाहिये। आरभ्य—**मेरुपृष्ठादारभ्य ध्रुवपर्यन्तं ग्रहनक्षत्रतारागणचित्रितोऽन्तरिक्षलोकः**। (पा० योगभाष्य)। बहिस्—**जीवन्नसौ गृहाद् बहिर्नोपलभ्यत इत्यन्तर्गृहे भविष्यति**, वह जीता है, पर घर से बाहर नहीं दीखता, सो घर के अन्दर होगा। **स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः**। (मनु० २।१०३), जो पूर्वा सन्ध्या और पश्चिमा सन्ध्या समय भगवद् उपासना नहीं करता उसे द्विजों के सभी कर्मों से बाहिर निकाल देना चाहिये। ऊर्ध्वम्—**ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद् विन्देत सदृशं पतिम्**। (मनु० ९।९०), इस (तीन वर्ष के) समय के पीछे अपने योग्य पति को स्वयम् प्राप्त करे। **सप्तत्या ऊर्ध्वं संन्यासमुपदिशन्ति**। (बौ० ध० २।१०।१७।६), सत्तर वर्ष के उपरान्त संन्यास (परिव्रज्या) का विधान है। **भोजनं तु क्षत्रियस्योर्ध्वं ब्राह्मणेभ्यः**। (गौ० ध० १।५।४१)

क्षत्रिय का भोजन ब्राह्मणों के पीछे होता है । **वर्चः कर्म न कुर्वन्ति बाला ये च त्र्यहात्परम्।** (काश्यप सं० सूत्र० लेहा०), जो बच्चे तीन दिन के पीछे टट्टी नहीं करते। उत्तरम्—**अत उत्तरं न जानीमहे,** इससे आगे हम नहीं जानते। अनन्तरम्—**पुराणपत्रापगमाद् अनन्तरम्** (रघु० ३।७)। जीर्ण पत्रों के गिरने के पीछे। **त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्** (गीता १२।१२), त्याग के ठीक पीछे शान्ति प्राप्त होती है। **एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः**। (मनु० २।१९), यह ब्रह्मर्षि देश है जो ब्रह्मावर्त से किञ्चिद् ऊन है। कहीं-कहीं अनन्तर के योग में षष्ठी भी देखी जाती है—**अङ्गदं चाधिरूढस्तु लक्ष्मणोऽनन्तरं मम।** (रा०) । पुरा—**न पुराऽऽयुषः स्वःकामी प्रेयात्**, पूर्ण भोग्य आयु से पहले स्वर्ग चाहने वाला न मरे (=आत्महत्या न करे)। **गर्भाधानमृतौ पुंसः सवनं स्यन्दनात् पुरा।** (याज्ञ० १।१०)। प्रथमम्—**शयीत गुर्वनुज्ञातः प्रबुद्धः प्रथमं गुरोः।** (वेदव्यासस्मृति १।३५), गुरु की आज्ञा पाकर सोये और गुरु से पहले उठे ।

अधिक शब्द के योग में पञ्चमी तथा सप्तमी दोनों विभक्तियां सूत्र[१]-ज्ञापित हैं—**अधिको द्रोणः खार्याः। अधिको द्रोणः खार्याम्।**

पुत्रादपि धनभाजां भीतिः (मोहमुद्गर) । यहाँ पुत्र से पञ्चमी किसी शास्त्र से विहित नहीं, पर पञ्चमी भयेन (२।१।३७) सूत्र पर पढ़ हुए (**भयभीतभीतिभीभिरिति वाच्यम्**) इस वार्तिक से पञ्चमी ज्ञापित होती है।

षष्ठी

षष्ठी शेषे (२।३।५०) । शेष अर्थात् कर्मादि से भिन्न प्रातिपदिकार्थ-व्यतिरिक्त स्व-स्वामि-सम्बन्ध आदि की विवक्षा में (विशेषण से) षष्ठी होती है। इसे शैषिकी षष्ठी कहते हैं। —**राज्ञः पुरुषः** राजा का नौकर। यहाँ स्व-स्वामि-भाव सम्बन्ध है। **वृक्षस्य शाखा**—यहाँ अवयवाऽवयविभाव सम्बन्ध है। **सुवर्णस्य कङ्कणम्। हिरण्यस्य कुण्डलम्**—यहाँ प्रकृति–विकार–भाव सम्बन्ध है। **अश्वस्य घासः, वासस्य भवनम्**—यहाँ तादर्थ्य सम्बन्ध है। **वसन्तु मे भगवन्त** इति। (छां० उ० ५।११।१५), महामहिमशाली आप मेरे पास ठहरें। यहाँ सामीप्य-सम्बन्ध है। इनमें कर्मादि कारक कुछ भी नहीं।

---

१. **यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनम्** (२।३।९) से पञ्चमी ज्ञापित होती है। **तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड्डः** (५।२।४५) से सप्तमी ज्ञापित होती है।

कारकत्व की अविवक्षा में भी षष्ठी होती है—**कच्चिद् भर्तुः स्मरसि सुभगे त्वं हि तस्य प्रियेति,** क्या तू हे सुन्दरी, भर्ता का स्मरण करती है, तू उसकी प्यारी है न। यहाँ 'भर्तृ-सम्बन्धी स्मरण' ऐसा कहने की इच्छा है, 'भर्तृ-कर्मक स्मरण' ऐसा कहने की इच्छा नहीं। 'विवक्षातः कारकाणि भवन्ति' यह हम पहले ही इस प्रकरण के आदि में कह आये हैं। कर्ता वा कर्म में कृद्योग (=कृत्प्रत्यय के योग) में जो षष्ठी होती है वह कारक विभक्ति है, उसे कृद्योगलक्षणा षष्ठी कहते हैं। यह भी कारकविभक्तियों के निरूपण में बताया जा चुका है। 'स्मरति' के प्रयोग में जो यहाँ षष्ठी हुई है वह कर्म की शेषत्व विवक्षा में षष्ठी है ऐसा भी कहने का ढंग है। अधि इक् भी स्मरणार्थक अदादि धातु है। इस के प्रयोग में भी षष्ठी होती है—**यदि स्तुतस्य मरुतोऽधीथ** (ऋ० ७।५६।१५)। हे मरुत् देवो ! यदि आपको स्तुति का स्मरण है। **कियत् स्विद् इन्द्रो अध्येति मातुः कियत् पितुः** (ऋ० ४।१७।१२), इन्द्र माता को कितना स्मरण करता है, पिता को कितना स्मरण करता है। लोक में **इन्द्रोऽध्येति** ऐसा सन्धि-विधि से कहेंगे। इन सब उदाहरणों में कर्म की विवक्षा में द्वितीया विभक्ति भी हो सकती है—**भर्तारं स्मरसि** इत्यादि। दय् भ्वा० आ० के प्रयोग में कर्म की शेषत्व विवक्षा में षष्ठी होती है अन्यथा यथाप्राप्त द्वितीया—**हे प्रभो दयस्व मे विषमस्थितस्य,** हे प्रभो, संकट में पड़े हुए मुझ पर दया करो। द्वितीया—**दयस्वेमं कृपणं जनम्**। दय् के दान, गति, रक्षण (=दया करना), हिंसा और आदान (लेना) ये पांच अर्थ हैं। इन सब में कर्म की शेषत्व विवक्षा में षष्ठी होगी। ईश् के प्रयोग में भी इसी प्रकार षष्ठी होती है—**इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे** (=ईष्टे) **पृथिव्याः**। (ऋ० १०।८९।१०), इन्द्र द्युलोक का स्वामी है, इन्द्र पृथिवी का स्वामी है। इन उदाहरणों में **अधीगर्थदयेशां कर्मणि** (२।३।५२) विधायक शास्त्र है। अधीगर्थ =अधि इक् अर्थ=स्मरणार्थक।

कृञः प्रतियत्ने (२।३।५३)। सतो गुणान्तराधानं प्रतियत्नः, विद्यमान पदार्थ में नये गुण का आधान करना 'प्रतियत्न' कहलाता है। कृञ् धातु के प्रयोग में जब प्रतियत्न प्रतीयमान हो तब शेषत्वेन विवक्षित कर्म कारक में षष्ठी होती है अन्यथा यथाप्राप्त द्वितीया—**एधो दकस्योपस्कुरुते,** ईंधन पानी में नया गुण (उष्णत्व) लाता है। 'एध' यहाँ अदन्त है, असन्त भी होता है—एधस्। अदन्त पुं० है और असन्त नपुं०। उदक के स्थान में यहाँ 'दक' शब्द का प्रयोग हुआ है। अमर कोष का पाठ भी है—जीवनं भुवनं दकम्। प्रतियत्न

अर्थ में कृ को सुट् का आगम होता है और इससे आत्मनेपद प्रत्यय ही आते हैं। इससे 'उपस्कुरुते' यह साधुरूप निष्पन्न होता है। **विभ्रमो रूपस्योपस्कुरुते**, विभ्रम—विलास, ललित रूप में और नया गुण लाता है। कर्मत्व-विवक्षा में कर्म में द्वितीया भी होगी—**एधो दकमुपस्कुरुते**।

रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः (२।३।५४)। **अज्वरिसन्ताप्योरिति वक्तव्यम्।** ज्वरि (ज्वर्-णिच्), सन्तापि (सन्तप्—णिच्) को छोड़ कर भाव-प्रत्ययान्त के कर्ता होने पर रुजार्थक धातुओं के प्रयोग में शेषत्वेन विवक्षित कर्म कारक में षष्ठी होती है, अन्यथा यथाप्राप्त द्वितीया—**चौरस्य रुजति रोगः। चौरस्यामयत्यामयः।** यहाँ अम रोगे चुरादि धातु है। 'आमय' रोग को कहते हैं। पर **चौरं ज्वरयति ज्वरः**, चोर को ज्वर पीड़ित कर रहा है। **चौरं सन्तापयति तापः**, चोर को ज्वर-ताप सन्तप्त कर रहा है—यहाँ षष्ठी नहीं होती।

आशिषि नाथः (२।३।५५)। आशीर्वाद के अर्थ में वर्तमान नाथ् धातु के प्रयोग में शेषत्वेन विवक्षित कर्मकारक में षष्ठी होती है, अन्यथा द्वितीया—**सर्पिषो नाथते**—सर्पिर् अस्य स्याद् इत्याशास्ते, इसे घृत प्राप्त हो ऐसा ईश्वर से चाहता है। आशीरिष्टजनाशंसा, अपने प्यारे के लिये भगवान् से कुछ चाहना 'आशिस्' है। प्रकृत में '**आशिषि नाथः**' इस वार्तिक से नाथ् धातु से आशिस् अर्थ में ही आत्मनेपद का नियम कर दिया गया है यद्यपि यह धातु याच्ञा आदि सभी अर्थों में अनुदात्तेत् (आत्मनेपदी) पढ़ी है।

जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम् (२।३।५६)। हिंसार्थक इन धातुओं के प्रयोग में शेषत्वेन विवक्षित कर्म कारक में षष्ठी होती है अन्यथा द्वितीया। जसु हिंसायाम् जसु ताडने, चुरादि का ग्रहण है। इन दोनों अर्थों में उद् पूर्वक जस् का प्रयोग होता है— **चौरस्योज्जासयति नृपालः**, राजा चोर को मरवा देता है। **वृषलस्य धर्ममुच्चरमाणस्योज्जासयति वर्णाश्रमाणां गोपायिता प्रजेशः**, धर्म का उल्लङ्घन करने वाले शूद्र को वर्णाश्रमों की रक्षा करने वाला राजा दण्ड देता है। निप्रहण—यहाँ हन् का निपूर्वक, प्र-पूर्वक और नि-प्र-पूर्वक तथा प्र-निपूर्वक ग्रहण इष्ट है। दो (उपसर्गों) के एक साथ ग्रहण को सङ्घात-ग्रहण कहते हैं, जुदा-जुदा ग्रहण को विगृहीत ग्रहण कहते हैं और भिन्नक्रम से एक साथ ग्रहण को विपर्यस्तग्रहण कहते हैं। **मृगयुर्मृगाणां निहन्ति** (प्रहन्ति, निप्रहन्ति, प्रणिहन्ति), व्याध मृगों को मारता है। **कण्टकानप्युन्नाटयति भूतिमिच्छन्नरेशः**, ऐश्वर्य की कामना करने वाला राजा क्षुद्र शत्रुओं को भी नष्ट करता है। यहाँ उद्पूर्वक नट अवस्यन्दने चुरादि धातु का प्रयोग है, धातु

स्वतः तथा उपसर्ग-साहचर्य से अनेकार्थक होते हैं इस सिद्धान्त के अनुसार उद् पूर्व नट् का अर्थ यहाँ हिंसा है । **मा तेऽनागसः प्रजाः पिपीडन्निति क्राथयति क्रूराणां पारिपन्थिकानां प्रभुः**, निर्दय लुटेरे अनपराधी प्रजा को न पीड़ित करें इस हेतु राजा उन्हें नष्ट करता है । क्रथ हिंसार्थ में भ्वादि परस्मैपदी धातु है और घटादि होने से 'मित्' है, अतः णिच् परे रहते इसे वृद्धि नहीं होनी चाहिये थी, पर वृद्धि इष्ट है, इसलिये सूत्रकार सूत्र में इसे वृद्धि-युक्त पढ़ते हैं । **मर्यादाः परिपिपालयिष्यन्राजा पिनष्टयाततायिनाम्**, मर्यादाओं की रक्षा करना चाहता हुआ राजा आततायिओं को चूर्ण कर देता है । इन सब उदाहरणों में कर्मत्व की विवक्षा में यथाप्राप्त द्वितीया भी होगी । जब हिंसा अर्थ न होगा तो शैषिकी षष्ठी भी नहीं होगी—**धानाः पिनष्टि** ।

व्यवहृपणोः समर्थयोः (२।३।५७) । समानार्थक व्यवहृ (वि अव हृ) तथा पण् भ्वा० आ० धातुओं के प्रयोग में शेषत्वेन विवक्षित कर्म कारक में षष्ठी होती है । अन्यथा यथाप्राप्त द्वितीया । समर्थ=सम-अर्थ=समानार्थक । शकन्ध्वादि होने से पररूप हुआ है । **शतस्य व्यवहरति**, क्रयविक्रय अथवा द्यूत में सौ (रुपया) लगाता है । **सहस्रस्य पणते**, हजार रुपया लगाता है । कर्मत्व विवक्षा में **शतं व्यवहरति** । **सहस्रं पणते** भी कह सकते हैं ।

उपरि-निरूपित सूत्र समुदाय **षष्ठी शेषे** (२।३।५०) का ही प्रपञ्चमात्र है । विशेषकर शेषे कर्मणि षष्ठी कैसे होती है इसका निदर्शनमात्र करना आचार्य को अभीष्ट है । अन्यत्र भी शेषत्व विवक्षा में षष्ठी देखी जाती है । कुछेक रोचक उदाहरण साहित्य से उद्धृत किये जाते हैं—**सा लक्ष्मीरुपकुरुते यया परेषाम्** (किराते ७।२८) । **तातो रामस्य सत्कृत्य विधिना पावकोपमाः** (रा० ३।१।१६) । **यैरस्माकमपकृतम्** (=यैर्वयमपकृताः), **तेषां मया क्षान्तम्** (=ते मया क्षान्ताः) (कुल्लूक, मनु० ७।२०१) । **यूयमेवास्य जानीत योऽयं यद्वा करिष्यति** रा० ५।४२।९), तुम ही इसके विषय में जानो जो यह है और जो कर्म यह करेगा । **श्राद्धानामुपविष्टानां भगवन् वक्तुमर्हसि** (हरि० ३।७।१०); हम श्रद्धायुक्त होकर बैठे हैं, हमें कृपया बताइये । श्राद्धानामुपविष्टानाम्=श्राद्धानुपविष्टान् अथवा श्राद्धेभ्य उपविष्टेभ्यः ऐसा भी कह सकते हैं । **शृण्वन्तु मे श्रद्दधानस्य देवाः** । (अथर्व० ४।३५।७) । कर्मत्व विवक्षा में भगवान् व्यास का वचन उदाहार्य है—**ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न हि कश्चिच्छृणोति माम्**, मैं बाँह उठाकर चिल्ला रहा हूँ मुझे कोई सुनता नहीं । **यथा वै भरतो मान्यस्तथा भूयोपि राघवः । कौसल्यातोऽतिरिक्तं च मम शुश्रूषते बहु ॥** (रा० २।८।१८), कौसल्या से अधिक मेरी सेवा करता

है। **उदञ्च उ एव यन्ति वाचं शिक्षितुं यो वा तत आगच्छति तस्य वा शुश्रूषन्ते** (कौ० ब्रा० ७।३), उत्तर को जाते हैं वाणी सीखने के लिये, अथवा उससे उसका उच्चारण सुनना चाहते हैं जो वहां से आता है। कर्मत्व की विवक्षा में यथाप्राप्त द्वितीया होगी—**कच्चिच्छुश्रूषसे तात पितरं सत्यविक्रमम्** । (रा० २।१००।७) । **कच्चिन्न श्रद्दधास्यासाम्** (रा० २।१००।४९), आशा है तुम इनका विश्वास तो नहीं करते होंगे। यह राम का भरत के प्रति प्रश्न है। **स यद्यदर्शमित्याहाऽथाऽस्य श्रद्दधति** । (ऐ० ब्रा० १।६), यदि वह कहता है कि मैंने देखा है तो उसका विश्वास करते हैं। **इन्द्रस्य हि स प्रणमति यो बलीयसो नमति** । (कौ० अर्थ० १२।१।१६२) वह इन्द्र को प्रणाम करता है जो बलवान् को प्रणाम करता है। **तस्य दैत्यस्य दुर्बुद्धेर्मृधे प्रतिकरिष्यति** । (हरि० १।५४।४४), उस मूढ दैत्य से युद्ध में बदला लेगा।

दूसरे कारकों की अविवक्षा में भी षष्ठी होती है—**रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्तात्** । (साङ्ख्य का० ५९), जिस प्रकार रङ्गस्थ समाज को नृत्य दिखा कर नटी लौट जाती है। यहां 'रङ्गाय' के स्थान पर 'रङ्गस्य' का प्रयोग है। **स तेजो वैष्णवं पत्न्योर्विभेजे चरुसंज्ञितम्** । (रघु० १२।५४) । यहाँ विभेजे=विभज्य ददौ, बाँट कर दिया। सम्प्रदान की अविवक्षा करके शेषत्व विवक्षा में षष्ठी 'पत्न्योः' में की है। **तं क्षुरप्रशकलीकृतं कृती पत्त्रिणां व्यभजत्** । (रघु० ११।२९), उसे खुरपे से टुकड़े करके पक्षियों को बाँट कर दे दिया। यहां भी 'पत्त्रिणाम्' पत्त्रिभ्यः के स्थान में शैषिकी षष्ठी है। **यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह** (=भाजयत इह) **नः**। (ऋ० १०।९।२), तुम्हारा जो अत्यन्त कल्याणकारी रस है उसमें हमें भागी बनाओ। **एकमेव क्षेत्रमन्यस्याधिं कृत्वा किमपि गृहीत्वा पुनरप्यन्यस्याधाय किमपि गृह्णाति** (मिताक्षरा २।२३), एक ही क्षेत्र को किसी के पास गिरवी रखकर उससे कुछ लेकर दुबारा किसी और के पास गिरवी रख कर कुछ ले लेता है। यहाँ अधिकरणत्व की अविवक्षा करके 'अन्यस्य' में शैषिकी षष्ठी हुई। **या यस्य युज्यते भूमिका तां खलु भावेन सर्वे वर्ग्याः पाठिताः** । (मालती) । जो जो पार्ट जिस जिस के योग्य है उसे वर्ग के प्रत्येक व्यक्ति को सूत्रधार ने पढ़ा दिया है। यहाँ भी 'यस्य' 'यस्मिन्' के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है। **भवद्गिरामवसरप्रदानाय वचांसि नः** (माघ० २।८)। यहां सम्प्रदान की अविवक्षा करके सम्बन्धमात्र में 'गिराम्' में षष्ठी की है। **तृप्तैर्विराधमांसानां गृध्रैः** .... । (महावीर० ५।८), विराध राक्षस के मांस से तृप्त हुए गीधों से। यहाँ करणत्व

की अविवक्षा में 'मांसानाम्' में षष्ठी हुई। करणत्वविवक्षा में तृतीया निर्बाध होगी—**न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः**, मनुष्य धन द्वारा तृप्त नहीं किया जा सकता। **सुखानामुचितस्यैव दुःखैरनुचितस्य च** । (रा० २।१३।११), जो सुखों से (नित्य) सम्बद्ध है, और दुःखों से असम्बद्ध है। यहां 'सुखानाम्' में जो षष्ठी हुई है वह अधिकरणत्व की अविवक्षा में शैषिकी षष्ठी है। दुःखैः यहाँ तृतीया सहार्थ में समझनी चाहिये। 'उच समवाये' दिवा० अकर्मक धातु है। उचित=समवेत=सम्बद्ध, युक्त। योग्य, न्याय्य अभ्यस्त अर्थ तो औपचारिक है। यहाँ 'षष्ठ्यर्थे तृतीया' ऐसा टीकाकारों का कहना मूलार्थ की उपेक्षा करना है। षष्ठी के अर्थ में तृतीया क्यों हो ?

कृत्वोर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे । (२।३।६४) कृत्वसुच्, सुच् क्रियाभ्यावृत्ति की संख्या को कहने वाले प्रत्ययों के प्रयोग होने पर शेषत्वेन विवक्षित अधिकरण में षष्ठी होती है, अन्यथा यथाप्राप्त सप्तमी—**योऽह्नो द्विः पथ्यमश्नाति स सुखमश्नुते**, जो दिन में दो बार पथ्य भोजन करता है वह सुख पाता है। **यो दिनस्य पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते स औदरिको दुःख्यति**, जो दिन में पांच बार खाता है वह पेटू दुःखी होता है। अधिकरणत्व की विवक्षा में सप्तमी भी होगी—**अह्नि द्विः, दिने पञ्चकृत्वः**।

जहाँ षष्ठ्यन्त से अवयव का बोध होता है, जहाँ अवयव शब्दोक्त नहीं होता, वह भी सम्बन्ध में होने से शैषिकी षष्ठी है—**तेषां** (सोमानां) **पाहि श्रुधी हवम्** (ऋ० १।२।१)। उन सोमों को जो तेरा अपना भाग है उसे पी और हमारी पुकार को सुन। 'पिब' के स्थान में वेद में 'पाहि' प्रयुक्त हुआ है। 'शृणु' के स्थान में 'श्रुधि' जो संहिता पाठ में दीर्घ हो गया है। **यद्वताऽन्नस्य लभेमहि** (छां० उ० १।१०।६) अन्नस्य=अन्नस्य मात्राम्, कुछ अन्न। **माध्यमिकस्य सवनस्य दध्नः पिबेन्द्र वज्रिन् पुरुकृज्जुषाणः** । (अथर्व० ७।७६।१), मध्याह्न में निकाले हुए सोमरस तथा दही का कुछ अंश, हे बहुकर्मकारी वज्रधारी इन्द्र, तू प्रसन्न होकर पी। **सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन** (ऋ० १०।८५।३)। **इदं मम भाति, तदस्माकमयुक्तं भासते**—भा, तथा भास् आदि अकर्मक धातुओं के प्रयोग में कर्मादि के अभाव में शेष=सम्बन्ध में षष्ठी की ही प्राप्ति है।

सम्बन्ध मात्र में षष्ठी के कुछेक और उदाहरण—

कृत्स्नो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः, शत्रुश्चाबुद्धिमताम् (चरक, विमान० ८।६८), समस्त संसार बुद्धिमानों का आचार्य है, अबुद्धिमानों का शत्रु है। **विषं गोष्ठी दरिद्रस्य**, निर्धन के लिये सभा विष है। **कथमिहैव युवयोरस्तमितः सूर्यः**

(विक्रमोर्वशी अंक ३ पृ० ७२), क्या तुम्हें यहीं सूर्य अस्त हो गया ? **विषस्य विषयाणां च दृश्यते महदन्तरम् । उपभुक्तं विषं हन्ति विषयाः स्मरणादपि ॥** विष और विषयों में बड़ा अन्तर है। विष तो खाया हुआ मार देता है, विषय स्मरणमात्र होने पर मार देते हैं।

षष्ठी हेतुप्रयोगे (२।३।२६) हेतु के द्योतक शब्द से हेतु शब्द का प्रयोग होने पर षष्ठी होती है और हेतु शब्द से भी —**अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ।** (रघु० २।४७), थोड़े के कारण बहुत का परित्याग करना चाहते हुए तुम मुझे घबड़ाये हुए मालूम पड़ते हो। **अध्ययनस्य हेतोरिह वाराणस्यां वसामो न त्वन्नस्य**, हम यहाँ वाराणसी में अध्ययन के कारण रहते हैं न कि भोजन के कारण।

सर्वनाम्नस्तृतीया च । (२।३।२७) हेतु का परामर्शक सर्वनाम उसके तथा हेतु शब्द के प्रयोग होने पर हेतु द्योत्य होने पर षष्ठी होती है, सर्वनाम से भी और हेतु शब्द से भी–**कस्य हेतोरिह वससि, अधीत्यां तु न रमते मनस्ते**, तुम यहां किस लिये ठहरे हो, पढ़ने में तो तुम्हारा मन लगता नहीं। तृतीया भी—**केन हेतुनाद्य चिरेणागाः**, आज किस कारण देर से आये हो ?

निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम् (वा०) । निमित्त, हेतु, कारण इत्यादि समानार्थक शब्दों के प्रयोग में प्रायः सभी विभक्तियाँ आती हैं। जो सर्वनाम नहीं, उससे प्रथमा और द्वितीया नहीं आतीं—**किं निमित्तम्, केन निमित्तेन, कस्मान् निमित्तात्, कस्य निमित्तस्य, कस्मिन्निमित्ते स प्रतिश्रुत्यापि नागतः,** क्या कारण है कि वह प्रतिज्ञा करके भी नहीं आया। इसी प्रकार **किंकारणम्, को हेतुः, कं हेतुम्** इत्यादि उदाहरण होंगे। इस प्रसङ्ग में चतुर्थी का प्रयोग नहीं मिलता। संभव है वह होता ही नहीं। **नटी—आर्य ! निमन्त्रिता मया भगवन्तो ब्राह्मणाः । सू०—कथय कस्मिन्निमित्ते** । (मुद्रा० प्रथमाङ्क) ।

षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन (२।३।३०) । अतसुच् (अतस्) प्रत्यय का जो अर्थ है उस को कहने वाले अस्ताति (अस्तात्), अस् जो प्रत्यय, तदन्त के योग में षष्ठी विभक्ति आती है—अतसुच्– **दक्षिणतो ग्रामस्य सरिद् उत्तरतश्च पर्वतकः,** ग्राम के दक्षिण की ओर नदी है, उत्तर में पहाड़ी है। अस्ताति—**कान्तासंमिश्रदेहोप्यविषयमनसां यः परस्ताद् यतीनाम्** (मालविका १।१), अपनी प्रिया पर्वती के साथ नित्य अभिन्न शरीर वाले भगवान् शिव निर्विषय मन वाले यतियों से भी परे हैं। अस्— **पुरो मे याहि, प्रतिष्कशो मे भव**, मेरे आगे चलो, मेरे मार्गप्रदर्शक बनो। अधः (अस्प्रत्ययान्त) के योग में षष्ठी तो होती ही है—**वृक्षस्याधः सुप्तः**, पर अमर के 'कफोणिः कूर्पराद् अधः' इस वचन में जो पञ्चमी प्रयुक्त हुई

है वह इस आधार पर है कि कहीं-कहीं उत्सर्ग (=सामान्य) शास्त्र अपवाद शास्त्र के विषय में भी प्रवृत्त हो जाता है।

पुरतः—यह अव्युत्पन्न प्रातिपदिक अव्यय है, अतसुच् प्रत्ययान्त नहीं है। इसका अर्थ 'सामने, आगे, पहले' होता है। इसके योग में षष्ठी होती है—**पुरतः** (=पूर्व, पहले) **कृच्छ्रकालस्य धीमान् जागर्ति पूरुषः** (भारत)। **सर्वेशमेव वर्षाणां मेरु रुत्तरतः स्थितः**। जम्बुद्वीप आदि वर्षों के उत्तर में मेरु पर्वत स्थित है।

उपरि, उपरिष्टात् भी अतसुच्-अर्थक अस्तातिप्रत्यय से निष्पन्न हुए हैं—इनके योग में भी षष्ठी होती है। **पश्य शिरसस्तवोपरि भ्रमति भ्रमरः। उपर्युपरि सर्वेषामादित्य इव तेजसा** (भा० वन० ५३।२)। यहाँ आम्रेडित उपरि-उपरि होने पर भी द्वितीया नहीं हुई, कारण कि सामीप्य विवक्षित नहीं।

दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम् (२।३।४ ३)। दूर व समीप अर्थ वाले अव्ययों के योग में षष्ठी विकल्प से होती है, उससे जिससे दूर व जिसके समीप कहना हो— **नगरस्य नगराद्वा दूरे ऋषेराश्रमः। प्रासादस्य प्रासादाद् वाऽविप्रकृष्टमुद्यानम्। कूपस्य समीपं** (कूपात्समीपे) **जलाशयः।**

स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च (२।३।३९)। स्वामिन्, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षिन्, प्रतिभू, प्रसूत—इनके योग में षष्ठी और सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं—**गवां स्वामी, गोषु स्वामी धनाढ्य इति पुरा व्यपदिश्यते,** बहुत सी गौओं के मालिक को पूर्व समय में धनी कहते थे। **परिग्रहेषु चास्य स्वामी भविष्यामि** (योग-भाष्य २।३३), मैं इसके परिजनों का स्वामी बन जाऊँगा। **पित्र्यस्य ऋक्थस्य (पित्र्ये ऋक्थे) ज्येष्ठ एव सुत ईश्वरो भवतीत्याङ्गलेषु समयाचारः,** पिता के धन का ज्येष्ठ पुत्र ही स्वामी बनता है ऐसी आङ्गल जाति में प्रथा है। **गवाम् अधिपतिः (गोष्वधिपतिः) मान्यते लोकेन। दुहिता पैतृकस्य धनस्य (पैतृके धने) दायादा भवतीत्येके नेतीत्यपरे,** लड़की पिता के धन की भागिनी होती है ऐसा कोई मानते हैं; नहीं होती, ऐसा दूसरे। **हृद्देशे स्थितः परमेश्वरः सर्वभतकर्मणां (सर्वभूत-कर्मसु) साक्षी। ग्रन्थकृत्प्रमादानां (ग्रन्थकृत्प्रमादेषु) लेखका न प्रतिभुवः,** ग्रन्थकार के प्रमादों के उत्तरदायी लेखक (लिपिकर) नहीं हैं। **कस्या धन्यायाः (कस्यां धन्यायाम्) प्रसूतमिदं, पुत्त्ररत्नम्,** किस बड़भागिन स्त्री से इस पुत्ररत्न का जन्म हुआ है।

आयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम् (२।३।४०)। आयुक्त और. कुशल के योग में षष्ठी और सप्तमी विभक्तियाँ आती हैं, जब इनका अर्थ 'तत्पर' हो—

आयुक्तः कटकरणस्य (**कटकरणे**) । **कुशलः कटकरणस्य** (**कटकरणे**) । **कुशलाश्च स्मृतिमतिशास्त्रयुक्तिज्ञानस्य** (चरक, सूत्र० २९।७) ।

तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम् (२।३।७२) । तुल्य के पर्याय सम, समान, सदृश के योग में तृतीया भी विकल्प से होती है। षष्ठी तो सम्बन्ध विवक्षा में प्राप्त ही है। जब तृतीया नहीं होती तो षष्ठी होती है—**देवदत्तो यज्ञदत्तेन गुणैस्तुल्यः । देवदत्तो यज्ञदत्तस्य गुणैस्तुल्यः**, देवदत्त गुणों के कारण यज्ञदत्त के तुल्य है। **विष्णुमित्रः पित्रा सदृशो दाक्षिण्येन**। पक्ष में **पितुः सदृशः** । तुला, उपमा के योग में तृतीया नहीं होती—**रामस्य तुला नास्ति । कृष्णस्योपमा नास्ति**, राम के सदृश कोई नहीं, कृष्ण के समान कोई नहीं। **तुलां यदारोहति दन्तवाससा** (कुमार०)—कालिदास के इस प्रयोग में 'तुला' का अर्थ सादृश्य है, सदृश नहीं, सदृशार्थक तुला और उपमा शब्दों का सूत्र में पर्युदास है ऐसा मल्लिनाथ टीकाकार समाधान करते हैं। तत्त्वबोधिनीकार सूत्र में सादृश्य अर्थ मानते हुए यहाँ सहार्थ में तृतीया हुई है ऐसा स्वीकार करते हैं।

चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः (२।३।७३) । आशीर्वाद अर्थ में आयुष्य, मद्र भद्र, कुशल, सुख, अर्थ, हित और इनके पर्यायों के योग में विकल्प से चतुर्थी होती है। यह शेष विषय में चतुर्थी का विधान है। पक्षान्तर में षष्ठी निर्बाध होगी— **आयुष्यं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा भूयात्**, देवदत्त की लम्बी आयु हो। **चिरं जीवितं यज्ञदत्ताय यज्ञदत्तस्य वा भूयात्** । **कुशलम्** (**आरोग्यम्, निरामयम्**) **विष्णुमित्राय भूयाद् विष्णुमित्रस्य वा**। सुख का पर्याय शम् है, अर्थ का प्रयोजन है, हित का पथ्य है। आशिस् अर्थ न होगा तो केवल षष्ठी होगी— **आयुष्यं देवदत्तस्य तपः**, देवदत्त का चिर जीवन तप (तपोमय) है।

पञ्चमी भयेन (२।१।३७) इस सूत्र से ज्ञापित होता है कि भय, भीत, भीति, भी आदि के योग में पञ्चमी होती है, पर ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र इस न्याय के अनुसार कहीं-कहीं षष्ठी भी दीखती है—**दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद् भोगाय कल्पते** (मनु० ७।२२) ।

सप्तमी

सप्तम्यधिकरणे च (२।३।३६) । अधिकरण में सप्तमी विभक्ति का निरूपण कारक विभक्ति प्रकरण में हो चुका। सूत्र में 'च' से दूर-समीपवाची शब्दों से सप्तमी का विधान किया है। यह सप्तमी स्पष्ट ही कारक विभक्ति नहीं। **विरहिणीयं परिकर्मापि न रोचयते, दूरे भूषणानि**, यह पति वियुक्ता अङ्गना

शरीर का संस्कार (चन्दन आदि द्वारा) भी नहीं चाहती, भूषण तो दूर रहे। **यस्य नाम स्मरति प्रियो जनो नाऽसौ दूरे, अन्तिक एव सः,** जिसको अपना प्यारा स्मरण करता है, वह दूर नहीं है, समीप ही है।

यस्य च भावेन भावलक्षणम् (२।३।३७)। जिस की (प्रसिद्ध) क्रिया से (किसी दूसरे की) अन्य क्रिया लक्षित होती है उस क्रियावान् से सप्तमी आती है। क्रिया का आश्रय कर्ता व कर्म होते हैं, सो यहां कर्ता अथवा कर्म में सप्तमी विधान की जा रही है। वाक्य में एक तिङ होता है, एक तिङन्तपद होता है जो प्रधान क्रिया को कहता है। जो लक्षण-भूत क्रिया है वह उस क्रिया का विशेषण है, सो उसकी अपेक्षा गौण है। अतः वह कृत्-प्रत्यय से कही जाती है—**वृष्टे देवे यथेष्टमवृधत् सस्यम्,** जब बादल बरस चुका तो खेती यथेष्ट रूप से बढ़ी। **आयान्तीषु विपत्सु दारुणासु धीरा अपि विमुह्यन्ति,** दारुण विपत्तियों के आने पर धीर भी घबड़ा जाते हैं। **वितायमाने यज्ञे ऽनिमन्त्रिता अप्युपातिष्ठन्त विप्राः,** जब यज्ञ किया जा रहा था, बिन बुलाये भी ब्राह्मण उपस्थित हो गये। **अग्निषु हूयमानेषु स गतः, हुतेषु चागतः,** गार्हपत्यादि अग्नियों में जब होम किया जा रहा था तब वह गया, जब होम हो चुका, तो आ गया। **वातेनापनीतेषु जलदेषु दिवाकरस्तिग्मतरां चकाशे,** वायु द्वारा जब मेघ दूर हो गये तो सूर्य बहुत तेज चमका। **असमाप्त एव प्रवचनकर्मणि सहसोदतिष्ठन् कुतोपि सन्त्रस्ताः सदस्याः,** अभी प्रवचन (व्याख्यान) समाप्त नहीं हुआ कि किसी कारण डरे हुए सामाजिक एकदम उठ खड़े हुए। **सति विभवे न जीर्णमलवद्वासाः स्यात्** (गौ० ध० १।९।४), सामर्थ्य हो तो पुराने मलिन वस्त्र न पहने। **परिवेत्ता ऽनुजे ऽनूढे ज्येष्ठे दारपरिग्रहात्** (अमर)। यहाँ अनूढे=अनूढे सति। अनूढ=अनूढदार, जिसने विवाह नहीं किया। बड़े के अविवाहित रहते यदि छोटा भाई विवाह करता है तो उसे 'परिवेत्तृ' कहते हैं। **कलिकामात्रेष्वाम्रेषु गतः पक्वेषु चागतः।** यहाँ भी कलिकामात्रेषु सत्सु समझना चाहिये।

नरेश्वरे जगत्सर्वं निमीलति निमीलति।
सूर्योदय इवाम्भोजं तत्प्रबोधे प्रबुध्यते॥ (हितोप० ३।१४२),

यहां पहला 'निमीलत्' पद **शत्रन्त** का सप्तम्यन्त है। इस सप्तमी को भावलक्षणा सप्तमी कहते हैं।

षष्ठी चानादरे (२।३।३८)। जब भावलक्षण में अनादर भी गम्यमान हो तो सप्तमी पूर्ववत् होती ही है, षष्ठी भी होती है—**रुदति पुत्रे रुदतः पुत्रस्य प्राव्रजत् पिता,** पिता ने पुत्र के रोते हुए ही संन्यास ले लिया। रुदति पुत्रे इत्यादि= पुत्रं रुदन्तमनादृत्य—रोते हुए पुत्र की न परवाह करके। **पश्यति स्वर्णस्वामिनि जने,**

पश्यतः स्वर्णस्वामिनो जनस्य, स्वर्णं हरति स्वर्णकार इति पश्यतोहर इत्युच्यते, स्वर्ण के मालिक केदेखते-देखते स्वर्ण चुरा लेता है, अतः स्वर्णकार को 'पश्यतोहर' कहते हैं। **अकामानां च सर्वेषां सुहृदामर्थदर्शिनाम्। अकरोत् पाण्डवाह्वानं धृतराष्ट्रः सुतप्रियः॥** (भा० सभा० ७४।२७), स्वार्थहीन, वस्तु-तत्त्व-दर्शक सब हिती मित्रों के होते हुए पुत्रप्रिय धृतराष्ट्र ने पाण्डवों को युद्ध के लिये ललकारा। **अथैनां पश्यतो राज्ञः पातयित्वा पदाऽवधीत्** । (भा० विराट्० १६-१०, तब राजा के देखते-देखते उसने (कीचक ने) उसे (द्रौपदी को) गिराकर पाओं से ठुकराया। यहाँ आङ्पूर्वक हन् समझना चाहिये, अथवा केवल हन् का ताड़न अर्थ भी है—शिष्यशिष्टिरवधेन (गौ० ध० १।३।४८)। अर्थात् शिष्य को ताडन किये बिना (भर्सत्न आदि से) दण्डित करना (चाहिये)। **यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च। हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः॥** (मनु० ८।१४), जिस सभा में धर्म अधर्म से, सत्य अनृत (झूठ) से मारा जाता है, जब कि सभासद् देखते रहते हैं, उस सभा के सभासद् नष्ट हो जाते हैं। **नन्दाः पर्यायभूताः पशव इव हताः पश्यतो राक्षसस्य** (मुद्रा० ३।२७)। पर्यायभूताः—एक एक करके क्रम प्राप्त। महाभारत में अनादर न होने पर भी केवल भावलक्षण में षष्ठी पाई जाती है—**भाषतो बहु काकस्य बलिनः पततां वराः** (भा० कर्ण० ४१।२१)। यह प्रयोग अपाणिनीय है। पाणिनि मत से षष्ठी अनादर के बिना नहीं होती। सप्तमी ही होती है।

यतश्च निर्धारणम् (२।३।४१)। जाति, गुण, क्रिया द्वारा समुदाय में से एकदेश को जुदा करना (एक व्यक्ति को समुदाय में सबसे उत्कृष्ट वा अपकृष्ट बताना) निर्धारण कहलाता है। जिस समुदाय से निर्धारण होता है, उससे षष्ठी व सप्तमी विभक्ति होती है—**मनुष्याणां क्षत्रियः, मनुष्येषु क्षत्रियः शूरतमः। गवां गोषु वा कृष्णा सम्पन्नक्षीरतमा,** गौओं में काली गौ सबसे अधिक स्वादु दूध वाली होती है। **अध्वगानां धावन्तः शीघ्रतमाः,** रास्ता चलने वालों में दौड़ने वाले सबसे अधिक तेज चलने वाले होते हैं।

निर्धारण अर्थ में षष्ठी सप्तमी के अन्य उदाहरण—**लोहितशालयः शूकधान्यानां पथ्यतमाः,** साठी के चावल सिट्टे वाले अनाज में सबसे अधिक पथ्य हैं। **द्रव्येषु किमुत्तमं मृगदृशां प्रेम्णा प्रसन्नं मुखम्** (भर्तृ० १।७), दर्शनीय पदार्थों में उत्तम क्या है। मृगनयनी स्त्रियों का प्रेम से खिला हुआ चेहरा। **मित्रो वै शिवो देवानाम्** (तै०सं०), मित्र देवता देवताओं में सबसे मङ्गलकारी है। **इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम्**। (ऋ० १०।८६।११, अथर्व० २०।१२६।११)। यहाँ नारिषु' लौकिक 'नारीषु' के स्थान में है। 'अश्रवम्' यह अशृणवम् अथवा

अश्रौषम् (लुङ्) के स्थान में है। **गर्दभः पशूनां भारभारितमः** (तै० सं० ५।१।५।४), गधा पशुओं में सबसे अधिक बोझ ढोने वाला है। **सर्वेषां तैलजातानां तिलतैलं विशिष्यते**। (चरक, सूत्र १३।१२)। **सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते**। (मनु०)। **नकुलो दर्शनीयतमो नृणाम्**, नकुल सब मनुष्यों में अधिक सुन्दर है। ऐसा भाव महाभारत सभा० ७७।४२ में कहा है। **यथा हि गङ्गा सरितां वरिष्ठा तथाऽर्जुनीनां कपिला वरिष्ठा**। (भा० अनुशा० ७७।८)। अर्जुनी—गौ। **भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः। बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः॥** (मनु० १।९६)।

निमित्तात्कर्मसंयोगे (वा०)। कर्म के साथ संयुक्त अथवा समवेत निमित्त (क्रिया के निमित्त) से सप्तमी विभक्ति आती है। यह हेतु अर्थ में तृतीया का अपवाद है।

चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम्। केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः॥ चाम के लिये चीते को मारता है, दाँतों के लिए हाथी को मारता है, बालों के लिये नीलगाय को मारता है, अण्डकोष के लिये गन्धमृग (कस्तूरी मृग) को मारता है। यहाँ हनन क्रिया के निमित्त चर्मन्, दन्त, केश, तथा सीमन् हैं और ये सब हनन क्रिया के कर्म द्वीपिन् आदि में समवेत हैं, अवयव होने से समवाय सम्बन्धसे सम्बद्ध हैं। यहाँ कुछेक लोग 'पुष्कलक' का शङ्कु खूंटा अर्थ मानकर और हतः को निहतः=निखातः के अर्थ में स्वीकार करके चतुर्थ चरण का 'सीमा परिज्ञान के लिये खूंटा गाड़ा गया' ऐसा व्याख्यान करते हैं। इस तरह कर्म के साथ निमित्त का संयोगमात्र होता है। संयोग–सम्बन्ध में अन्य उदाहरण देते हैं—वस्त्रेष्ववधीद् दासीं कृष्णः, कृष्ण ने वस्त्रों के लिये (जिन्ह वह उठाई जा रही थी) दासी को मार दिया। श्लोक के प्रथम तीन चरणों में स्पष्ट ही निमित्त का कर्म के साथ समवाय सम्बन्ध है, चतुर्थ चरण में भी यही सम्बन्ध होना चाहिये। तो भी पुराने व्याख्यानकारों को प्रमाण मानते हुए हमने दोनों सम्बन्ध वार्तिक में अभिप्रेत हैं ऐसा स्वीकार किया है।

साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः (२।३।४३)। **अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम्** (वा०)। साधु और निपुण शब्दों के योग में सप्तमी विभक्ति होती है जब जो साधु वा निपुण है उसका आदर प्रतीत हो और प्रति, परि, अनु का प्रयोग न हो—**साधुर्देवदत्तो मातरि**। साधुवृत्त इत्यर्थः। देवदत्त अच्छा लड़का है जो माता के प्रति अच्छा व्यवहार करता है। **निपुणो देवदत्तः पितरि**, देवदत्त पिता से कुशलता से व्यवहार करता है यह उसकी प्रशंसा है।

प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च (२।३।४७)। प्रसित (=प्रसक्त:=**अवबद्ध**, लगा हुआ) और उत्सुक के योग में सप्तमी विभक्ति आती है और तृतीया भी—**यः केशेषु (केशैर्वा) प्रसक्तः स केशक उच्यते,** जो बाल संवारने में लगा रहता है उसे 'केशक' कहते हैं। **चिरमदृष्टा भवन्त इति भवतां दर्शने (दर्शनेन वा) नितान्तमुत्सुका वयम्**, आप को देखे हुए चिर हो गया अतः हम आप के दर्शन के बहुत उत्सुक हैं।

सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये (२।३७)। कारक शक्तियों के बीच में जो काल और अध्वा उनसे सप्तमी और पञ्चमी विभक्तियां आती हैं। यहाँ काल से सप्तमी और अध्वा से पञ्चमी ऐसा **संख्यातानुदेश** (पहले को पहला अनुदेश और दूसरे को दूसरा) नहीं होता, दोनों से दोनों विभक्तियां आती हैं—**अद्य भुक्त्वा देवदत्तो द्व्यहे द्व्यहाद्वा भोक्ता,** आज खाकर देवदत्त दो दिन के पश्चात् खायेगा। काल-भेद से कारक शक्तियों का भेद हो जाता है, कारक (कर्ता) के एक होते हुए भी। इस वाक्य में कर्तृ-शक्तियों के मध्य में काल (द्व्यह) है। अध्वा—**इहस्थोऽयं क्रोशे क्रोशाद्वा लक्ष्यं विध्येत्**, यह (धनुर्धारी) यहीं ठहरा हुआ कोस की दूरी पर लक्ष्य को बींध सकता है। यहाँ कर्तृ शक्ति और कर्मशक्ति (लक्ष्य) के बीच में अध्वा है।

यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी (२।३।९)। अधिरीश्वरे। (१।४।९७) जिस से अधिक कहना हो अथवा जिसे ईश्वर=स्वामी कहना हो, उससे कर्मप्रवचनीय-युक्त होने पर सप्तमी विभक्ति आती है। ईश्वर=स्वस्वामि-भाव-सम्बन्ध में अधि कर्मप्रवचनीय-संज्ञक होता है। 'उप' की अधिक अर्थ में कर्मप्रवचनीय संज्ञा पूर्व कही जा चुकी है। अधिक अर्थ में—**उप खार्यां द्रोणः**, द्रोण खारी से अधिक है। **उप परार्धे हरेर्गुणाः**, हरि के गुण परार्ध संख्या से भी अधिक हैं। अधि के योग में 'स्व' से भी सप्तमी आती है, और 'स्वामी' से भी—**अधि पञ्चालेषु देवदत्तः**, देवदत्त पञ्चाल का स्वामी है। **अधि देवदत्ते पञ्चालाः**, पञ्चाल देश देवदत्त के अधीन है॥

अनुबन्धः

प्रकरणान्तर प्रारम्भ करने से पूर्व हमें इस प्रकरण में कुछ वक्तव्य शेष है, उसे कहते हैं। इस प्रकरण के छपते-छपते ऐसे अनेक प्रयोग हमारी दृष्टि में आये जो विषय-वैशद्य में अत्यन्तोपकारक हैं और साथ ही अतिरुचिर हैं। उनके असंकलित रहते हमें अपरितोष रहता। अतः उन्हें यहाँ अनुबन्ध-रूप में देना हमने उचित समझा। यह भी अनुभव में आया कि कहीं-कहीं जितना कहना चाहिये था उतना कहा नहीं गया अथवा कुछ स्थल अनुक्त ही रहे, अतः वक्तव्य की परिपूर्णता के लिये अवशिष्टांश दिया जाता है।

द्वितीया

श्रद्-धा के कर्म में शेषत्व विवक्षा करके षष्ठी का प्रयोग दिखा चुके हैं। कर्म की विवक्षा में यथाप्राप्त द्वितीया होगी—**श्रद्दधे त्रिदश गोपमात्रके दाहशक्तिमिव कृष्णवर्त्मनि** (रघु० ११।४२)। **न सूदतां वल्लव श्रद्दधामि ते** (भा० विराट० ८।८)। **कः श्रद्धास्यति भूतार्थम्** (मृच्छक० ३।२४)। कहीं-कहीं धातु को अकर्मक मान कर अधिकरणत्व की विवक्षा में सप्तमी भी देखी जाती है—**नाश्रद्दधच्च शाल्वपतिः कन्यायां भरतर्षभ** (भा० उद्योग० १७३।२४), शाल्वपति ने कन्या में विश्वास नहीं किया। अश्रद्दधत् के स्थान में श्रददधात् ऐसा व्याकरण के अनुसार रूप होना चाहिये। वेद में चतुर्थी का प्रयोग भी मिलता है—**श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः** (ऋ० २।१२।५)। **श्रदस्मै नरो वचसे दधातन** (=धत्त) (शु० यजु: ८।५)।

श्वानं बस्तो बोधयितारमब्रवीत् (ऋ० १।१६१।१३)। बस्त=छाग=बकरा। यहाँ 'बोधयितारम्' में विधेय से द्वितीया हुई है। अर्थ है—बकरे ने कहा कि कुत्ता जगाने वाला है।

श्रोता हवं नाधमानस्य कारोः (ऋ० १।१७८।३)। प्रार्थी स्तोता ऋषि की पुकार को सुनना (इन्द्र) का स्वभाव है। यहाँ तृन् प्रत्यय के योग में कर्म में (हवम् यहाँ) द्वितीया हुई।

जि द्विकर्मक है और 'परा जि' भी। **अविद्यो दुर्बलः श्रीमान् हिरण्यममितं**

मया । अजेयो बलदेवोऽयमक्षद्यूते पराजितः (हरिवं० ६१।३२) ॥ यहाँ हिरण्य मुख्य कर्म है और बलदेव गौण कर्म है । **सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु** (ऋ० १०।४८।५) । सोम रस का निष्पादन करते हुए तुम मुझ से धन मांगो । याचता =याचत । संहिता पाठ में दीर्घ हुआ है । इत् निपात केवल-पर्याय है । **अविनीतं विनयं याचते** । यहाँ याच् अनुनय=प्रार्थना से अनुकूल बनाना अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ऐसा तत्त्वबोधिनीकार मानते हैं । इसके अनुसार 'अविनीत से विनय के लिये अनुनय करता है । मतान्तर में याच् यहाँ अभ्युपगम-प्रार्थना में प्रयुक्त हुआ है । इसके अनुसार 'अविनीत से विनयाऽभ्युपगम की प्रार्थना करता है' ऐसा अर्थ होगा । इन दोनों अर्थों में कर्मविषयक गुणप्रधान-भाव का विपर्यास हो जाता है । प्रथम अर्थ में 'विनय' अकथित होकर गौण कर्म है और 'अविनीत' प्रधान कर्म है । द्वितीय अर्थ में इसके विपरीत । **क्रुद्धं प्रसादं याचते**—यहाँ तो अनुनय अर्थ ही स्वीकार करना होगा । **तमीमहे सुमती** (=सुमत्या) **शर्म सप्रथः** (ऋ० ९।७४। १) । यहाँ ईङ गतौ दिवा० का याचन अर्थ में प्रयोग है । प्रथस्—सकारान्त है ।

अकर्मक धातुएँ धात्वन्तर के अर्थ को अपने अन्दर लेकर जिस प्रकार सकर्मक हो जाती हैं उसे हम दिखा चुके हैं । उसके एक-दो और उदाहरण दिये जाते हैं—**कस्माद्वा प्रायमास्यते** (रा० ४।५६।२४) । प्रायमुद्दिश्यास्यते ऐसा अर्थ है । **उपविष्टास्तु ते सर्वे तस्मिन्प्रायं धराधरे** (रा० ४।५६।१) । वे सब उस पर्वत पर अनशन के निमित्त बैठ गये ।

निपात से अभिहित होने पर कर्म में द्वितीया न होकर प्रथमा होती है इसका एक सुन्दर वैदिक उदाहरण—**भूमिरिति त्वाऽभिप्रमन्वते जना निर्ऋतिरिति त्वाहं परिवेद सर्वतः** (अथर्व० ६।८४।१) । जिस तुझ को लोग भूमि समझते हैं उस तुझ को मैं सम्पूर्ण रूप से निर्ऋति समझता हूँ ।

कर्मप्रवचनीय के योग में द्वितीया के उदाहरण दिये जा चुके हैं, एक दो और उदाहरण देते हैं—**मा शुचः सम्पदं दैवीमभि जातोसि पाण्डव** (गीता १६।५) । यहाँ अभि कर्मप्रवचनीय के योग में 'सम्पदम्' में द्वितीया हुई । सम्पदमभि—सम्पदमभिलक्ष्य । **मानुषान् अति गन्धर्वान् सर्वान् गन्धर्व लक्षये** (भारत) । अति-क्रमण अर्थ में अति कर्मप्रवचनीय है ।

राजानो राजपुत्राश्च धृतराष्ट्रमनुव्रताः (भा० ३।३५।३०) । **अभ्यगच्छ-दवीनात्मा दमयन्तीमनुव्रतः** (भा० ३।५४।२७) । **वैश्याः क्षत्रमनुव्रताः** (रामायण) । **अपि वृषलमनुरक्ताः प्रकृतयः** (मुद्रा०) । **समस्थमनुरज्यन्ति विषमस्थं त्यजन्ति च** (रामायण) । यहाँ विचारणीय है कि धृतराष्ट्रम्,

दमयन्तीम्, क्षत्रम्, वृषलम्, तथा समस्थम् में द्वितीया कैसे आई । अनुव्रतः= अनुकूलं व्रतमस्य। यहाँ 'अनु' समास का अवयव है । अनुरक्त भी एक प्रादि तत्पुरुष समास है जिसका 'अनु' पूर्वपद है । 'रज्यन्ति' कर्मकर्तरि प्रयोग है। यक् के स्थान में श्यन् और आत्मनेपद के स्थान में परस्मैपद पूर्वदेशवर्ती आचार्यों के मत से हुआ है। हमें ऐसा भासता है कि लक्षण अर्थ में **अतिरिक्त** 'अनु' का प्रयोग होना चाहिये था। पर 'अनुव्रत' में अवयव-भूत 'अनु' को ही पर्याप्त समझा गया। इसमें वक्ता का आलस्य और विभ्रम दोनों कारण हैं। उपपद के बिना ही उपपद विभक्ति आ रही है। हम कह चुके हैं कि सर्वा उपपद- विभक्तयः षष्ठ्यपवादिकाः। अतः उपपद के अभाव में षष्ठी का प्रयोग होना चाहिये और ऐसा होता भी है—**अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः** (अथर्व० ३।३०।२)। अनुरक्त तथा अनुरज्यन्ति में 'अनु' कर्मप्रवचनीय नहीं है इस में **अशुद्धप्रकृतौ राज्ञि जनता नानुरज्यते** (पञ्चतन्त्र १।३०१) । **भ्रातुर्मृतस्य भार्यायां योऽनुरज्येत कामतः** (मनु० ३।१७३) इत्यादि में सप्तमी का प्रयोग ज्ञापक है। यह हमारा अभ्यूह इस बात से समर्थित होता है कि अन्यत्र भी कर्मप्रवचनीय उपपद के अभाव में तन्निमित्तक द्वितीया देखी जाती है—**नगरमभिमुखं यदा हृता....यमुना यमस्वसा** (हरिवं० २।६२।१८) । **आवर्जितमिवाभाति गङ्गामभिमुखं नृप** (हरिवं० २।६०।१५) । यहाँ जब तक कर्मप्रवचनीय-संज्ञक स्वतन्त्र 'अभि' शब्द का अध्याहार न किया जाय तब तक द्वितीया अनुपपन्न रहती है । हां इतना यहाँ अधिक समझना चाहिये कि उसी कर्मप्रवचनीय उपपद के अभाव में द्वितीया व्यवहाराभ्यनुज्ञात है जो तत्सम्बद्ध अनुव्रत आदि के पूर्वावयव 'अनु' आदि के साथ समान-ध्वनि अर्थात् तद्रूप हो।

कर्मप्रवचनीय के योग में उस-उस विभक्ति के प्रयोग दिखाते हुए हमने कर्म-प्रवचनीय का लक्षण नहीं कहा, सो उसे कहते हैं—

कर्मप्रवचनीय यह महती संज्ञा है, और महती संज्ञा अन्वर्थक (सार्थक) होती है, अन्यथा लाघव के लिये संज्ञा की जाती है, तो उसे लघु होना चाहिये। कर्म-प्रवचनीय शब्द में कर्म का अर्थ क्रिया है। अनीयर् प्रत्यय यहाँ कर्ता में तथा भूतकालमें हुआ है। सामान्यतः कृत्य प्रत्यय भाव-कर्म में तथा काल-सामान्य में विधान किये गये हैं। पर कृत्यल्युटो बहुलम्—इस शास्त्र से ये जहाँ नहीं भी कहे हैं वहाँ भी हो जाते हैं। अतः **कर्म क्रियां प्रोक्तवन्तः कर्मप्रवचनीयाः** ऐसा व्युत्पत्त्यर्थ होता है और यही इनका लक्षण है। भगवान् भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में एक कारिका में इनका असन्दिग्ध विशद रूप उपस्थित किया है। वह कारिका यह है—

क्रियाया द्योतको नायं न सम्बन्धस्य वाचकः ।
नापि क्रियापदाक्षेपी सम्बन्धस्य तु भेदकः ॥

अनु आदि जो अनुभूयते सुखम् इत्यादि में क्रियापद के प्रयोग होने पर क्रिया-विशेष का द्योतन कर चुके हैं, अर्थात् जो अब क्रियापद के न होने पर उसे द्योतन नहीं कर रहे, जो षष्ठी की तरह सम्बन्ध के वाचक नहीं हैं, (कारण कि इनके योग में द्वितीयादि विभक्तियाँ ही सम्बन्ध की वाचिका हैं), जो प्रादेशं विपरिलिखति इत्यादि में 'वि' आदि की तरह विमान (मापना) आदि क्रिया का आक्षेप नहीं करते (ऐसा करने से द्वितीया आदि कारक विभक्तियाँ बन जायेंगी और सम्बन्धमात्र की प्रतीति न होगी), किन्तु जो द्वितीया आदि विभक्ति से उक्त सम्बन्ध को हेतुहेतुमद्भावादि विशेष सम्बन्ध में अवस्थापित करते हैं वे कर्मप्रवचनीय कहलाते हैं, जैसे **शाकल्यस्य संहितामनुप्रावर्षत्** में संहिता ऽनुनिशमन (संहिता-पाठ-श्रवण) और प्रवर्षण (वृष्टि-प्रारम्भ) के द्वितीया विभक्ति से सम्बन्ध को 'अनु' हेतुहेतुमद्भाव-रूप विशेष सम्बन्ध में अवस्थापित करता है।

एनप् (एन) तद्धित प्रत्यय कई लोगों के मत में सप्तम्यन्त तथा प्रथमान्त किसी भी दिग्वाची शब्द से आ जाता है, केवल दक्षिण, उत्तर, अधर से ही नहीं। एनप् प्रत्ययान्त के योग में द्वितीया होती है। अतः 'परेण' और 'अवरेण' के योग में भी द्वितीया साध्वी होगी—**अवरेण वै देवान् काव्याः परेणैव पितॄन्** (ऐ० ब्रा० ३।३७)। काव्य=कवि—शुक्राचार्य के गोत्रज देवताओं से इस ओर हैं अर्थात् अपकृष्ट हैं और पितरों से परे (=उत्कृष्ट) हैं। **याश्चैतं परेणापो याश्चावरेण** (श० ब्रा० ७।१।१।२४)। **सोऽयमग्निः परेण मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते** (श० ब्रा० १४।४।१।१३)। **परेणास्मान्प्रैहि वै हव्यवाह** (भा० १।८४।१४)। **तथा चरति तिग्मांशुः परेण भुवनं सदा** (भा० ३।२९८८)। जिन के मत में 'परेण' में एनप् प्रत्यय दुर्लभ है अतः जो इसे तृतीयान्त-सुबन्त प्रतिरूपक अव्यय मानते हैं, वे इसके योग में पञ्चमी अथवा षष्ठी का प्रयोग करते हैं—**किं वा मृत्योः परेण विधास्यति** (मालती २।२)। **स्तन्यत्यागात् परेण** (उत्तररा० २।७)। **परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नापि दापयेत्** (मनु० ८।२२३)।

अन्तरेण (=मध्ये) के योग में द्वितीया का एक और उदाहरण—**यस्य गार्हपत्याहवनीयावन्तरेणाऽनो वा रथो वा श्वा वा प्रतिपद्येत** (ऐ० ब्रा० ७।१२)।

प्रति (निपात) के योग में द्वितीया का एक और उदाहरण—**अथ याः कोसलेन्द्रस्य शयनं प्रत्यनन्तराः** (रा० श्लेगलसम्पादित २।६५।१२)। **मुहूर्त्तं भव सौमित्रे वैदेह्याः प्रत्यनन्तरः** (रा० ३।२६।४)। यहाँ प्रति स्वतन्त्र पद नहीं, 'प्रत्यनन्तर' का पूर्वावयव है। अतः षष्ठी हुई।

निकषा के योग में द्वितीया के एक-दो और उदाहरण—**निकषा यमुनां राजंस्ततो युद्धमवर्तत** (हरिवं० १६०३८)। **विलङ्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति** (शिशु० १।६८)।

धिक् के योग में द्वितीया का प्रयोग ही पाणिनीय है, प्रथमा का नहीं। **धिगर्थाः कष्टसंश्रयाः** (पञ्च०)। **धिङ् माता मम कैकेयी यया पापमिदं कृतम्** (रा० ६।८२।१७)। यहाँ प्रथमा का प्रयोग अनुकरणीय नहीं।

तृतीया

असत्ववचन स्तोक से करण में तृतीया और पञ्चमी के उदाहरण—

स्तोकेन रुष्टा दयिताय नारी स्तोकादुपेता पुनरेव तोषम्, स्त्री अपने प्रिय से थोड़ी-सी बात से रुष्ट हो गई और थोड़ी-सी बात से पुनः प्रसन्न हो गई।

करण कारक में तृतीया का रुचिर उदाहरण—**करेण येन प्रविनष्टि कुञ्जरान्न तेन सिंहो मशकान्प्रबाधते** (पञ्च० १।२२६)। जिस अपने पंजे से सिंह हाथियों को चूर्ण-चूर्ण कर देता है उससे मच्छरों को नहीं पीड़ित कर सकता। **रघुवीर-पत्नीम्.....अञ्जलिभिः प्रणेमुः** (रघु० १४।१३) यहाँ 'अञ्जलिभि': में करण में तृतीया हुई। अञ्जलिबन्ध द्वारा प्रणाम रूप क्रिया की निष्पत्ति हुई। **शिरसा प्रणमति देवम्**—यहाँ भी शिरस् से करण में तृतीया हुई है।

जहाँ किसी प्रकार का भी साहचर्य विवक्षित हो वहाँ सह अथवा सहार्थक अव्यय के योग में तृतीया होती है—**अनार्यसङ्गमाद्...... वरं विरोधोपि समं महात्मभिः।** यहाँ विरोध का महात्माओं के साथ साहचर्य-सम्बन्ध विवक्षित है। **नैयायिकमतादन्ये भेदं वैशेषिकैः सह। न मन्यन्ते मते तेषां पञ्चैवास्तिक-वादिनः॥** यहां हमें इतना ही कहना है—**प्रभवति प्रायौगिकी विवक्षा,** प्रयोगों में शिष्ट-जनों की विवक्षा बलवती है। जहाँ विरोध अथवा भेद हो वहाँ साहचर्य कैसा?

नाना (=पृथक्) के योग में बोपदेवधृत उदाहरण—**विश्वं न नाना शम्भुना।**

हेत्वर्थ में तृतीया का औपनिषद उदाहरण—**अथ हैनं वसत्योपमन्त्रयाञ्चक्रे** (बृ० उ० ६।२।३), अब उसे निवास के निमित्त बुलाया।

दूर शब्द से प्रातिपदिकार्थ में तृतीया का एक और उदाहरण—**दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद् धनञ्जय** (गीता २।४९)। बुद्धि-योग से सकाम कर्म कहीं निकृष्ट है।

चतुर्थी

सम्प्रदान में चतुर्थी—**न पूर्वं गुरवे किञ्चिदुपकुर्वीत धर्मवित्** (मनु० २। २४५)। यहाँ उपकुर्वीत=**दद्यात्**। समावर्तन से पहले धर्मज्ञ ब्रह्मचारी गुरु को धनादि न दे।

स्पृह् के प्रयोग में ईप्सित अर्थ की सम्प्रदानता में चतुर्थी का एक शिक्षा-प्रद वैदिक उदाहरण—**न दुरुक्ताय स्पृहयेत्** (ऋ० १।४१।९)। दुर्वचन की इच्छा न करे।

तादर्थ्य में चतुर्थी—**नीयतां परलोकाय साध्वयं कुलपांसनः** (भा० २।२४८०)। यहाँ द्विकर्मक 'नी' के प्रयोग में प्रधान कर्म (अयम्) उक्त है, और तादर्थ्य की विवक्षा होने से 'परलोक' में चतुर्थी हुई, अकथित गौण कर्म की विवक्षा न होने से द्वितीया नहीं हुई।

क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम्—से चतुर्थी का एक भव्य उदाहरण—

तामर्चिताभ्यः कुलदेवताभ्यः कुलप्रतिष्ठां प्रणमय्य माता (कुमार० ७। २७)। नम् धातु यहाँ प्रह्वीभाव मात्र में अकर्मक माना गया है। नमस्कार अर्थ में यह सकर्मकतया प्रसिद्ध है।

नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मः (बृ० उ० ३।१।२)। यहाँ भी 'ब्रह्मिष्ठाय' में क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम् से सम्प्रदान में चतुर्थी हुई है। नमस् की विकल्प से गति संज्ञा की है। गति-उपसर्ग-संज्ञकों के प्रयोग विषय में यह नियम है कि वे धातु से अव्यवहित पूर्व प्रयुक्त हों। यहां नमस् की गति संज्ञा न होने से प्रयोग नियम नहीं है, अतः इसका धातु से दूर व्यवहित प्रयोग भी निर्दोष है।

स्वस्ति (उपपद) के योग में चतुर्थी का योग-भाष्य से एक उदात्तार्थ उदाहरण—**स्वस्ति वः स्वप्नोपमेभ्यः कृपणेभ्यः कृपणजनप्रार्थनीयेभ्यो विषयेभ्यः** (यो० सू० ३।५१ का भाष्य), स्वप्नसदृश, क्षुद्र तथा क्षुद्र जनों द्वारा अभि-लषणीय विषयो तुम्हारा भला हो।

अलम् (पर्याप्तार्थक) के योग में वैदिक उदाहरण—**अरं** (=अलम्) **त इन्द्र कुक्षये सोमो भवतु वृत्रहन्** (ऋ० ८।८१।२४)। हे वृत्रघातक इन्द्र, सोम तेरे उदर के लिये पर्याप्त हो।

पञ्चमी

अपादाने पञ्चमी के कुछ और उदाहरण—

बलाहकाद् विद्योतते विद्युत्। यहाँ निःसरण क्रिया की अपेक्षा में बलाहक

अपादान है । बलाहकान्निःसृत्य विद्योतते विद्युत्, वक्ता की ऐसी विवक्षा है। ऐसी विवक्षा न होने पर **बलाहके विद्योतते विद्युत्**, ऐसा कहेंगे । **जहार शिरः कायात्** (हरिवं० २।६०।९) । यहाँ जहार=अपजहार=चिच्छेद, पृथक् चकार। **तृतीये तु मुहूर्ते सा नष्टा बाणपुरात्तदा** (हरिवं० २।११८।९६) । नष्टा–अदर्शनं गता, अपगता । **ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तदा । आशासते कुटुम्बिभ्यः.... ॥** (मनु० ३।८०) । आशासते—प्रार्थयन्ते । (कृष्णेन) **आत्मा विशोधितः पापाद् विनिर्जित्य स्यमन्तकम्** (हरिवं० ३८।४४) । **त्वं पुनीहि दुरितान्यस्मत्** (अथर्व० १९।३३।३) । **अद्भ्यो हिरण्यं पुनन्ति** (तै० सं० ६।१।७।१), जल में से छान कर सुवर्ण निकालते हैं । **पाप्मभ्यश्च पुनातु वर्धयतु च श्रेयांसि सेयं कथा** (उत्तररा० ७।२०) । यह कथा हमें पापों से पृथक् कर शुद्ध करे और कल्याण की वृद्धि करे। **मा प्रगाम पथो वयम्** (ऋ० १०।५७।१) । हम मार्ग से परे न जायें । **आखुभ्यो गृहं मार्ष्टि** (शोधयति) **मार्जारः** (अमरोद्‌घाटन में क्षीरस्वामी) । **कण्ठग्राहान्निरस्तासुर्वीरमार्गान्निराकृतः** (हरिवं० २।३०।८७) । स्वर्ग और कीर्ति को वीर मार्ग कहते हैं। निराकृतः=भ्रष्टः । **गावो वर्षभयात्तीर्णा वयं तीर्णा महाभयात्** (हरिवं० २।२०।३) । तीर्णाः=उत्तीर्णाः=निर्गताः ।

जनिकर्तुः प्रकृतिः—इस सूत्र के कुछ और उदाहरण—**कथमसतः सज्जायेत** (छां० उ० ६।२।२) । असत् (—अविद्यमान) से सत्तावान् पदार्थ कैसे उत्पन्न हो । **वानस्पत्यः फलैः पुष्पात्** (अमर) । यहाँ पुष्प गम्यमान जन् धातु की अपेक्षा में उत्पद्यमान फल-रूप अर्थ के प्रति अपादान है । पुष्पात्=पुष्पाज्जातैः । फल में हेतु अर्थ में तृतीया है ।

जनिकर्तुः सूत्र में प्रकृति शब्द के अर्थ पर विचार ।

प्रकृत सूत्र में प्रकृति शब्द से कारणमात्र लिया जाता है ऐसा वृत्तिकार मानते हैं। भाष्य तथा कैयट में तो केवल उपादान कारण लिया गया है । यदि कारणमात्र अर्थ मान लिया जाय तो **दण्डाद् घटो जायते, तुरीवेमादितः पटो जायते** इत्यादि स्थलों में भी इस सूत्र की प्रवृत्ति होने लगेगी। वस्तुतः दण्डादि में पञ्चमी की उपपत्ति बाहुलकं प्रकृतेस् तनुदृष्टेः—इस वार्तिक का आश्रयण करके 'विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्' सूत्र की प्रायिक प्रवृत्ति होती है ऐसा मानने से सुलभ है। रही **पुत्रात्प्रमोदो जायते** में पुत्र की अपादानता की सिद्धि। जायमान प्रमोद के प्रति पुत्र उपादान कारण नहीं, कार्य के साथ समान देश वाला कारण उपादान होता है। ठीक है। इसका समाधान इस तरह किया जाता है —पुत्र

शब्द यहाँ 'पुत्रस्थ सौशील्यादि सद्गुणों का ज्ञान' इस अर्थ में उपचरित हुआ है। यह ज्ञान प्रमोद रूप में परिणत हो जाता है। यथाश्रुत पुत्र का मुख्यार्थ ग्रहण करने पर तो मूर्ख पतित आदि पुत्र से भी प्रमोद होने लगेगा, जो अत्यन्त दुर्घट है।

आयुधेभ्यो विजमानः पराङ्‌ वैति (ऐ० ब्रा० ७।१९)। विज् भय तथा चलन अर्थ में पढ़ी है।. यहाँ भय अर्थ है अतः 'आयुधेभ्यः' में पञ्चमी हुई। विज् प्रायः उद्-पूर्वक प्रयुक्त होती है पर निरुपसर्गक विज् का प्रयोग भी निर्दोष है, इसमें यह वचन प्रमाण है।

अस्तभ्नान्मायया द्यामवस्रसः (ऋ० २।१७।५)। उसने अपनी अद्भुत शक्ति से द्युलोक को गिरने से रोक रखा है। यहाँ वारणार्थानामीप्सितः से 'अवस्रसः' में पञ्चमी हुई। **न धर्मात् प्रतिषेधनम्** (मनु० १०।१२६)। ईप्सिततमत्व की विवक्षा में 'धर्म' की कर्म संज्ञा होगी, पर कृद्योग (ल्युट्-प्रत्ययान्त प्रतिषेधन शब्द के साथ योग) होने से 'धर्म' शब्द से षष्ठी होगी—न धर्मस्य प्रतिषेधनम्।

अग्नेर्माणवकं वारयति। कूपादन्धं वारयति। यहाँ अग्नि और कूप से पञ्चमी कैसे उपपन्न होती है। अग्नि और कूप न तो वारण करने वाले को अभिप्रेत हैं और न वार्यमाण (जिसे रोका जा रहा है) को। सूत्र में क्रिया ग्रहण करना चाहिये—वारणार्थानां धातूनां प्रयोगे क्रियया ईप्सितोऽर्थोऽपादानम् ऐसा सूत्रार्थ होता है। अन्ध आदि को भी अपनी गमनादि क्रिया द्वारा कूपादि प्राप्तव्य होने से ईप्सित ही हैं।

आङ् कर्मप्रवचनीय के योग में पञ्चमी के एक-दो और उदाहरण—**ओदकान्तादा वनान्तात् प्रियं प्रोष्यमनु व्रजेत्** (भाष्य)। **ओदकान्तात् स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्य इति श्रूयते** (शाकुन्तल ४)। जल के समीप तक (प्रवास करते हुए) प्यारे बन्धु के साथ जाना चाहिए।

क्विन्प्रत्ययान्त अञ्च् के योग में औपनिषद उदाहरण—**ये चामुष्मात् पराञ्चो लोकाः** (छां० उ० १।६।८)। जो उससे परे लोक हैं।

दूरान्तिकार्थ शब्दों से प्रातिपदिकार्थ में द्वितीया, तृतीया, पञ्चमी विभक्ति होती है। उनके उदाहरण दिये जा चुके हैं। पञ्चमी का एक और वाग्व्यवहार-परिचायक उदाहरण दिया जाता है—**महामोहस्य विवेकसकाशात्पराजयः** (प्रबोधचन्द्रोदय)। सकाश=समीप।

षष्ठी

कृद्योग लक्षणा षष्ठी के एक-दो और उदात्तार्थ श्रौत व स्मार्त उदाहरण दिये जाते हैं—**उत त्रातासि पाकस्याथो हन्ताऽसि रक्षसः** (अथर्व० ४।१९।३)। तू सरल मुग्ध जन का रक्षक है और राक्षस का घातक है।

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः (मनु० २।२३४)॥

जिससे ये तीन (गुरु, माता, पिता) पूजे जाते हैं इत्यादि। आदृत में वर्तमान अर्थमें क्त है और उसके योग में कर्ता (तद्, यद्) में षष्ठी हुई है।

शैषिकी षष्ठी के अन्य उदाहरण—

कारकत्व की अविवक्षा में जो षष्ठी होती है उसे 'शैषिकी षष्ठी' अथवा 'सम्बन्ध मात्र में षष्ठी' कहते हैं। यहाँ हम व्यवहार कौशलार्थ इस षष्ठी के कुछ और उदाहरण देते हैं— **ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत** (श्रीमद्भागवत १।१।८)। यहाँ कर्मता अथवा सम्प्रदानता की अविवक्षा करके सम्बन्धमात्र में 'शिष्य' से षष्ठी की है। **तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति** (गीता ६।३०। हरिवं० २।२।५५)। यहाँ अपादानत्व की अविवक्षा में तद् और अस्मद् शब्दों से शेषे षष्ठी हुई है। **य ईं चकार न सो अस्य वेद** (ऋ० १।१६४।३२)। यहाँ कर्म की शेषत्व विवक्षा में 'अस्य' में षष्ठी हुई है। **पिपीलिकानां चण्डानां पूरयामास तं घटम्** (हरिवं० ६४५६)। करण की शेषत्व विवक्षा में 'पिपीलिकानाम्' में षष्ठी हुई है। ऐसे ही **तूणांश्च पूर्णान्महतः शराणाम्** (भा० द्रोण० २।२८)। **अपां पूरयित्वा गुल्फदघ्नम्** (तै० आ० प्र० १)। **इन्द्रस्य सोमस्य वृषभस्य तृप्णुहि** (ऋ० २।१६।६)। यहाँ तृप्णुहि के स्थान में लोक में णत्व-रहित 'तृप्नुहि' रूप व्यवहार्य होगा। **यत्रा सोमस्य तृम्पसि** (ऋ० ८।५३।४)। में 'शराणाम्', 'अपाम्', 'सोमस्य' में करणत्व की अविवक्षा में शैषिकी षष्ठी जानो।

उपपद के योग में षष्ठी के कुछेक और उदाहरण—

एतावतः कालस्य परस्तात् (श० ब्रा० १०।६।५।४)। **संवत्सरस्य परस्तात्** (ऐ० ब्रा० २।३३)। **तं परस्तादुक्थानां पर्यस्य शंसति** (ऐ०ब्रा० ४।१)। अस्ताति-प्रत्ययान्त परस्तात् के योग में 'कालस्य' इत्यादि में षष्ठी हुई है। **पुरस्ताद् देवदेवस्य जगुर्गीतानि....**। (कुमार० ७।३०) यहाँ पुरस्तात्=संमुख।

प्रभु आदि शब्दों के योग में षष्ठी होती है ऐसा कह चुके हैं। इसका एक और उदाहरण—**शक्तोऽहं सर्वभूतानामिति मे निश्चयो दृढः** (रा० ३।२९।१९)।

सप्तमी

औपश्लेषिक अधिकरण में सप्तमी के अन्य उदाहरण—

पन्थानं दर्शयामास दमयन्त्याः पितुर्गृहे (भा०) । यहाँ गृह-सम्बन्धी मार्ग न कह कर गृहाधिकरणक मार्ग कहने की इच्छा से गृह से सप्तमी की है। घर के समीप पहुँचने वाला, गृहोपश्लिष्ट मार्ग कहने की इच्छा है। **ते देवा अग्नावनाथन्त** (तै० सं० २।४।१।२), उन देवताओं ने अग्नि के समीप जा प्रार्थना की । **याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा** (मेघ०), गुणी के पास प्रार्थना की हुई व्यर्थ भी जाय तो अच्छी है, अधम के पास सफल हुई भी अच्छी नहीं। **नात्मश्लाघिषु नीचेषु प्रहरन्तीह मद्विधाः** (हरिवं० १। ५४।४३)। **प्रहृतं नः कृतान्तेन सर्वासामन्तरात्मसु** (हरिवं० २।३१।२५)। **विव्याध सर्वगात्रेषु बाणैरपि च सात्यकिम्** (हरिवं० २।७३।६५) । सब अंगों में छिद्र कर दिये। **ऋषिप्रभावान्मयि नान्तकोपि प्रभुः प्रहर्तुं किमुतान्यहिंस्राः** (रघु० २।६२)। **आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि** (शाकुन्तल), आप का शस्त्र पीड़ितों की रक्षा करने के लिये है, निरपराधियों पर प्रहार करने के लिये नहीं। **तद्वै नौ तवैव पितरि प्रश्नः** (ऐ० ब्रा०), हमारा (=हम दोनों के विषय में) आप के पिता से ही प्रश्न है। अर्थ यह है कि जो वे निर्णय करेंगे हम स्वीकार करेंगे। **किमसाध्यं भवेदस्य येनासि प्रेषितो मयि** (हरिवं० २।५३।२३)। ऐसा उसे क्या असाध्य है जो तुम्हें मेरे पास भेजा है । **कान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि** (शु० यजुः २३।५१)। **क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्** (श्वेताश्व० उ०)। **पुनर्दृष्टिं बाष्पप्रकरकलुषामर्पितवती मयि क्रूरे.....** (शाकुन्तल) 'अर्पित' का मूलार्थ गमित, प्रापित है। कर्म की विवक्षा न करके अधिकरण की विवक्षा की है।

कहीं-कहीं ईप्सिततम कर्म की भी अविवक्षा करके अधिकरणत्व-विवक्षा में सप्तमी की जाती है—**धर्मेषु कुरवः कं नु परिप्रक्ष्यन्ति** (भा० ११।६५९)। प्रायः धर्मान् कंपरि प्रक्ष्यन्ति ऐसा कहने की रीति है। प्रकृत में 'धर्मे' वैषयिक अधिकरण मान लिया गया है।

वैषयिक अधिकरण में सप्तमी के उदाहरण देते हुए हमने कुछेक ऐसे वाक्य संकलित किये हैं जहाँ हमें सप्तमी का निमित्त अर्थ सुस्पष्ट रूप से दीखता है जिसे टीकाकारों ने भी असन्दिग्ध रूप से स्वीकार किया है। इन वाक्यों के प्रयोक्ता कोई नगण्य प्राकृत लोग नहीं हैं, किन्तु वाग्योगविद् वाक्पद्धति के निर्माता सर्वमान्य शिष्ट जन हैं। जिनकी कृति में व्यवहार-व्यतिक्रम अथवा शास्त्रा-

तिक्रम की शङ्का ही नहीं हो सकती। शास्त्र तो इन्हीं के वचनों को आधार बना कर प्रवृत्त होता है। शिष्टपरिज्ञानार्थाऽष्टाध्यायी—यह भाष्य-वचन उनकी श्रद्धेयता, सर्वाङ्ग अनुकरणीयता तथा शास्त्र की अपरिपूर्णता की ओर संकेत करता है। यह ठीक है कि **निमित्तात्कर्मसंयोगे** —इस वार्तिक को छोड़कर निमित्त में सप्तमी का विधायक शास्त्र नहीं (और दिये हुए उदाहरण इस वार्तिक का विषय नहीं हैं) और यह भी कि औपश्लेषिक, वैषयिक, अभिव्यापक —इन तीन अधिकरणों के सिवाय चौथा कोई अधिकरण नहीं। तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि यहाँ निमित्त अर्थ में प्रयुक्त हुई सप्तमी किस अधिकरण को मान कर हुई। अधिकरण में सप्तमी होती है। निमित्त का अन्तर्भाव किस अधिकरण में किया जाय। हमारे विचार में वैषयिक अधिकरण में ही इसका अन्तर्भाव संभव है। विषय में, तात्पर्य में विषय-रूप निमित्त में सप्तमी कही जा सकती है। जहां **सुभगा किल कौसल्या यस्याः पुत्रोऽभिषेक्ष्यते। यौवराज्येन महता**..... (रा० २।८।९), **कर्णमेवाभिषेक्ष्यामः सैनापत्येन भारत** (भा० कर्ण० १०।१६), में 'यौवराज्य' तथा 'सैनापत्य' से हेत्वर्थ में तृतीया हुई है, वहाँ **श्वस्त्वामभिषेक्ष्यामि यौवराज्ये परन्तप** (रा० २।४।२२), **रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति** (रा० २।६।२१), **सैनापत्ये तु राधेयमभिषिच्य सुतस्तव** (भा० कर्ण० १०।५४), **नाभिषिक्तः स्वयं राज्ये न चासीनो नृपासने** (हरिवं० २।५५।६३) में यौवराज्य, राज्य, सैनापत्य से सप्तमी हुई है। दोनों प्रकार की वाक्य-रचना में वक्ता को एक ही अर्थ विवक्षित है, अर्थान्तर नहीं। तृतीया हेतु में हुई है यह निर्विवाद है। सो सप्तमी भी हेतु में हुई है इसे स्वीकार करना होगा। निष्कर्ष यह है कि दोनों प्रकार की वाक्य-रचना व्यवहारानुगत है। अष्टाध्यायी द्वारा शिष्ट परिज्ञान का फल यह है कि अष्टाध्यायी द्वारा अननुशिष्ट प्रयोग भी शिष्ट प्रयुक्त होने से साधु होते हैं ऐसा बोध हो जाता है जिससे व्यवहार का विशाल विशद रूप उपस्थित हो जाता है।

इति कारकप्रकरणं समाप्तम्।

अथ

समासप्रकरणम्

विभक्तिर्लुप्यते यत्र तदर्थस्तु प्रतीयते ।
पदानां चैकपद्यं च समासः सोऽभिधीयते ॥

जब वाक्यस्थ आकाङ्क्षा आदि द्वारा समर्थ——सम्बद्धार्थ दो वा दो से अधिक पदों को एक विशिष्टार्थ कहने के लिए एक पद बनाया जाता है उसे समास कहते हैं। समास का शब्दार्थ एक साथ रखना, संक्षेप, लाघव इत्यादि है। वाक्य में पद अपने-अपने विवक्षित अर्थ को कहने के लिये उस-उस विभक्ति को लिये प्रयुक्त होते हैं। विभक्त्यन्त शब्द ही तो व्याकरण में पद कहलाता है। जब उस-उस विभक्ति को हटाकर दो वा दो से अधिक शब्दों के अन्त में एक विभक्ति लाकर एक नया पद बनाया जाता है, वही समास है। इसमें लाघव तो स्पष्ट ही है। इतने निरूपण से यह भी स्पष्ट है कि जो पद परस्पर सम्बद्धार्थ नहीं होंगे उनका समास नहीं होगा। समास पदविधि है और जो भी पद-विधि (पदों को विधि=कार्य) है वह समर्थ-सम्बद्धार्थ पदों की होती है। समर्थः पदविधिः २।१।१)। **राज्ञः पुरुषः** (राजा का सेवक)। यहाँ दो पद समर्थ हैं, स्वस्वामिभावसम्बन्ध से परस्पर सम्बद्ध हैं अतः यहाँ समास होकर **राजपुरुषः** ऐसा रूप होगा। पर **भार्या राज्ञः पुरुषो देवदत्तस्य,** यहाँ राज्ञः और पुरुषः का समास नहीं होगा, क्योंकि यहाँ ये दोनों पद असमर्थ हैं। **राज्ञः पुरुषः**—इसे समास का लौकिकविग्रह (वाक्य) कहते हैं। **राजन् अस् पुरुष-सु**——यह अलौकिक विग्रह है। विग्रह नाम पृथक्करण का है। जो लोक में प्रसिद्ध है, प्रयोगस्थ है वह लौकिक। जो अपरिनिष्ठित होने से लोक में अप्रसिद्ध है, प्रयोग में देखा नहीं जाता, वह अलौकिक।

पद सुबन्त और तिङन्त दोनों प्रकार के होते हैं। सुप् प्रत्ययों तथा तिङ प्रत्ययों को विभक्ति कहते हैं और विभक्त्यन्त शब्द पद होता है। तथापि समास सुबन्त का सुबन्त के साथ होता है, तिङन्त के साथ नहीं। (सुप्)सह सुपा (२।१।४)। यह लोकभाषा में नियम है, वेद में नहीं। वेद में तिङन्त के साथ भी होता है। **पूर्वम् भूतः** (अलौकिक विग्रहः=**पूर्व-अम् भूत-सु**) यहां दो सुबन्त पदों का समास होकर **भूतपूर्वः**[1]— यह रूप होगा।

---

१. सूत्रकार ने भूतपूर्वे चरट् (५।३।५३) इस सूत्रमें भूत शब्द का पूर्वनिपात किया है। तत्प्रामाण्य से न्याय-प्राप्त पर-निपात न करके पूर्व-निपात किया है।

कृदन्त, तद्धितान्त तथा समास की प्रातिपदिक संज्ञा होती है। समास-रूप प्रातिपदिक की सुप् विभक्तियों का तथा धात्वन्तर्वर्ती सुप् का लुक् हो जाता है। सुपो धातुप्रातिपदिकयोः २।४।७१। सो यहाँ अम् और सु—दोनों का लुक् हो जाता है। पश्चात् जो-जो अर्थ विवक्षित होता है, उस-उसको कहने के लिये वह-वह विभक्ति लाई जाती है। **भूतपूर्वः**। **भूतपूर्वौ**। **भूतपूर्वाः**। **भूतपूर्वम्** इत्यादि। ऐसा ही समास मात्र में जानो।

जिन समासों का विग्रह होता ही नहीं, वे नित्यसमास होते हैं और जिनका विग्रह होता है पर समास-घटक पदों द्वारा नहीं होता अर्थात् जिनका अस्वपद-विग्रह होता है वे भी नित्य समास होते हैं (अविग्रहोऽस्वपदविग्रहो वा नित्यसमासः)।

जहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि यह सुबन्त का सुबन्त के साथ समास है, जिसकी तत्पुरुष आदि विशेष संज्ञा कोई नहीं, जिसका विशेष विधायक शास्त्र कोई नहीं, उसे सुप्सुपा समास कहते हैं। **भूतपूर्वः** ऐसा ही समास है।

सुप्सुपा समास के अन्य उदाहरण—

आजन्मशुद्धानाम्। **आसमुद्रक्षितीशानाम्**। **यथाविधि-हुताग्नीनाम्**। **यथा-कामार्चितार्थिनाम्**—इन रघुवंश के प्रयोगों में आजन्म (अव्ययीभाव) और शुद्ध-जस् का समास है। आजन्म में आङ् अभिविधि में है। अव्ययीभाव होने से यह अव्यय है और अव्यय होने से इससे परे आये सुप् का लुक् हो जाता है। लुक् होने पर प्रत्यय-लक्षण से आजन्म सुबन्त है। यहाँ समास-विधायक विशेष शास्त्र कोई नहीं, सो यह सुप्सुपा समास है। ऐसे ही आसमुद्रं क्षितीशाः= आसमुद्रक्षितीशाः, तेषाम्, यहाँ भी। यथाविधिहुताग्नीनाम् में यथाविधि और हुत सु का सुप्सुपा समास है, पश्चात् बहुव्रीहि। इसी प्रकार यथाकामार्चिता-र्थिनाम् में यथाकामम् का अर्चित सु के साथ सुप्सुपा समास है, पश्चात् बहुव्रीहि।

नञर्थक 'न' शब्द के साथ—**नचिरम्, नचिरेण, नचिरात्**। **नान्तरीयकम्**। (अन्तरा—विना भवम् अन्तरीयम्, तदेव अन्तरीयकम्, न अन्तरीयकम्= **नान्तरीयकम्**=अविना-भावि)। **नसंहतास्तस्य नभिन्नवृत्तयः** (किरात १। १९)। **उच्चावचं नैकभेदम्** (अमर)। नञ्तत्पुरुष होने पर **अनेकभेदम्** ऐसा रूप होगा। **कृत्वा नसुकरं कर्म गता वैवस्वतक्षयम्** (—यमसदनम्) (भा० कर्ण० ६।२२)। **सा ददर्श नगान्नैकान् नैकाश्च सरितस्तथा** (नैषध १२।८१)।

ततो द्रुपदमागम्य **सखिपूर्वम्** अहं प्रभो (भा० आदि० १३१।६२)। **सखि-पूर्वम्**—भूतपूर्व सखायम्। यहाँ पूर्व शब्द 'भूतपूर्व' अर्थ में है। इस अर्थ में

पूर्वे भूतपूर्वे (६।२।२२) यह स्वरसूत्र प्रमाण है। **भाष्यभूता गिरः**, भाष्यैः समाः, नित्य-समास। **सुहृद्भूत आचार्यः**। भूत शब्द उपमानवाची है। **भिक्षामाणवः**। (भिक्षया हेतुना माणवः =ब्रह्मचारी)। **ओदन-पाणिनीयः** (ओदन के निमित्त पाणिनि का शिष्य)। **भयब्राह्मणः** (डर के मारे जो ब्राह्मण बना है)। **यावच्छरीरभाविनी चेष्टा**। यहाँ यावत् का द्वितीयन्त शरीरम् के साथ सुप्सुपा समास है। यावत् के योग में द्वितीया होती है, पर समास का विधायक कोई विशेष शास्त्र नहीं है। **भारविः**। भा=दीप्तिः। तया हेतुभूतया रविरिव।

काकतालीयम्, अजाकृपाणीयम्, अन्धकवर्तकीयम्, श्येनकपोतीयम् इन छप्रत्ययान्त शब्दों में छप्रत्यय की प्रकृति काकताल आदि जिस का स्वतन्त्रतया वाक्य में प्रयोग नहीं होता और जिसका विग्रह भी नहीं होता सुप्सुपा समास है। इन सबका एक ही अर्थ है—अकस्माद् घटित, आश्चर्यभूत।

उत्तम ऋणे—उत्तमर्णः=प्रयोक्ता (ऋण देने वाला)। **अधम ऋणे—अधमर्णः=ग्राहकः** (ऋण लेने वाला)। यह भी सुप्सुपा समास है ऐसा भट्ट क्षीरस्वामी मानते हैं। **सम्यग्योक्ता श्रेयसां च न विगृह्य-कथा-रुचिः**। (रा० २। २।४२)। यहाँ 'विगृह्य' का कथा-रुचिः के साथ सुप्सुपा समास है। **अवश्यस्तुत्यः—अवश्यं स्तुत्यः**। 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये' इस वचन के अनुसार अवश्यम् के 'म्' का लोप होता है। **मादीर्घं क्षम कालं त्वम्** (भा० विराट २१।१७)। **मादीर्घम्—अदीर्घम्**, तुम थोड़े समय तक ठहरो। **रघुपतिर्न च केवलमानुषः** (आश्चर्य० चू० ५।११)। **केवलं मानुषः=केवलमानुषः**। **विस्पष्टं कटुकम्=विस्पष्टकटुकम्**, जो स्पष्ट रूप से कटु है। **निसर्गेण निपुणः =निसर्ग-निपुणः**। **प्रकृत्या वक्रः=प्रकृतिवक्रः**।

समास छः प्रकार का होता है—अव्ययीभाव, तत्पुरुष, कर्मधारय, द्विगु, बहुव्रीहि, द्वन्द्व।[1]

अव्ययीभाव

अव्ययीभाव एक अन्वर्थक संज्ञा है। इस समास में पूर्वपद अव्यय होता है और उत्तरपद अनव्यय होता है, पर समस्त पद अव्यय बन जाता है। अव्ययी

---

१. पूर्व विद्वानों ने इन्हें एक रोचक श्लोक में इस प्रकार रखा है—
द्वन्द्वोस्मि द्विगुरपि चास्मि, गृहे च मे सततमव्ययीभावः।
तत्पुरुष कर्मधारय येनाहं स्यां बहुव्रीहिः॥

भावश्च (१।१४१) अनव्ययम् अव्ययं भवति इत्यव्ययीभावः । अव्यय भी सुबन्त पद होता है, केवल वहां सुप् का लुक् हो जाता है। अव्ययादाप्सुपः । सुबन्त होने से ही सुबन्त का सुबन्त के साथ समास होता है यह नियम अक्षत रहता है। अव्ययीभाव समास में पूर्वपद (अव्यय) का अर्थ प्रधान होता है ।

अव्ययीभाव विधायक शास्त्र में 'अव्ययम्' ऐसा प्रथमा विभक्ति से निर्देश किया है। जिसका प्रथमा में निर्देश हो उसे उपसर्जन कहते हैं । **प्रथमानिर्दिष्टं समास** उपसर्जनम् (१।२।४३) और वह समास का प्रथम अवयव बनता है उपसर्जनं पूर्वम् (२।२।३०) प्रथमा-निर्दिष्ट होने से अव्यय पद अव्ययीभाव समास में पहले रखा जाता है। अव्ययीभाव समास नपुंसकलिङ्ग होता है। **अव्ययीभावश्च** (२।४।१८) और नपुंसक लिङ्ग होने से समास के अन्त्य दीर्घ स्वर को ह्रस्व हो जाता है। ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य (१।२।४७) ।

विभक्ति, सामीप्य, समृद्धि, व्यृद्धि (—ऋद्धि का अभाव) अर्थाभाव, अत्यय (—अतीत होना), असम्प्रति (—वर्तमान काल में युक्त न होना), शब्दप्रादुर्भाव (==प्रसिद्धि, ख्याति), पश्चात्, यथार्थ, आनुपूर्वी (=अनुक्रम), यौगपद्य (एक ही समय में होना), सादृश्य, सम्पत्ति (=अनुरूप आत्मभाव), साकल्य (=सम्पूर्ण होना), अन्त—इन अर्थों के वाचक अव्ययों का सुबन्त के साथ समास होता है[1] :—**हरि ङि अधि** (अलौकिक विग्रह) । इस अलौकिक विग्रह के आधार पर **अधिहरि** यह अव्ययीभाव समास कल्पित होता है। अव्यय होने से विभक्ति का लुक् हो जाता है। **अधिस्त्रि संकथा वर्तते** (स्त्रीविषय में बातचीत हो रही है)। यहाँ समास के नपुंसक लिङ्ग होने से ह्रस्व हुआ है। स्त्रीष्वधिकृत्य—यह लौकिक विग्रह है, और स्त्री-सुप् अधि— यह अलौकिक। **अधिवृक्ष सूर्यः** (कालः) (गौ० ध० १।५।३६) । अधिवृक्षम् यह अव्ययी० है—**वृक्षेइति**, वृक्ष पर। इसका सूर्य के साथ बहु० है। (**अनुपूर्वं गत्वोत्तरतस्तिष्ठेत्** (खा० गृ० २।३।३) । पूर्वया दिशा—**अनुपूर्वम्** —पूर्व दिशा से। सामीप्य—**उपकूपं जलाशयः**। अदन्त अव्ययीभाव से परे सुप् का लुक् नहीं होता किन्तु उसके स्थान में अम् आदेश हो जाता है। ऐसा ही यहाँ उपकूपम् में हुआ है। **कूपस्य समीपम् उपकूपम्** । पर पञ्चमी को 'अम्' आदेश नहीं होता, और नहीं उसका लुक् होता है[2]—**उपकूपात्** । तृतीया और सप्तमी

---

१. अव्यय विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासम्प्रति-शब्द-प्रादुर्भाव-पश्चाद्यथाऽऽनुपूर्व्य-यौगपद्य-सादृश्य-सम्पत्ति-साकल्यान्तवचनेषु (२।१।६) ।

२. नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः (२।४।८३) ।

का लुक् तो नहीं होता पर अम् आदेश बहुत करके होता है और नहीं भी होता[1]— **उपकूपम्, उपकूपेन । उपकूपम्, उपकूपे । नद्याः समीपम् उपनदि ।** अव्ययीभाव के नपुं० होने से ह्रस्व हुआ, अव्यय होने से सुप् का लुक् । **गङ्गायाः समीपम् उपगङ्गम् । गोः समीपम् उपगु शकटम् ।** यहाँ तीनों उदाहरणों में समास के नपुंसक होने से ह्रस्व हुआ है । समृद्धि—**समृद्धिर्मद्राणां सुमद्रम् । व्यृद्धिर्यवनानां दुर्यवनम् ।** अर्थाभाव—**अभावो मक्षिकाणाम्—निर्मक्षिकम् ।** अत्यय—**अतीतानि हिमानि—निर्हिमम् । अतीतं शीतं—निःशीतम् ।** असम्प्रति—**निद्रा सम्प्रति न युज्यते—अतिनिद्रम् ।** शब्दप्रादुर्भाव—**पाणिनिशब्दः प्रकाशते—इतिपाणिनि ।** पश्चात्—**रथस्य पश्चात्—अनुरथं पादातम्** (रथों के पीछे पदातियों का समूह) । **पदस्य पश्चात्—अनुपदम् । त्वं प्रयाहि, वयमनुपदमायामः।** यथा के अर्थ में अव्यय समस्त होता है । यथा शब्द के चार अर्थ हैं—योग्यता, वीप्सा, पदार्थानतिवृत्ति (किसी पदार्थ=वस्तु का उल्लंघन न करना) और सादृश्य । योग्यता—**रूपस्य योग्यम्=अनुरूपम् ।** वीप्सा— **अर्थमर्थं प्रति—प्रत्यर्थम् । एकम् एकं प्रति—प्रत्येकम् । पूर्वं पूर्वमनु—अनुपूर्वम् ।** (तस्य भावः —**आनुपूर्व्यम्** । स्त्रीत्व विवक्षा में ङीष् होने पर **आनुपूर्वी**) । पदार्थानतिवृत्ति—**यथाशक्ति । सहसूनं लाङ्गलम् । तद् ब्राह्मणे न विद्यते । आपद्याचरितत्वाद्यदि कुर्याद् यथार्थं कुर्यात् ।** (कृत्यकल्प० में हारीत का वचन) । **यथार्थम्** —**अर्थमनतिक्रम्य**, जितने से आपत्ति से निस्तारा हो जाय उसका अतिक्रम न करके । सादृश्य अर्थ में यथा का समास नहीं होता । वाक्य ही रहता है—**यथा देवदत्तस्तथा यज्ञदत्तः** । असादृश्य अर्थ में तो 'यथा' का सुबन्त के साथ समास होगा यथाऽसादृश्ये (२।१।७) । **ये ये वृद्धाः—यथावृद्धम् । यथावृद्धं ब्राह्मणानामन्त्रयस्व** । यहाँ यथा शब्द अव्युत्पन्न वीप्सावाची अव्यय है । जो जो वृद्ध हैं उन-उन ब्राह्मणों को निमन्त्रण दो । यथा के अर्थ में अव्यय का समास कहा है । वह 'यथा' शब्द से भिन्न अव्यय होना चाहिये इस मत के अनुसार '**यथाशक्ति**' 'यथाऽसादृश्ये' का उदाहरण बनता है । कभी-कभी 'यावत्' भी वीप्सा का वाचक होता है—**यावद्भक्तमुपतिष्ठते** =भोजने भोजने सन्निधत्ते, भोजन-भोजन पर उपस्थित हो जाता है (माधवीय-धातु ष्ठा गति निवृत्तौ इस धातु पर)। आनुपूर्वी—**अनुज्येष्ठं प्रविशन्तु भवन्तः**—आप पहले-पहले (आगे-आगे) ज्येष्ठ इस प्रकार प्रवेश करें । **ज्येष्ठस्यानुपूर्व्येण**—ऐसा लौकिक विग्रह है । यौगपद्य—**सचक्रं (चक्रेण युगपत्) धेहि** । यहाँ युगपद् वाची सह का चक्र के

---

१. तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् (२।४।८४) ।

साथ समास हुआ है और 'सह' को 'स' आदेश हुआ है। सादृश्य—**सदृशः सख्या—ससखि**। सम्पत्ति—**सक्षत्रं रघूणाम्** । **सब्रह्म वसिष्ठानाम्**। रघकुल वालों का आत्मसदृश क्षत्रियत्व है। वसिष्ठगोत्रज ब्राह्मणों का आत्मानुरूप ब्राह्मण्य है। अन्त —**साग्न्यधीते**—अग्निप्रतिपादक ग्रन्थ की समाप्ति तक पढ़ता है। **अग्निपर्यन्तम्** यह लौकिक विग्रह है साकल्य—**सतृणमभ्यवहरति**, तृण का भी परित्याग किये बिना खाता है। यहाँ तृण भक्षण में तात्पर्य नहीं, परोसे हुए भोजन को बिना कुछ छोड़े खाता है इतना ही विवक्षित है । **तृणमपरित्यज्य**—यह लौकिक विग्रह है। अस्वपद विग्रह होने से अधिहरि इत्यादि सभी नित्य समास हैं।

यावत् यह अव्यय जब अवधारण (इयत्ता-परिच्छेद) अर्थ में हो तो सुबन्त के साथ समस्त हो जाता है और अव्ययीभाव समास होता है[1]—**यावदमत्रं ब्राह्मणानामन्त्रयस्व**—जितने पात्र हैं उतने ही ब्राह्मणों को निमन्त्रित कीजिए। यहाँ समास-घटक यावत् शब्द अव्यय है और विग्रह तद्धितान्त यावत् शब्द से किया गया है सो अस्वपद विग्रह होने से '**यावदमत्रम्**, नित्य समास है। **यावदर्थं पदानि प्रयोज्यानि, अन्यथाऽधिकपदत्वदोषापातः**। जितना अर्थ कहना हो उतने ही पदों का प्रयोग होना चाहिये, नहीं तो अधिकपदता दोष आयेगा। **वयमपि च गिरामीश्महे यावदर्थम्** (भर्तृ० वैराग्य शतक)।

सुबन्त मात्रा=लेश अर्थ वाले प्रति शब्द (अव्यय) के साथ समस्त होता है[2]—शाकस्य मात्रा—**शाकप्रति**। यहां कुछ शाक है। **न सुखप्रति संसारे**—संसार में सुख का लेश नहीं है। **न दोषप्रति बौद्धदर्शने** (पुरुषोत्तमदेव)।

अक्ष, शलाका, संख्यावचन (एक, द्वि आदि) परि अव्यय के साथ समस्त होते हैं।[3] **अक्षपरि**। पासा उल्टा पड़ा, ऐसे नहीं जैसे पहले जय के समय पड़ा था। **शलाकापरि**। **एकपरि** । **द्विपरि** । एक उल्टा पड़ा, दो उल्टे पड़े। द्यूत व्यवहार में ही यह समास इष्ट है। यहां भी **अक्षपरि** इत्यादि का **अक्षेण** विपरीतं वृत्तम् इत्यादि अस्वपद विग्रह होता है सो ये भी नित्य समास हैं।

अप, परि, बहिस्[4] और अञ्च् (क्विन्प्रत्ययान्त) सुबन्त अव्यय पञ्चम्यन्त

---

१. यावदवधारणे (२।१।८)।
२. सुप् प्रतिना मात्रार्थे (२।१।९)।
३. अक्ष-शलाका-संख्याः परिणा (२।१।१०)।
४. बहिस् के योग में पञ्चमी होती है। इस सूत्र में बहिस् का पञ्चम्यन्त

सुबन्त के साथ विकल्प से समस्त होते हैं। पक्ष में वाक्य रहता है।[1] **अपत्रिगर्तं वृष्टो देवः। अप त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः**, त्रिगर्त को छोड़कर (अन्यत्र) वृष्टि हुई। **परि त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः।** त्रिगर्त को छोड़कर वृष्टि हुई। **परिमुखं** (=मुखं वर्जयित्वा) वर्तत इति पारिमुखिकः सेवकः, ऐसा सेवक जो स्वामी के सामने नहीं आना चाहता। **बहिर्ग्रामम्। बहिर्ग्रामात्। सत्यपि विकारहेतौ ये बहिर्विकारं समासते ते यमिनः। विकाराद् बहिः—बहिर्विकारम्। प्राग्ग्राम-मारामः। प्राग्ग्रामाद् आरामः**, ग्राम से पूर्व की ओर आराम (उपवन) है। **प्राक् सोमात्—प्राक् सोमम्। प्राक्सौमिकीः क्रियाः कुर्याद्यस्यान्नं वार्षिकं भवेत्** (याज्ञ० १।१२४) **। प्राक् सोमं भवाः प्राक्सौमिक्यः।**

मर्यादा तथा अभिविधि अर्थ में वर्तमान आङ अव्यय पञ्चम्यन्त के साथ विकल्प से समस्त होता है और वह अव्ययीभाव समास होता है। पक्ष में वाक्य रहता है—[2]**आपाटलिपुत्रं वृष्टो देवः। आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो देवः।** आङ का यदि मर्यादा अर्थ विवक्षित हो तो वाक्यार्थ होगा—पाटलिपुत्र तक वृष्टि हुई अर्थात् पाटलिपुत्र के इस ओर तक वृष्टि हुई, पाटलिपुत्र में नहीं हुई। अभिविधि अर्थ विवक्षित हो तो वाक्यार्थ होगा—पाटलिपुत्र को व्याप कर वृष्टि हुई अर्थात् पाटलिपुत्र में भी हुई। तेन विना मर्यादा। तेन सह अभिविधिः। **आकुमारं यशः पाणिनेः। आ कुमारेभ्यो यशः पाणिनेः**—भगवान् पाणिनि का यश बच्चों तक फैला हुआ है, अर्थात् बच्चों में भी फैला हुआ है, यहाँ अभि-विधि अर्थ ही विवक्षित है। **आमुक्ति संसारः, आ मुक्तेः संसारः**, जब तक मोक्ष नहीं हुआ तब तक संसार=आवागमन है। यहाँ मर्यादा अर्थ ही विव-क्षित है। **आकाश्मीरम् आकन्याऽन्तरीपमयमेको देशः**, काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक यह एक देश है। पक्ष में **आ काश्मीरेभ्य आ च कन्यान्तरीपात्** इत्यादि। आङ के हिन्दी में दोनों अर्थ हैं—से, तक। **आपादचूलमागन्तुकं तं जनं न्यध्यायम्**, एड़ी से चोटी तक मैंने उस अजनबी की ओर देखा। **पादौ च चूडा च—पादचूलम्** (द्वन्द्व)। ड को ल। पादचूलमभिव्याप्य—**आपाद-**

के साथ समासविधान करना ज्ञापक है। ज्ञापक-सिद्ध विधि सर्वत्र लागू नहीं होती इस न्याय के आश्रित '**करस्य करभो बहिः**' इस अमरोक्ति में 'करस्य' यह षष्ठी निर्दिष्ट समझी जायगी।

१. अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या (२।१।१२)।

२. आङ मर्यादाभिविध्योः (२।१।१३)।

मूलम् । यहाँ भी आङ अभिविधि में है । **आमूलाच्छ्रोतुमिच्छामि,** प्रारम्भ से सुनना चाहता हूँ ।

लक्षण—चिह्न-वाची सुबन्त के साथ आभिमुख्य (=संमुखता) अर्थ वाले अभि, प्रति अव्यय विकल्प से समस्त होते हैं[1]—**अभ्यग्नि शलभाः पतन्ति । अग्निमभि शलभाः पतन्ति । प्रत्यग्नि शलभाः पतन्ति । अग्निं प्रति शलभाः पतन्ति**—सलहे अग्नि को लक्ष्य करके तदभिमुख होकर गिरते हैं ।

अनु शब्द जिस पदार्थ के सामीप्य का द्योतक हो उस लक्षण-भूत के साथ विकल्प से समस्त होता है । और वह अव्ययीभाव समास होता है[2]—**अनुवनम् अशनिर्गतः ।** वनमनु अशनिर्गतः अर्थात् विद्युत् लक्षण-भूत वन के समीप गई । विद्युत् किधर गई इसमें वन चिह्न है, परिचायक है । वन की ओर, वन के समीप विद्युत् गई यह अर्थ विवक्षित है ।

अनु शब्द जिस पदार्थ के आयाम=दीर्घता=लम्बाई का द्योतक हो उस लक्षण-भूत के साथ विकल्प से समस्त होता है और अव्ययीभाव समास होता है[3]—**अनुगङ्गं वाराणसी । गङ्गाम् अनु वाराणसी । अनुयमुनं मथुरा । यमुनाम् अनु मथुरा ।** गङ्गा के आयाम से वाराणसी का आयाम लक्षित होता है अर्थात् गङ्गा की लम्बाई के सदृश वाराणसी की लम्बाई है । भाव यह है कि गङ्गा के तट के साथ-साथ वाराणसी फैली हुई है । **अनुपदं बद्धाऽनुपदीना उपानत् ।**

तिष्ठद्गु आदि शब्द बने-बनाये अव्ययीभाव समास सूत्रकार ने पढ़े हैं । वे जैसे पढ़े हैं वैसे ही साधु हैं ।[4] **तिष्ठन्ति गावो यस्मिन्काले दोहनाय स तिष्ठद्गु कालः,** जिस समय गौएं दोहने के लिए खड़ी होती हैं उस समय को तिष्ठद्गु कहते हैं । तिष्ठद्गु आदि अव्ययीभाव बहुव्रीहि के अर्थ में निपातन किये हैं । इनमें जो **खलेयवम्, खलेबुसम्, पूतयवम्, संहृतयवम्** इत्यादि अदन्त अव्ययीभाव पढ़े हैं उनसे भी दूसरी (प्रथमा से अतिरिक्त, तृतीया, पञ्चमी तथा सप्तमी) विभक्ति नहीं आ सकती । खलेयवादीनि प्रथमान्तान्यन्यपदार्थे (वा०) । तिष्ठद्गु आदि का किसी दूसरे पद के साथ समास भी नहीं होता । तिष्ठद्गु आदि गण में 'प्रदक्षिणम्' भी पढ़ा है—**प्रदक्षिणं परीत्याग्निम्** (मनु० २।४८) । पर

---

१. लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये (२।१।१४) ।
२. अनुर्यत्समया (२।१।१५) ।
३. यस्य चायामः (२।१।१६) ।
४. तिष्ठद्गु प्रभृतीनि च (२।१।१७) ।

'प्रदक्षिणम्' अनव्यय भी है—**मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम् । प्रदक्षिणानि कुर्वीत** (मनु० ४।३९) ।।

पार, मध्य—ये षष्ठ्यन्त के साथ विकल्प से समस्त होते हैं और अव्ययीभाव समास होता है। साथ ही पार, मध्य को पारे, मध्ये ये आदेश हो जाते हैं। पक्ष में षष्ठीतत्पुरुष समास होता है[1] :—**पारेगङ्गम् । गङ्गापारम् । मध्येगङ्गम् । गङ्गामध्यम् । पारेगङ्गादानय । गङ्गापारादानय ।** गङ्गा के पार से ले आओ। महाविभाषा से एकार्थीभाव की अविवक्षा में वाक्य भी रहेगा—**गङ्गायाः पारात् । गङ्गाया मध्यात् ।**

संख्यावाची सुबन्त वंश्य (वंशज) वाची सुबन्त के साथ विकल्प से समस्त होता है और अव्ययीभाव समास होता है[2]—**द्वौ मुनी (पाणिनिकात्यायनौ) व्याकरणस्येति द्विमुनि व्याकरणस्य । त्रयो मुनयः (पाणिनिकात्यायनपतञ्जलयः) व्याकरणस्येति त्रिमुनि व्याकरणस्य** । विद्या (व्याकरण) तथा विद्यावान् (वैयाकरणों) का परस्पर अभेद विवक्षित होने पर एक-विभक्तित्व भी हो जायगा—**द्विमुनि व्याकरणम् । त्रिमुनि व्याकरणम्** । ऐसा होने पर बहुव्रीहि के अर्थ को ही अव्ययीभाव कह रहा है। अव्ययीभाव संज्ञा करने का फल बहुव्रीहि से स्वरभेद तथा प्रथमा से भिन्न किसी अन्य विभक्ति में रूपभेद भी है।

संख्यावाची सुबन्त नदी और तद्विशेष गङ्गा यमुना आदि सुबन्तों के साथ विकल्प से समस्त होता है और अव्ययीभाव समास होता है[3]—**पञ्चनदम् । सप्तगङ्गम् । द्वियमुनम्** । यह अव्ययीभाव समाहार में ही इष्ट है। अतः द्विगु का अपवाद है।

अन्यपदार्थ में विद्यमान सुबन्त नदीवाची सुबन्त के साथ नित्य ही समस्त होता है जब समास से संज्ञा का बोध हो[4]—**उन्मत्तगङ्गं नाम देशः । लोहितगङ्गं नाम देशः** । नित्य समास होने से इसका विग्रह नहीं होगा। वाक्य से संज्ञा का बोध नहीं होता इसलिये विभाषा अधिकार में भी यह नित्य समास है।

अव्ययीभावसम्बन्धी समासान्त प्रत्यय

अब यहां प्रसङ्गवश अव्ययीभाव समास विषयक कुछेक समासान्त प्रत्ययों

१. पारे मध्ये षष्ठ्या वा (२।१।१८) ।
२. संख्या वंश्येन (२।१।१९) ।
३. नदीभिश्च (२।१।२०) ।
४. अन्यपदार्थे च संज्ञायाम् (२।१।२१) ।

को कहते हैं—समासान्त प्रत्यय यद्यपि तद्धित प्रत्यय होते हैं तो भी समास वा समास के उत्तरपद का अन्त्य अवयव बनते हैं, अतः समास प्रकरण में ही उनका निरूपण प्रसङ्ग-प्राप्त है ।

अव्ययीभाव समास में शरद् आदि उत्तरपदों से टच् (=अ) समासान्त होता है ।[1] **शरदः समीपम्—उपशरदम्** । **हिमवति इति–अधिहिमवतम्** (ओषधयः) । **दिशोर्मध्ये अपदिशम्** । दिशाऽन्तराल, जिसे विदिश् और प्रदिश् भी कहते हैं । **दिशं दिशं प्रति—प्रतिदिशम्** । **दिवं मर्यादीकृत्य दिवम् अभिव्याप्य वा—आदिवम्** । **उपविपाशम्** । **जरायाः समीपम्—उपजरसम्** । **उपजरसं भवन्ति दोषाः** । यहाँ जरा को जरस् आदेश भी हो जाता है । **अध्युपानहम्**, जूते में । अक्षि उत्तरपद से टच् समासान्त होता है जब प्रति, पर, सम्, अनु पूर्वपद हों । टच् परे रहते अक्षि के इकार का लोप हो जाता है । **अक्षि अक्षि प्रति प्रत्यक्षम्** अथवा **अक्ष्णोराभिमुख्यम्—प्रत्यक्षम्** । **अक्ष्णः परम्—परोक्षम्** । यहाँ पर शब्द के अव्यय न होने से अव्ययीभाव-विधायक-शास्त्र कोई नहीं, तो भी अव्ययीभाव से समासान्त (टच्) का विधान किया है, इस विधानसामर्थ्य से अव्ययीभाव समास होगा । **परोक्षम्**—यहाँ सूत्रकार के परोक्षे लिट् (३।२।११५) इस सूत्र में परोक्ष शब्द के प्रयोग-प्रामाण्य से 'पर' के स्थान में 'परो' ऐसा आदेश होता है । **अक्ष्णो योग्यम्—समक्षम्** । **अक्ष्णः पश्चात्—अन्वक्षम्** ।

अन् अन्त वाले अव्ययीभाव से टच् समासान्त होता है[2] और समासान्त परे रहते नान्त अङ्ग की टि (=अन्) का लोप होता है[3]—**राज्ञः समीपम्—उपराजम्** । **आत्मनि इति अध्यात्मम्** । आत्मा में ।

यदि नपुंसकलिङ्ग अन्नन्त शब्द उत्तरपद हो तो टच् समासान्त विकल्प से होता है[4]—**चर्मणः समीपम्—उपचर्मम्, उपचर्म** । झयन्त अव्ययीभाव से टच् समासान्त विकल्प से होता है[5] । झय् से झय् प्रत्याहार लेना । **उपसमिधम्, उपसमित्** । समिधाओं के समीप । **उपदृषदम्** । **उपदृषत्** । शिला के समीप । 'गिरि' उत्तरपद वाले अव्ययीभाव से टच् समासान्त विकल्प से होता है[6]—**अन्तर्गिरि धातवः** । **अन्तर्गिरं वा धातवः** । सूत्र में आचार्य सेनक का नाम पूजा के लिये है । नदी, पौर्णमासी, आग्रहायणी—ये जब अव्ययीभाव के अन्त में हों

---

१. अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः (५।४।१०७) ।
२. अनश्च (५।४।१०८) ।
३. नस्तद्धिते (६।४।१४४) ।
४. नपुंसकादन्यतरस्याम् (५।४।१०९) । ५. झयः (५।४।१११)
६. गिरेश्च सेनकस्य (५।४।११२)

तो विकल्प से टच् समासान्त होता है—**नद्याः समीपम्**—**उपनदम्, उपनदि**। अव्ययीभाव के नपुंसक होने से उपनदि में ह्रस्व हुआ। **उपपौर्णमासम्, उपपौर्णमासि। उपाग्रहायणम्, उपाग्रहायणि,** अगहन मास की पौर्णमासी के समीप।

अचतुरविचतुरसुचतुर० (५।४।७७)—इस सूत्र में **'सरजसम्'** यह अच्समासान्त सहित पढ़ा है। साकल्य **अर्थ में** अव्ययीभाव **है—सरजसं कणान् संगृह्णाति न पिबन्ति। भौममम्भः सरजसमिति चातका एते**—यहाँ जो बहुव्रीही से समासान्त किया है वह वृत्त्यादि ग्रन्थ के विरुद्ध है। बहुव्रीहि में तो **सरजः पङ्कजम्** (बिना अच्समासान्त के) ऐसा रूप होगा, अथवा सरजस्कम् ऐसा कप् समासान्त करके।

अचतुर—इसी सूत्र में **उपशुनम्**—यह निपातन किया है। **शुनः समीपम् उपशुनम्**। निपातन से ही यहाँ टिलोप नहीं हुआ है और सम्प्रसारण हुआ है। **अनुगवं** यह आयामवान् अर्थ में अच् प्रत्ययान्त निपातन किया है। **अनुगवं शकटम्** छकड़ा जिसकी लम्बाई बैल की लम्बाई से लक्षित होती है। 'यस्य चायामः' से अव्ययीभाव है।

प्रति से परे जो सप्तम्यन्त 'उरस्' शब्द तदन्त अव्ययीभाव से अच् समासान्त होता है—**प्रत्युरसम्**—उरसि, छाती में। प्रतेरुरसः सप्तमीस्थात् (५।४।८२)।

तत्पुरुष

दो पदों के उस समास को तत्पुरुष कहते हैं जिसमें उत्तरपदार्थ प्रधान होता है अर्थात् जिसमें उत्तरपद का क्रिया में अन्वय होता है और जिसमें पूर्वपद नाना विभक्तियों में होता हुआ उत्तरपद के अर्थ का परिच्छेदक होता है। जिस तत्पुरुष में द्वितीयान्त पूर्वपद हो उसे द्वितीया-तत्पुरुष, जिसमें तृतीयान्त, उसे तृतीया-तत्पुरुष कहते हैं। इसी प्रकार चतुर्थी-पञ्चमी-षष्ठी-सप्तमी-तत्पुरुष समास होते हैं। इस लक्षण का व्यभिचार कहीं-कहीं होता है, यह यथास्थान निर्दिष्ट किया जायगा।

द्वितीया तत्पुरुष

द्वितीयान्त सुबन्त श्रित, अतीत, पतित, गत, अत्यस्त, प्राप्त, आपन्न—इन सुबन्तों के साथ समस्त होता है और यह तत्पुरुष समास होता है[1]—**कष्टं श्रितः**—

---

१. द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः (२।१।२४)।

कष्टश्रितः । कान्तारम् अतीतः—कान्तारातीतः (जंगल के पार गया हुआ) । **नरकं पतितः—नरकपतितः** । सकर्मक पत् का प्रयोग होने से द्वितीया हुई । **ग्रामं गतः—ग्रामगतः । किमपि ते सखीगतं पृच्छामः** (शाकुन्तल) । **द्विगता अपि हेतवो भवन्ति** (भाष्य) । **तरङ्गान् अत्यस्तः—तरङ्गात्यस्तः** (तरङ्गों के पार गया हुआ) । **सुखम् प्राप्तः—सुखप्राप्तः । दुःखम् आपन्नः—दुःखापन्नः** (दुःख को प्राप्त हुआ) ।

गमिन्, गामिन् आदि (औणादिक) और उकारान्त बुभुक्षु के साथ भी द्वितीयान्त समस्त होता है[1]—**ग्रामं गमी—ग्रामगमी । ग्रामं गामी—ग्रामग्रामी** (ग्राम जाने वाला, जो ग्राम जायगा) । **अन्नं बुभुक्षुः—अन्नबुभुक्षुः**—अन्न खाना चाहने वाला । **विशेषं विदुषः विशेषविदुषः** (माघ २।७५) ।

द्वितीयान्त खट्वा शब्द क्तान्त सुबन्त के साथ निन्दा अर्थ में समस्त होता है[2]—**खट्वारूढो जाल्मः** । **खट्वारूढः** यह नित्य समास है, इसका विग्रह नहीं होगा, क्योंकि वाक्य से निन्दा की प्रतीति नहीं होती, निन्दा समास का ही अर्थ है । **खट्वामारूढः**—खाट पर चढ़ा हुआ । **खट्वामारूढः कश्चित्कृषाणः स्वस्य सहायैः संलपति**—इस वाक्य में **खट्वामारूढः** कहने से निन्दा की कुछ भी प्रतीति नहीं होती । खट्वारोहण से अभिप्राय विमार्ग पर चलना है । कोई खट्वारोहण करे या न करे, जो भी निषिद्ध आचरण करता है वह अविनीत 'खट्वारूढ' शब्द से कहा जाता है । उदाहरण के जाल्म शब्द का अर्थ 'असमीक्ष्यकारी, बिना सोचे-समझे काम करने वाला' है । इसी अर्थ में **खट्वाप्लुत** शब्द का भी प्रयोग होता है ।

कालवाची द्वितीयान्त शब्द क्तान्त सुबन्त के साथ विकल्प से समस्त होते हैं[3]—**मासं परिच्छेत्तुमारब्धवान् चन्द्रः—मासप्रमितश्चन्द्रः** अर्थात् प्रतिपदा का चाँद । **अहरतिसृता मुहूर्ताः । अहःसंक्रान्ता मुहूर्त्ताः,** (छः) मुहूर्त जो (अब उत्तरायण में) दिन का भाग बन गये हैं । **रात्र्यतिसृता मुहूर्ताः । रात्रिसंक्रान्ता मुहूर्ताः,** (छः) मुहूर्त जो (अब दक्षिणायन में) रात्रि में जा मिले हैं ।

नित्यप्रहसितः । सततप्रहसितः । (क्ते नित्यार्थे ६।२।६१ की वृत्ति में) । कालवाची द्वितीयान्त शब्द अपने सम्बन्धी शब्द के साथ विकल्प से समस्त

---

१. श्रितादिषु गमिगाम्यादीनामुपसंख्यानम् (वा०) ।

२. खट्वा क्षेपे (२।१।२६) ।

३. कालाः (२।१।२८) ।

होते हैं कालकृत अत्यन्त संयोग—सम्पूर्ण व्याप्ति की प्रतीति होने पर[1]—**मुहूर्तं सुखम्—मुहूर्त्तसुखम्** । मुहूर्त्तभर सुख। **सर्वरात्रं कल्याणी—सर्वरात्र-कल्याणी** ।रात भर सुखमयी।

तृतीया तत्पुरुष

तृतीयान्त पद तत्कृत गुणवचन अर्थात् तृतीयान्तार्थ के द्वारा किये गये गुण-वचन तथा अर्थ शब्द के साथ विकल्प से समस्त होता है। और वह तत्पुरुष समास होता है[2]—**किरिणा काणः=किरिकाणः** (सूअर द्वारा जो काणा बना है) । गुणवचन से यहाँ उस गुण से अभिप्राय है जो गुण को कह कर द्रव्य को कहे। ऐसा ही यहाँ काण शब्द है। काण का अर्थ है काणत्व धर्म वाला पुरुष। अर्थ शब्द के साथ भी—**धान्येनार्थः=धान्यार्थः** । धान्य से साध्य प्रयोजन। अर्थ== अभिलषित पदार्थ अथवा अभिलाषा। **अक्ष्णा काणः**—यहाँ समास नहीं होगा, क्योंकि यहाँ 'काण' तत्कृत गुणवचन नहीं। काणत्व आँख का धर्म है, आँख से निष्पन्न नहीं हुआ।

तृतीयान्त सुबन्त पद पूर्व, सदृश, सम, ऊनार्थक (ऊन, विकल), कलह, निपुण, मिश्र, श्लक्ष्ण, अवर इन सुबन्तों के साथ विकल्प से समस्त होता है और वह तत्पुरुष समास होता है ।[3] पूर्व आदि के योग में तृतीया किसी सूत्र से विहित नहीं। इसी समास विधायक शास्त्र से ज्ञापित होती है। **मासेन पूर्वः—मासपूर्वः। देवदत्तो यज्ञदत्तान्मासपूर्वः, विष्णुमित्रात्तु मासावरः (मासेन अवरः)**, देवदत्त यज्ञदत्त से मास भर बड़ा है परन्तु विष्णुमित्र से मासभर छोटा है। **मात्रा सदृशः—मातृसदृशः। पित्रा सदृशः—पितृसदृशः। मात्रा समः—मातृसमः। पित्रा समः—पितृसमः। पादेन ऊनम्—पादोनं रूप्यकम्**, पौना रुपया। **माषेण विकलम्—माषविकलम्** (मासा भर कम) । **वाचा कलहः=वाक्कलहः** । **वणिजां प्रायेण वाक्कलहा भवन्ति नासिकलहाः**, बनिये प्रायः वाणी से झगड़ा करते हैं, तलवार से नहीं। **वाचानिपुणः—वाङ्निपुणः। गुडेन मिश्रा धानाः=गुडमिश्रा धानाः। तिलैः मिश्राः तण्डुलाः—तिलमिश्राः। आचारेण श्लक्ष्णः=आचारश्लक्ष्णः**, व्यवहार से साफ सुथरा।

---

१. अत्यन्तसंयोगे च (२।१।२९)।

२. तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन (२।१।३०)।

३. पूर्व-सदृश-समोनार्थ-कलह-निपुण-मिश्र-श्लक्ष्णैः (२।१।३१)।

कर्ता वा करण में जो तृतीया विभक्ति होती है ऐसा तृतीयान्त पद कृदन्त सुबन्त के साथ बहुत करके समस्त होता है।[१] अर्थात् कहीं प्राप्त होने पर भी नहीं होता है और कहीं अप्राप्त विषय में भी हो जाता है—**अहिना हतः—अहिहतः** (साँप से मारा गया)। **परैर्भृतः—परभृतः** (कोकिल)। **अन्यैः पुष्टा—अन्यपुष्टा** (कोयल-स्त्री)। **देवेन त्रातः=देवत्रातः। देवेन खातः=देवखातः**। देवखात-बिले गुहा—अमर। **चौरैर्हतः —चौरहतः**। **आत्मसंभावितः** (कौ० अर्थ० १।१४।१०)—**आत्मनैव संभावितः मानितः (न तु शिष्टैः)**। अतिमानिनम-ग्राह्यमात्मसंभावितं नरम् (रा० ४ ३।३३।१६)। **सूर्येण ऊढः—सूर्योढोऽतिथिः** (मनु० ३।१०५)। अस्त होते हुए सूर्य से गृहस्थ के समीप पहुंचाया गया अतिथि। **व्याघ्रेण हतः—व्याघ्रहतः**। **बलिभिः पुष्टः —बलिपुष्टः** (काकः)। **परशुना छिन्नः—परशुच्छिन्नः** (फरसे से काटा हुआ)। **नखैर्भिन्नः—नखभिन्नः** (नाखूनों से फाड़ा हुआ)। **शूर्पेण निष्पावः** (—निष्पूतस्तण्डुलादिः)—**शूर्पनिष्पावः**। इन दो उदाहरणों में तृतीया करण में हुई है। **दात्रेण लूनवान्, परशुना छिन्नवान्**—यहाँ समास नहीं होता, यद्यपि **दात्रेण** व **परशुना** करण-तृतीयान्त हैं और **लूनवान्, छिन्नवान्** दोनों क्तवतुप्रत्ययान्त कृदन्त हैं। **पादाभ्यां ह्रियते—पादहारकः**। यहाँ **पादाभ्याम्**—यह पञ्चम्यन्त है, अपादान में पञ्चमी है। न यहाँ कर्ता अर्थ में तृतीया है और न करण अर्थ में, हाँ 'हारक' यह कृदन्त अवश्य है और इसमें भी बाहुलक से कर्म में ण्वुल् हुआ है।

कर्ता वा करण में तृतीयान्त सुबन्त कृत्य प्रत्ययान्त के साथ विकल्प से समस्त होता है जब समास से यह प्रतीत हो कि स्तुति-निन्दा के हेतु बढ़ा चढ़ा कर बात कही गई है।[२] ऐसा समास तत्पुरुष समास होता है। **काकपेया नदी**। इतनी जल-पूर्ण है कि तट पर बैठे हुए कौवे भी जल पी सकते हैं ऐसी विवक्षा होने पर यहाँ स्तुति की प्रतीति होती है। इतना थोड़ा जल है कि दूसरे प्राणियों के पीने के अयोग्य होने से कौवे ही जल पी सकते हैं ऐसी विवक्षा होने पर निन्दा की प्रतीति होती है। **श्वलेह्यः कूपः** ऐसा कुआँ जिसके जल को कुत्ते भी चाट सकते हैं। **वातच्छेद्यानि तृणानि**, ऐसे तिनके जो इतने कोमल हैं कि वायु से भी छिन्न-भिन्न हो जाएँ अथवा ऐसे दुर्बल, निःसार कि जिन्हें वायु भी छिन्न-भिन्न कर दे।

व्यञ्जनवाची तृतीयान्त सुबन्त का दूसरे सुबन्त के साथ विकल्प से समास

---

१. कर्तृकरणे कृता बहुलम् (२।१।३२)।

२. कृत्यैरधिकार्थवचने (२।१।३३)।

होता है और वह तत्पुरुष समास होता है[1]—**दध्ना उपसिक्त ओदनः—दध्योदनः**। दधि संस्कारक है, ओदन संस्कार्य है। **क्षीरेण उपसिक्त ओदनः—क्षीरौदनः**। यहाँ समास में **अन्तर्लीन** उपसेचन क्रिया द्वारा दधि आदि का ओदन के साथ सामर्थ्य (अर्थ-सम्बन्ध) बन जाता है।

मिश्रीकरणवाची तृतीयान्त सुबन्त भक्ष्यवाची सुबन्त के साथ विकल्प से समस्त होता है वह तत्पुरुष समास होता है[2]—**गुडेन मिश्रा धानाः—गुडधानाः**। इसी प्रकार **गुडेन मिश्राः पृथुकाः** (चिउड़े) **गुडपृथुकाः**। यहाँ भी समास में अन्तर्भूत मिश्रीकरण क्रिया द्वारा गुड और धान का सामर्थ्य बन जाता है। **ब्राह्मणमिश्रो राजा**—जिस राजा ने ब्राह्मणों के साथ सन्धि की हुई है। मिश्र शब्द के इस अर्थ में मिश्रं चानुपसर्गमसन्धौ (६।२।१५४) यह स्वर सूत्र प्रमाण है।

तृतीया-समास-विधायक शास्त्र के अभाव में कहीं-कहीं तृतीया समास देखा जाता है उसका समाधान योगविभाग से किया जाता है। तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन (२।१।३०) इस सूत्र का विभाग करके दो सूत्र बनाये जाते हैं—(१) तृतीया, (२) तत्कृतार्थेन०, जिसमें पूर्व सूत्र से तृतीया की अनुवृत्ति होगी। पूर्व सूत्र का अर्थ होगा—तृतीयान्त समर्थ सुबन्त के साथ समस्त होता है। इस योगविभाग से निम्नस्थ तृतीया-समास समाहित हो जाते हैं—**एकेन न विंशतिः=एकान्नविंशतिः**। यहाँ 'एकेन' और 'नविंशति' का समास है। **भाष्यभूता गिरः=भाष्यैः समाः**, नित्य समास है। **उदकेन मन्थः=उदकमन्थः, उदमन्थः**। **पुंसाऽनुजः**। **जनुषान्धः**। तृतीया ऽलुक् समास। **पुंसा हेतुनाऽनुजः**। लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे (३।२।१२४)। यहाँ **अप्रथमया समानधिकरणे इत्यप्रथमासमानाधिकरणे**—यह योगविभाग से तृतीया-समास है। **आत्मना चतुर्थः=आत्मनाचतुर्थः**। (तृतीया अलुक्)। **देवतया द्वितीयः =देवताद्वितीयः**, जो देवता=अधिष्ठातृदेव करके दूसरा है अर्थात् अकेला। **छायया द्वितीयः=छायाद्वितीयः**, अकेला।

चतुर्थी तत्पुरुष

चतुर्थ्यन्त पद चतुर्थ्यन्त पद के लिये प्रयुक्त हुए किसी दूसरे पद के साथ

---

१. अन्नेन व्यञ्जनम् (२।१।३४)।
२. भक्ष्येण मिश्रीकरणम् (२।१।३५)।

और अर्थ, बलि, हित, सुख, रक्षित—इन सुबन्तों के साथ विकल्प से समस्त होता है, वह तत्पुरुष समास होता है[१]—**यूपाय दारु=यूपदारु । कुण्डलाय हिरण्यम्=कुण्डलहिरण्यम्** । यहाँ दोनों उदाहरणों में चतुर्थ्यन्त विकृतिवाचक है और दारु और हिरण्य प्रकृतिवाचक हैं। इस प्रकार तादर्थ्य (चतुर्थ्य-न्तार्थ के लिये होना) के होने पर जहाँ प्रकृति विकार भाव सम्बन्ध होगा वहीं यह समास होगा, अन्यत्र नहीं । **रन्धनाय स्थाली** (राँधने के लिये पात्र), **अवहननाय उलूखलम्** (धान के अवघात—कूटने के लिये ऊखल) । यहाँ तादर्थ्य के होने पर भी चतुर्थी समास नहीं होगा, किन्तु वाक्य ही रहेगा । **अश्वघासः, वासभवनम्, शयनागारम्, लीलाम्बुजम्** इत्यादि तो षष्ठी समास माने जाते हैं। इनका विग्रह **अश्वस्य घासः** (न कि **अश्वाय घासः**) इत्यादि होता है। तादर्थ्य में चतुर्थी होती है इसका कोई विधायक शास्त्र नहीं है, यह समास-विधान ही इसमें ज्ञापक है। अर्थ शब्द के साथ चतुर्थ्यन्त का नित्यसमास होता है और समास का वही लिङ्ग होता है जो विशेष्य का—**ब्राह्मणायाऽयं सूपः=ब्राह्मणार्थः सूपः । ब्राह्मणायेयं यवागूः=ब्राह्मणार्था यवागूः । ब्राह्मणायेदं पयः=ब्राह्मणार्थं पयः** । यहाँ सर्वत्र विग्रह वाक्य में 'अर्थ' शब्द का प्रयोग न होने से अस्वपदविग्रह है और अस्वपद विग्रह वाला समास नित्यसमास होता है । **भूतेभ्यो बलिः=भूतबलिः । गोभ्यो हितम्=गोहितम् । गवे सुखम्=गोसुखम् । गोभ्यो रक्षितम्=गोरक्षितम्** ।

पञ्चमी तत्पुरुष

पञ्चम्यन्त भय, भीत, भीति, भी—इन सुबन्तों के साथ विकल्प से समस्त होता है और वह तत्पुरुष समास होता है[२]—**वृकेभ्यो भयम्=वृकभयम् । चौरेभ्यो भयम्=चौरभयम्** । इसी प्रकार **वृकभीतः, वृकभीतिः, वृकभीः** (भेड़ियों से डर) इत्यादि समास होंगे ।

पञ्चम्यन्त सुबन्त पद का अपेत, अपोढ, मुक्त, पतित, अपत्रस्त—इन सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुष समास होता है।[३] सभी पञ्चम्यन्त इन पदों के साथ समस्त नहीं होते, किन्तु कुछेक—**सुखादपेतः=**

---

१. चतुर्थी तदर्थार्थ-बलि-हित-सुख-रक्षितैः (२।१।३६) ।

२. पञ्चमी भयेन (२।१।३७) । भयभीतभीतिभीभिरिति वाच्यम् (वा०) ।

३. अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशः (२।१।३८) ।

सुखापेतः (सुख से रहित) । **कल्पनाया अपोढः=कल्पनापोढः** (कल्पना—संकल्पशक्ति से परे) । **चक्रान्मुक्तः=चक्रमुक्तः** । **स्वर्गात् पतितः=स्वर्गपतितः** । **तरङ्गेभ्योऽपत्रस्तः=तरङ्गापत्रस्तः** (लहरों से डर कर परे गया हुआ) । **प्रासादात् पतितः, भोजनादपत्रस्तः** इत्यादि में समास नहीं होता ।

स्तोक (थोड़ा), अन्तिक (निकट), दूर अर्थ वाले पञ्चम्यन्त पद तथा पञ्चम्यन्त कृच्छ्र (=कष्ट) क्तान्त के साथ विकल्प से समस्त होते हैं और वह तत्पुरुष समास होता है[1]=**स्तोकान्मुक्तः** (थोड़े में ही=अनायास से छूट गया) । यह पञ्चमी अलुक् समास है । **अल्पान्मुक्तः** । **अन्तिकादागतः, अभ्याशादागतः** । **दूरादागतः** । **विप्रकृष्टादागतः** । **कृच्छ्राल्लब्धः** । ये भी सभी पञ्चमी अलुक् समास हैं अर्थात् पूर्वपद की विभक्ति का लुक् न होने पर भी पञ्चमी समास है । स्तोकात् इत्यादि में पञ्चमी करण में हुई है ।

पञ्चम्यन्त शत और सहस्र 'पर' शब्द के साथ समस्त होते हैं ।[2] पञ्चमी तत्पुरुष में पञ्चम्यन्त पूर्वपद होना चाहिए पर यहाँ शत और सहस्र का राजदन्तादि होने से परनिपात होता है[3] और साथ ही इन्हें सुट् (स्) का आगम होता है[4] जो टित् होने से इनका आद्य अवयव बनता है—**शतात् परे परश्शताः पुरुषाः** । **सहस्रात्परे=परस्सहस्राः पुरुषाः**, सौ से अधिक पुरुष, हजार से अधिक पुरुष । यहाँ सुट् (स्) के 'पर' शब्द का अन्तावयव न होने से अर्थात् पदान्त न होने से विसर्ग नहीं होगा । अतः **परःशतम्, परःसहस्रम्**—ये अशुद्ध रूप हैं । पञ्चमी भयेन (२।१।३७) का विभाग करके 'पञ्चमी' इस सूत्र से यहाँ समास हुआ है । ऐसे ही **उर्ध्वं देहात्=ऊर्ध्वदेहः**=के विषय में जानो । **ऊर्ध्वदेहे भवम्=और्ध्वदैहिकम्** । **सितेतरः —सितात् इतरः**, । **ग्रामनिर्गतः=ग्रामाद् निर्गतः** में भी योगविभाग से पञ्चमी समास हुआ है ।

षष्ठी तत्पुरुष

षष्ठ्यन्त पद समर्थ सुबन्त के साथ समस्त होता है और वह तत्पुरुष समास होता है[5]— **राज्ञः पुरुषः—राजपुरुषः** (राजा का सेवक[6]) । राजन् अस्

---

१. स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन (२।१।३९) ।

२. शतसहस्रौ परेणेति वाच्यम् (वा०) ।

३. राजदन्तादिषु परम् (२।२।३१) ।

४. पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम् (६।१।१५७) ।

५. षष्ठी (२।२।८) ।

६. 'पुरुष' का अर्थ नियोज्य, सेवक है इसमें 'तेषां पुरुषास्तथागुणाः स्युः,' यह आप० ध० (२।२६।५) का वचन प्रमाण है ।

पुरुष सु—यह अलौकिक विग्रह है। प्रातिपदिक संज्ञा होकर उसके अवयवभूत सुप्—अस् और सु का लोप हो जाता है, पश्चात् प्रातिपदिकार्थ में सु आने पर **राजपुरुष**: यह रूप हुआ।

अन्तर्वर्तिनी विभक्ति अस् का लोप होने पर प्रत्यय लक्षण कार्य होने से राजन् की पद संज्ञा हो जाती है, तब इस प्रातिपदिक रूप पद के अन्त्य 'न' का लोप हो जाता है।[1] **तस्य पुरुषः=तत्पुरुषः** (उसका भृत्य)। **काकपक्षः** (शिखण्डक)। **काकस्य पक्ष इव**। यहाँ पक्ष शब्द लक्षणा से 'पक्ष सदृश' अर्थ को कहता है। **शोकवशः =शोकस्य वशः** (=आयत्तः)। 'वश' में कर्ता अर्थ में अच् है। **भ्रुकुटी=भ्रुवोः कुटी** (=**कौटिल्यम्**)। **कोपज्ञं सर्गः—कस्योपज्ञा सर्गः**, सृष्टि प्रजापति का आद्य ज्ञान है। कः—प्रजापतिः। **कोपक्रमं सृष्टिः—कस्योपक्रमः सृष्टिः**। सृष्टि पहले-पहल प्रजापति ने प्रारम्भ की। **इध्मानां व्रश्चनः=इध्मव्रश्चनः** (समिधा काटने का साधन, कुठार)। **पलाशानां शातनः पलाशशातनः** (ढाक काटने का साधन, कुठार)। **राज्ञां धानी=राजधानी** (धीयतेऽस्यामिति धानी)। **सक्तुधानी**। **मषीधानी** (दवात)। **गोलवणम्** (नमक जितना गौ को दिया जाता है)। **अश्वलवणम्**। **अरित्र-गाधम्** (उदकम्) (जो चप्पू से मापा जाय)। **छात्रप्रियोऽनध्यायः**। **छात्राणां प्रिय इति**। **कन्याप्रियो मृदङ्गः**, कन्याओं को प्यारा मृदङ्ग। **विद्यादायादश्छात्र उपाध्यायस्य**। **बालमित्रम्=बालस्य सतो मित्रम्**, बालकपन का मित्र। **कुमारसेवकः=कुमारस्य सतः सेवकः**। कुमारावस्था का सेवक। **भिक्षामात्रं न ददाति याचितः**, माँगा हुआ भिक्षा के बराबर नहीं देता। **भिक्षायास्तुल्यप्रमाणम्** ऐसा अस्वपद विग्रह होगा। 'मात्र' का यह अर्थ समास में ही है। **समुद्रमात्रं न सरोऽस्ति किंचन**। **अश्वघासः=अश्वस्य घासः**। तादर्थ्य होने पर भी प्रकृति-विकार-भाव न होने से यह चतुर्थी समास नहीं। घोड़े के लिए घास को 'अश्वघास' कहते हैं। इसी प्रकार **पादोदकम्** (पाओं धोने के लिये पानी), **तपोवनम्**, **क्रीडापर्वतकः**, **लीलाकमलम्**, **शयनपर्यङ्कः**, **बलिपुष्पम्**, **वासभवनम्**, **प्रणामाञ्जलिः**, **उदकाञ्जलिः**, **विश्रामस्थली**—ये सब षष्ठी समास हैं।

षष्ठ्यन्त पद याजक (ण्वुल् प्रत्ययान्त) आदि समर्थ सुबन्तों के साथ समस्त होता है और वह तत्पुरुष समास होता है[2]—**ब्राह्मणानां याजकः=**

---

१. नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८।२।७)।

२. याजकादिभिश्च (२।२।९)।

ब्राह्मणयाजकः । **देवानां पूजकः=देवपूजकः** । **संस्कृतस्याध्यापकः=संस्कृताध्यापकः** । **देवपरिचारकः** । **ब्राह्मणपरिवेषकः** (ब्राह्मणों को भोजन परोसने वाला) । **वैदेह्या भर्ता=वैदेहीभर्ता** (=सीता-पति) । इस वचन से वक्ष्यमाण समास निषेध का निषेध (=प्रतिप्रसव) कर दिया है।

जब समस्त पद से क्रीडाविशेष का बोध हो अथवा जीविका का संकेत हो तो तृच्—अक प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ षष्ठ्यन्त का नित्य समास होता है अर्थात् उसका विग्रह नहीं होता है[1]—**उद्दालकपुष्पभञ्जिका**—एक खेल का नाम है जिसमें उद्दालक पुष्पों को तोड़ा जाता है। इसी तरह **वारणपुष्पप्रचायिका** एक खेल का नाम है जिसमें वरण नाम वृक्ष के फूलों को चुना जाता है। जीविका—**दन्तानां लेखकः=दन्तलेखकः** (दान्तों को रंगने वाला)। **नखानां लेखकः=नखलेखकः** (नाखूनों को रंगने वाला)। क्रीडा अथवा जीविका को कहने के लिये तृच् प्रत्यय का कहीं विधान नहीं, अतः उसका उदाहरण नहीं दिया गया।

निर्धारण में जो षष्ठी है वह समर्थ सुबन्त के साथ समस्त नहीं होती[2]—**क्षत्रियो मनुष्याणां शूरतमः** । **कृष्णा गवां सम्पन्नक्षीरतमा** (गौओं में सबसे अधिक दूध देने वाली काली गौ होती है)। **नकुलोऽभिरूपतमो नराणाम्** । पर तरप् प्रत्ययान्त जो गुणवाची उसके साथ निर्धारण षष्ठी का समास होता है और तरप् प्रत्यय का लोप भी हो जाता है[3]—**सर्वेषां श्वेततरः=सर्वश्वेतः** । **सर्वेषां महत्तरः—सर्वमहान्** ।

प्रतिपदविधाना षष्ठी अर्थात् जिस षष्ठी के विधान में धातु और कारक विशेष का ग्रहण है (पदं पदं प्रति विहिता) उसका समास नहीं होता[4]—**सर्पिषो ज्ञानम्** । यहाँ करण कारक तथा ज्ञा धातु का ग्रहण करके षष्ठी का विधान है—ज्ञोऽविदर्थस्य करणे (२।३।५१)।

पर प्रतिपद का=क्रिया, कारक-विशेष का, आश्रयण करके विधान करने पर भी कृत् प्रत्यय के योग से जो कर्ता वा कर्म में षष्ठी हो उसका समास होता ही है[5]—**इध्मव्रश्चनः कुठारः**, ईंधन की लकड़ी काटने का कुल्हाड़ा। **पलाशशातनः कुठारः** । ढाक काटने का कुल्हाड़ा।

---

१. नित्यं क्रीडाजीविकयोः (२।२।१७)।
२. न निर्धारणे (२।२।१०)।
३. गुणात्तरेण तरलोपश्च (वा०)।
४. प्रतिपद-विधाना च षष्ठी न समस्यत इति वक्तव्यम् (वा०)।
५. कृद्योगा च षष्ठी समस्यते इति वक्तव्यम् (वा०)।

पूरणार्थक, गुणवाचक तथा सुहितार्थक (—तृप्तार्थक) इनके साथ और सत् (शतृ शानच्) अव्यय, तव्य, समानाधिकरण पद—इनके साथ षष्ठी का समास नहीं होता[१]—**छात्राणां पञ्चमः। बलाकायाः शौक्ल्यम्। काकस्य कार्ष्ण्यम्। ब्राह्मणस्य शुक्लाः**। यहां दन्ताः—यह प्रकरण आदि से विदित होता है। **फलानां सुहितः। फलानां तृप्तः। द्विजस्य कुर्वन्। द्विजस्य कुर्वाणः** (अर्थात् किंकर)। यहां स्व-स्वामि-भाव सम्बन्ध में शैषिकी षष्ठी है। **ब्राह्मणस्य कृत्वा** (ब्राह्मणसम्बन्धिनी क्रिया करके)। **ब्राह्मणस्य कर्तव्यम्**। तव्यत् के साथ तो समास होता ही है—**ब्राह्मणकर्तव्यम्**। स्वर में भेद रहेगा। यहाँ कर्ता में षष्ठी के साथ समास हुआ है। **राज्ञः पाटलिपुत्रकस्य**, यहाँ षष्ठ्यन्त राज्ञः का समानाधिकरण षष्ठ्यन्त पाटलिपुत्रकस्य के साथ समास नहीं होता। भट्टोजिदीक्षित के अनुसार यहाँ विशेषण समास भी नहीं होता।

गुण के साथ यह समास निषेध अनित्य है अतः **अर्थगौरवम्, बुद्धिमान्द्यम्** इत्यादि सिद्ध होते हैं।

मति (=इच्छा), बुद्धि, पूजा—इन अर्थों वाली धातुओं से वर्तमान में विहित जो क्त, तदन्त के साथ षष्ठीसमास नहीं होता[२]—**इदं मे मतम्** (=इष्टम्)। **अयं नो विदितोर्थः। राज्ञः पूजितो विप्रः**। इन उदाहरणों में 'क्त' वर्तमान काल में विहित है। सामान्यतया 'क्त' भूतकाल का वाचक है। उपज्ञात शब्द में तो क्त भूत में ही है। उपज्ञाते (४।३।११५) में पूर्व-सूत्र से 'तेन' की अनुवृत्ति आती है। वर्तमान में क्त होता तो षष्ठी (तस्य) का प्रयोग होता। सामान्यतया यह ज्ञापक इच्छार्थक तथा पूजार्थक धातुओं के विषय में भी माना जाता है। जिससे भूत में क्त होने पर **राज्ञा पूजितः**= '**राजपूजितः**' ऐसा तृतीयान्त का क्तान्त के साथ समास निर्बाध होगा।

अधिकरण अर्थ में विहित जो क्त, तदन्त के साथ षष्ठी समास नहीं होता[३] :— **इदमेषाम् आसितम्** (यह इनके बैठने का स्थान है)। **इदमेषां शयितम्। इदमेषां भुक्तम्**।

कृद्योग में कर्ता और कर्म दोनों में षष्ठी प्राप्त होने पर जो कर्म में ही षष्ठी विधान की गई है वह (कर्म में षष्ठी) समर्थ सुबन्त के साथ समस्त नहीं होती है[४]—**आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपालकेन**। गोपाल न होते हुए भी इसका

---

१. पूरण-गुण-सुहितार्थ-सदव्यय-तव्य-समानाधिकरणेन (२।२।११)।
२. क्तेन च पूजायाम् (२।२।१२)।
३. अधिकरणवाचिना च (२।२।१३)।
४. कर्मणि च (२।२।१४)।

गौओं का दोहना आश्चर्यजनक है। यहाँ कृत्प्रत्ययान्त 'दोह' के साथ सम्बन्ध होने से गो तथा अगोपालक—दोनों से षष्ठी प्राप्त थी, पर ऐसी अवस्था में कर्म में ही षष्ठी होती है, कर्ता में नहीं। 'गवाम्' यह कर्म में षष्ठी है। **विचित्रा हि सूत्रस्य कृतिः पाणिनिना।** यहाँ 'सूत्रस्य' यह कर्म में षष्ठी है। **साधु खलु पयसः पानं देवदत्तेन।** 'पयसः' यहाँ कर्म में षष्ठी है।

कृद्योग में कर्ता अर्थ में जो षष्ठी, उसका तृच् अक-प्रत्ययान्त के साथ समास नहीं होता—[1] **भवतः शायिका** (आपके सोने की बारी)। यहाँ शायिका में पर्याय (=बारी) अर्थ में ण्वुच् (=अक) कृत्प्रत्यय हुआ है। इसी प्रकार **भवत आसिका,, भवतोऽग्रग्रामिका** (=**भवान् अग्रगमनमर्हति**—आप आगे जाने के योग्य हैं), में ण्वुच् (=अक) कृत्प्रत्यय है। तीनों उदाहरणों में कृत्प्रत्यय के योग में कर्तृवाचक 'भवत्' शब्द से षष्ठी हुई। यहाँ भवच्छायिका आदि नहीं कह सकते। तृच् कर्ता अर्थ में ही होता है। उसके प्रयोग में कर्ता में षष्ठी होती ही नहीं। अतः सूत्र में तृच् ग्रहण उत्तर सूत्र के लिये है।

कर्ता में जो तृच्, अक उनके योग में जो षष्ठी, तदन्त का समर्थ सुबन्त के साथ समास नहीं होता[2]—तृच्—**अपां स्रष्टा। पुरां भेत्ता। वज्रस्य भर्ता। घटानां निर्माता।** अक—**ओदनस्य भोजकः। सक्तूनां पायकः।** (सत्तु पीने वाला)। **इक्षूणां भक्षिका—इक्षुभक्षिका**=ईख का खाना। यहाँ अक कर्ता में नहीं है, अतः समास हो गया।

सप्तमी तत्पुरुष

सप्तम्यन्त पद का शौण्ड आदि सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है।[3] **अक्षेषु शौण्डः—अक्षशौण्डः** (पासा खेलने में चतुर)। **अक्षकितवः—अक्षकितवः। वाचि चपलः—वाक्चपलः। वनेऽन्तर् वसति—वनान्तर्** वसति (वनमध्ये वसतीत्यर्थः)। इस गण में अधि शब्द पढ़ा है। वह नित्य ख-प्रत्ययान्त होकर समस्त होता है, अकेला नहीं—**त्वदधीना हि सिद्धयः** (रघु० १।७२)। **त्वयि अधि—त्वदधीनाः।** स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा (१।१।६८)। इस सूत्र में '**शब्दसंज्ञा**' में सप्तमी समास 'सप्तमी शौण्डैः' इस योग का (१) सप्तमी (समर्थेन सुबन्तेन समस्यते) (२) शौण्डैः इस प्रकार विभाग करने से

१. तृजकाभ्यां कर्तरि (२।२।१५)।
२. कर्तरि च (२।२।१६)।
३. सप्तमी शौण्डैः (२।१।४०)।

उपपन्न होता है। ऐसे ही तुल्यास्य-प्रयत्नं सवर्णम् (१।१।९) में **आस्ये प्रयत्नः—आस्यप्रयत्नः** यह योगविभाग से सप्तमी समास सिद्ध होगा। इसी प्रकार **भुवि देव इव—भूदेवः** (ब्राह्मण)—यहाँ भी योगविभाग के द्वारा सप्तमी-समास है।

सिद्ध, शुष्क, पक्व, बन्ध—इन सुबन्तों के साथ सप्तम्यन्त समस्त होता है और वह तत्पुरुष समास होता है[1]—**काश्मीरसिद्धः कौशेयशाटकः। आतपे शुष्कः—आतपशुष्कः। छायाशुष्कः।** (छाया में सूखा हुआ)। **स्थालीपक्व ओदनः। चुल्लीपक्वो वृन्ताकः।** चूल्हे में पकाया हुआ बैंगन। **चक्रे बन्धः—चक्रबन्धः।**

ध्वाङ्क्ष (=काक) वाची सुबन्त के साथ सप्तम्यन्त का समास होता है, जब समास से निन्दा की प्रतीति होती हो[2]—**तीर्थे ध्वाङ्क्ष इव—तीर्थध्वाङ्क्षः।** जो तीर्थस्थान में कौवे की भांति एकत्र नहीं ठहरता उसे तीर्थ ध्वाङ्क्ष कहते हैं। इसी तरह **तीर्थकाकः, तीर्थवायसः** के विषय में जानो।

कृत्य प्रत्ययान्तों के साथ सप्तम्यन्त का समास होता है, नियोग, नियम, अवश्यंभाव की प्रतीति होने पर[3]—**मासे देयम् ऋणम् मासदेयम्**—ऋण जो मास के भीतर अवश्य चुकाना है। **पूर्वाह्णे गेयं साम—पूर्वाह्णगेयं साम**—साम जो नियम से पूर्वाह्ण में गाया जाता है। यह समास केवल यत् प्रत्ययान्त के साथ ही इष्ट है, दूसरे किसी कृत्य प्रत्ययान्त के साथ नहीं होता। **मासे दातव्यम्**—यहां समास नहीं होगा। सूत्र में ऋण शब्द अवश्यम्भाव का उपलक्षक है।

सुबन्त के साथ सप्तम्यन्त का नित्य समास होता है संज्ञा विषय में और वह तत्पुरुष समास होता है[4]—**अरण्येतिलकाः। अरण्येमाषाः। कूपेपिशाचकाः। वनेकिंशुकाः** ये सप्तमी अलुक् समास हैं। यहां सप्तमी का अलुक् संज्ञा-विषय में ही होता है जब पूर्व पद अदन्त (=अकारान्त) अथवा हलन्त हो।[5] **वाप्यश्वः** (दर्याई घोड़ा)। **नद्यातिः।** यहां पूर्वपद के ईकारान्त होने से अलुक् नहीं हुआ।

---

१. सिद्ध-शुष्क-पक्व-बन्धैश्च (२।१।४१)।
२. ध्वाङ्क्षेण क्षेपे (२।१।४२)।
३. कृत्यैर्ऋणे (२।१।४३)।
४. संज्ञायाम् (२।१।४४)।
५. हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम् (६।३।९)।

दिन व रात के अवयववाची पदों का क्तान्त सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुष समास होता है[1]—**पूर्वाह्णे कृतम्—पूर्वाह्णकृतम्। अपराह्णेकृतम्—अपराह्ण कृतम्। पूर्वरात्रे कृतम्—पूर्वरात्रकृतम्। अपररात्रे कृतम् —अपररात्रकृतम्।**

सप्तम्यन्त पद क्तान्त के साथ समस्त होता है निन्दा गम्यमान होने पर, और तत्पुरुष समास होता है[2]—**अवतप्तेनकुलस्थितं तवैतत्**—यह तो तेरा तपे हुए स्थल में नकुल की स्थिति के सदृश आचरण है अर्थात् चञ्चलता है। यहाँ **अवतप्तेनकुलस्थितम्**—सप्तमी अलुक् समास है। तत्पुरुषे कृति बहुलम्।

पात्रेसमित आदि शब्द सप्तमी तत्पुरुष समास निपातित किये गये हैं निन्दा विषय में[3]—**पात्रेसमितः**, पात्र में ही सङ्गत=जुड़ा हुआ, न कि किसी कार्य में युक्त। पात्र से यहाँ भक्ष्य-पेय आदि के पात्र से अभिप्राय है। इसी प्रकार **पात्रे-बहुलः** के विषय में जानो। **उदक्रिमिः**। **उदुम्बर-मशकः** (जो गूलर पर मच्छर की तरह)। **कूपमण्डूकः**। **कूपकच्छपः**। **नगरकाकः**। **नगरवायसः**। इनमें उपमा द्वारा निन्दा की प्रतीति होती है। **मातरिपुरुषः**। **पिण्डीशूरः** (भोजनभट्ट)। **गेहे-शूरः**। **गेहे-नर्दी**। **गेहे-क्ष्वेडी** (घर में ही गर्जने वाला)। **गेहे-मेही** (घर में ही मूत्र करने वाला, अत्यन्त अलस)। **गोष्ठे-पण्डितः** (ग्वालों के बीच में चतुर)। **कर्णे-टिट्टिभः** (कान में टर टर करने वाला)। पात्रे-समित आदि समास किसी दूसरे पद के साथ मिल कर नया समास नहीं बनाते। अतः हम **परमपात्रेसमितः** नहीं कह सकते।

कर्मधारय

समानाधिकरण दो पदों का जो तत्पुरुष समास होता है वह कर्मधारय कहाता है।[4] अधिकरण शब्द अभिधेय अर्थ का वाचक है। भिन्न भिन्न प्रवृत्ति-निमित्त वाले दो शब्द जब मिलकर एक अर्थ को कहते हैं तब वे समानाधिकरण होते हैं अथवा उनमें सामानाधिकरण्य या समानाधिकरणता होती है। समानाधिकरणता दोनों पदों की एकविभक्तिकता से प्रकट होती है। अतः कर्म-

---

१. क्तेनाहोरात्रावयवाः (२।१।४५)।
२. क्षेपे (२।१।४७)।
३. पात्रेसमितादयश्च (२।१।४८)।
४. तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः (१।२।४२)।

धारय समास समानाधिकरण तथा समानकारक दो पदों का तत्पुरुष समास होता है।

विशेषणवाची सुबन्त समानाधिकरण विशेष्यवाची सुबन्त के साथ बहुत करके समस्त होता है और वह कर्मधारय समास होता है।[1] यद्यपि विशेषण विशेष्य भाव में कामचार है, अर्थात् विशेषण का स्वरूप नियत नहीं है तो भी गुणवाचक के साथ उच्चारित जातिवाची विशेष्य होता है और गुणवाचक विशेषण। विशेषण का समास-विधायक शास्त्र में प्रथमा से निर्देश है अतः विशेषण उपसर्जन है और उपसर्जन होने से उसका पूर्वनिपात होता है—**नीलं च तदुत्पलं च=नीलोत्पलम्** । **रक्तोत्पलम्** । विग्रह न होने से नित्य समास होता है—**कृष्णसर्पः** । यह विषधर जातिविशेष का नाम है। हरेक काले साँप को '**कृष्णसर्पः**' नहीं कहते। इसी प्रकार **लोहितशालिः** भी नित्य समास है। **आर्यमिश्राः=पूज्यास्त्रैवर्णिकाः** । **गुरुचरणाः=पूज्या गुरवः** । ये भी नित्य समास है अस्वपद विग्रह होने से। **रज्जुशारदम् उदकम्** अभी-अभी रस्सी से निकाला हुआ ताजा पानी। यहाँ रज्जु शब्द रज्जूद्धृत (=रस्सी से खींचा हुआ) के अर्थ में प्रयुक्त होता है। उसके साथ शारद (=अभिनव) का अस्वपद विग्रह नित्य समास है। **श्वःश्रेयसम् ते भूयात्** । **शोभनं श्रेयः=श्वःश्रेयसम्** । यह भी अस्वपद विग्रह नित्य समास है। कहीं समास होता ही नहीं, विशेषणविशेष्य-भाव होने पर भी—**रामो जामदग्न्यः** । **अर्जुनः कार्तवीर्यः** (कृतवीर्य का पुत्र)।

अग्रहस्तः—अग्रं चासौ हस्तश्च । यहाँ अवयव और अवयवी के अभेदोपचार से समानाधिकरणता है। कुसीददशैकादशात् ष्ठन्ष्ठचौ (४।४।३१)—इस सूत्र में '**दशैकादश**' शब्द का प्रयोग है। एकादश (ग्यारह) लेने के लिये जो दश ऋण-रूप में दिये गये उन्हीं को एकादश कह दिया है। **एकादशार्थत्वाद् एकादश, ते च वस्तुतो दश च** ऐसा विग्रह है। 'अकार' समासान्त इसी सूत्र में निपातन किया है।

वृत्तिविषय में संख्या-वाचक पूरण प्रत्ययान्त का अर्थ देते हैं बिना पूरण-प्रत्यय के—**तपःषड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः** (शाकुन्तल)। यहाँ **षड्भागः=षष्ठो भागः** । **त्रिभागशेषासु निशासु** (कुमार ५।५७) यहाँ भी **त्रिभागः=तृतीयो भागः** । **यत्करोति परं धर्मं यतिर्मूलफलाशनः । तत्र**

---

१. विशेषणं विशेष्येण बहुलम् (२।१।५७)।

राज्ञश्चतुर्भागः......।। (रा० ३।६।१४) । **दशांशः—दशमोंऽशः । शतांशः —शततमोंऽशः ।**

पूर्वकालवाची कृदन्त सुबन्त का अपरकालवाची समानाधिकरण सुबन्त के साथ समास होता है, तथा एक, सर्व, जरत्, पुराण, नव, केवल—इन सुबन्तों का समानाधिकरण सुबन्त के साथ समास होता है और वह कर्मधारय समास होता है।[1] **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** से ही समास सिद्ध था। पूर्व-निपात नियम के लिये सूत्र है—**पूर्वं स्नातः पश्चाद् अनुलिप्तः—स्नातानुलिप्तः**, जिसने पहले न्हाया और जिसे फिर चन्दन लेप किया गया। **पूर्वं कृष्टं पश्चात् समीकृतं क्षेत्रम्=कृष्ट-समीकृतं क्षेत्रम्**, वह खेत जिसमें पहले हल चलाया गया, फिर बराबर कर दिया गया । **पूर्वं दग्धाः पश्चात् प्ररूढाः दग्धप्ररूढाः शराः । पूर्वंगता** (पतिकुलम्) **पश्चादागता** (पितृकुलम्)=**गतप्रत्यागता नवोढा । सा चेदक्षत-योनिः स्याद् गतप्रत्यागताऽपि वा** (मनु० ९।१७६) । **स्त्रीपुमान्** (शिखण्डी) । =**पूर्वं स्त्री पश्चात् पुमान्** । **शृतशीतं क्षीरम्—पूर्वं शृतं पश्चात् शीतम्**, जो पहले उबाला गया, पीछे ठंडा किया गया । **दृष्टनष्टश्चौरो महता यत्नेनाऽऽसादितः**, जो पहले देखा गया और फिर ओझल हो गया ऐसा चोर कठिनता से पकड़ा गया । **एकश्चासौ नाथश्च एकनाथः । हरिरेकनाथस्त्रि-लोक्याः । एकनीलं तडित्वतः खण्डमिवाम्बुदस्य** (किरात १७।४४) । यहाँ 'एक' 'केवल' अर्थ में है। एक नीलम् का अर्थ है **केवलं कृष्णवर्णम्**, जो सारा काला ही है, जिसमें दूसरा वर्ण कुछ भी नहीं। **एके मुख्यान्यकेवलाः**, ऐसा कोष है । **एकप्रियदर्शनः** (रा० १।१।३)। **एकप्रियं दर्शनं यस्य** । यहां **एकप्रियम्** कर्मधारय है । **सर्वे च ते देवाश्च=सर्वदेवाः । जरन्तश्च ते मीमांसकाश्च —जरन्मीमांसकाः** । पुराने मीमांसक लोग । **पुराणाश्च ते वैयाकरणाश्च—पुराणवैयाकरणाः । नववैयाकरणाः । केवलं च तद् अन्नं च केवलान्नम् ।**

कृत्तविकृत्तपक्वमांसभक्षः । **पूर्वं कृत्तं पश्चाद् विकृत्तं—कृत्तविकृत्तम् । पूर्वं कृत्तविकृत्तं पश्चात् पक्वम्—कृत्तविकृत्तपक्वम्** । त्रिपद तत्पुरुष न होने से दो बार समास हुआ ।

दिग्वाची तथा संख्यावाची सुबन्त समानाधिकरण सुबन्त के साथ समस्त होते हैं संज्ञाविषय में ही और वह कर्मधारय समास होता है ।

---

१. पूर्वकालैक-सर्व-जरत्-पुराण-नव-केवलाः समानाधिकरणेन (२।१।४९)

(**संज्ञा**-नियम तत्पुरुष में ही है बहुव्रीहि में नहीं)[१]—**उत्तरकुरवः**। देश विशेष का नाम। **पूर्वेषुकामशमी** । **अपरेषुकामशमी**। पूर्व दिशा में स्थित **इषुकामशमी नगरी पूर्वेषुकामशमी** नाम से प्रसिद्ध है। पश्चिम दिशा में स्थित **इषुकामशमी अपरेषुकामशमी** नाम से प्रसिद्ध है। संख्या—**सप्तर्षयः**। **विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोऽथ गौतमः। अत्रिर्वसिष्ठः कश्यप इत्येते च सप्तर्षयः॥** संज्ञा होने से सप्तर्षयः का विग्रह नहीं होगा कारण कि विग्रह वाक्य होता है और वाक्य से संज्ञा का बोध होता नहीं। **वाक्यार्थः क्रिया**—यह सिद्धान्त है। **पञ्चाम्राः**। **अश्वत्थ एकः पिचुमर्द एको द्वौ चम्पकौ त्रीणि च केसराणि। सप्ताऽथ ताला नव नारिकेलाः पञ्चाम्ररोपी नरकं न याति॥** पिचुमर्द—निम्ब। केसर—बकुल, मौलसरी। इस श्लोक में पञ्च आम्रों का परिगणन किया है। **पञ्चवटाः**। अश्वत्थ (पीपल), बिल्व, वट, धात्री (आमलकी, आमला), अशोक—यह पाँच वट हैं। **पञ्चयज्ञाः** ब्रह्म यज्ञादि। **अथातः पञ्चयज्ञाः** (आश्व० गृ० ३।१।१)। **त्रिपुष्करेषु त्रिदशत्वमाप** (रघु० १८।३१)। तीर्थ-विशेषेषु।

संज्ञा-नियम तत्पुरुष में ही है, अतः **पञ्च गावोऽस्य—पञ्चगुः**। यह असंज्ञा में बहुव्रीहि समास निर्बाध होगा। संज्ञा न होने से **उत्तरा (उत्तरे) वृक्षाः**। **पञ्च ब्राह्मणाः**, यहाँ समास नहीं होता। अतः **पञ्चभ्यश्छात्रेभ्यो देहि**—ऐसा समास न करके कहेंगे, न कि **पञ्चच्छात्रेभ्यो देहि**।

असंख्या में भी दिग्वाची तथा संख्यावाची सुबन्त समानाधिकरण सुबन्त के साथ समस्त होते हैं जब तद्धितार्थ विषय हो (जब कि समासार्थ के साथ ही किसी तद्धित प्रत्यय के अर्थ को भी कहना हो) जब उत्तरपद परे हो, और जब समाहार समास का वाच्यार्थ हो[२]—**पूर्वस्यां शालायां भवः—पौर्वशालः**। पूर्वा-ङि और शाला-ङि का समास होकर तत्र भवः' इस अर्थ में ञ (अ) प्रत्यय होता है। **पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः=पञ्चकपालः**। यहाँ पञ्चन् सुप् कपाल-सुप् का समास होकर 'संस्कृतम्' इस अर्थ में अण् प्रत्यय आता है जिसका पीछे लुक् हो जाता है।[३]

---

१. दिक्संख्ये संज्ञायाम् (२।१।५०)।

२. तद्धितार्थोत्तरपद-समाहारे च (२।१।४१)।

३. द्विगोर्लुगनपत्ये (४।१।८८) इससे द्विगु के निमित्त-भूत प्राग्दीव्यतीय तद्धित प्रत्यय का लुक् हो जाता है, पर वह तद्धित अपत्यार्थक नहीं होना चाहिये।

पूर्वशाला प्रिया यस्य स पूर्वशालाप्रियः। इस त्रिपद बहुव्रीहि समास में 'पूर्वशाला' यह समानाधिकरण तत्पुरुष है। 'प्रिया' यह उत्तरपद है। **पञ्च गावो धनं यस्य स पञ्चगवधनः**। यहाँ **पञ्चन् जस्, गो-जस् धन-सु**—इस त्रिपद बहुव्रीहि में पञ्चन्-जस् गो-जस् पद समानाधिकरण तत्पुरुष है और संख्यापूर्व होने से द्विगु है। अतः समासान्त टच्[1] (अ) होकर, अन्तर्वर्तिनी विभक्ति का लुक् हो जाने से 'पञ्चगव' ऐसा रूप निष्पन्न होता है। **पञ्चानां गवां समाहारः—पञ्चगवम्**। **दशानां कुमारीणां समाहारः—दशकुमारि**। समाहार द्विगु नपुंसक लिङ्ग होता है।[2] समास मात्र की प्रातिपदिक संज्ञा है और नपुंसक प्रातिपदिक को ह्रस्व हो जाता है।[3]

ऊपर तद्धितार्थ विषय में जो संख्यापूर्वपद उदाहरण दिया है—**पञ्चकपालः** (पुरोडाशः) यह द्विगु समास है[4]। उत्तरपद परे रहते जो संख्यापूर्वपद उदाहरण दिया है—**पञ्चगवधनः** उसमें **'पञ्चगव'**—यह द्विगु समास है।[4] समाहार अर्थ में **पञ्चगवम्** यह उदाहरण दिया है और **दशकुमारि** यह भी। द्विगु समास तत्पुरुष का ही एक भेद है अतः तत्पुरुष समास को प्राप्त होने वाला समासान्त टच् यहां भी होता है। तद्धितार्थ विषय में द्विगु के अन्य उदाहरण—**द्विवर्णः पटः** (**द्वाभ्यां वर्णाभ्यां रक्तः**)। रक्तार्थ में अण् प्रत्यय का लुक्। **ऐकान्यिको वेदपाठी** (एकम् अन्यद् अध्ययने कर्म वृत्तम् अस्य), जिस ने उच्चारण में एक स्खलन किया है। **दशमास्यो गर्भः** (**दश मासान् भृतः**)। यहाँ यप् प्रत्यय हुआ है। **द्विपदिकां लभते (द्वौ द्वौ पादौ लभते)**। यहाँ यद्यपि वीप्सा प्रकृति (पाद) की उपाधि (विशेषण) है, तो भी तद्धित से द्योत्य होने से तद्धितार्थ है। तद्धितार्थ में वुन् प्रत्यय हुआ है। **सप्तसमो बालः (सप्त समा वर्षाणि प्रमाणम् अस्य वयसः)**, सात बरस का बालक।

---

१. गोरतद्धितलुकि (५।४।९२)। गो शब्दान्त तत्पुरुष को टच् समासान्त होता है जब तद्धित प्रत्यय का लुक् न हुआ हो।

२. स नपुंसकम् (२।४।१७)। समाहार द्विगु और समाहार द्वन्द्व नपुंसक होता है।

३. ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य (१।२।४७)

४. संख्या-पूर्वो द्विगुः (२।१।५२)।

'प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यं' इस वचन से प्रमाणार्थक 'मात्रच्' का लुक् हुआ है।

समाहार अर्थ में द्विगु स्वभावतः एक अर्थ का वाचक होता है अतः उससे एकवचन ही आता है और समाहार में पुंस्त्व व स्त्रीत्व की प्रसक्ति न होने से शेष नपुंसक लिङ्ग में ही समाहार वाचक पद का प्रयोग युक्त प्रतीत होता है, जैसे समूहवाचक तद्धितान्त शब्दों का प्रायः नपुंसकलिङ्ग में ही प्रयोग होता है—**ब्राह्मणानां समूहः—ब्राह्मण्यम्** । **हस्तिनां समूहः—हास्तिकम्** । **भिक्षाणां समूहः—भैक्षम्** । समाहारद्विगु के उदाहरण—**पञ्चपात्रम्** । **चतुर्युगम्** । **त्रिभुवनम्** । **गणरात्रम्—गणानां बह्वीनां रात्रीणां समाहारः**। यहाँ अच् समासान्त होता है। **त्र्यूषणम्-त्रयाणाम् ऊषणानां समाहारः** (सोंठ, काली मिर्च, पिप्पली)। **त्रिमधु** (शक्कर, मधु, घृत)।

पर भाषा को युक्तायुक्त विचारणा से सर्वथा नियन्त्रित नहीं किया जा सकता। अतः **त्रयाणां लोकानां समाहारः—त्रिलोकी** । **पञ्चानां वटानां समाहारः—पञ्चवटी**। यहाँ स्त्रीलिङ्गता होकर ङीप् हुआ। **पञ्चानां खट्वानां समाहारः पञ्चखट्वी**[1]। यहाँ उपसर्जनह्रस्व होकर ङीप् हुआ। यहाँ न्यायप्राप्त नपुं० पञ्चखट्वम् भी होता है। **पञ्चानां तक्ष्णां समाहारः—पञ्चतक्षी**। यहाँ नलोप भी होता है। और नपुं० **पञ्चतक्षम्** भी साधु है।

कुत्स्यमान (=निन्द्यमान) अर्थ वाले सुबन्त समानाधिकरण निन्दक-वाचक सुबन्तों के साथ समस्त होते हैं और कर्मधारय समास होता है[2]—**वैयाकरणखसूचिः**, अभ्यासरहित वैयाकरण जो पूछा जाने पर प्रश्न को भुलाने के हेतु आकाश की ओर संकेत करता हुआ कहता है—**अहो नीलं गगनमिति** । **मीमांसकदुर्दुरूटः**, मीमांसक जो नास्तिक है । **याज्ञिक-कितवः**, जो यज्ञ के अयोग्य पुरुष का यज्ञ कराता है अर्थात् लोभी है । **शिष्य-चेलम्**—निकृष्ट शिष्य । **मा ज्ञातिचेलं भुवि कस्यचिद् भूत्** (भट्टि० १२। ७८)। **कुत्सितो ज्ञातिः —ज्ञातिचेलम्**। ज्ञाति—बन्धु। **मुनिखेटः**। **दधि-कटुकम्**। **ब्राह्मणब्रुवः**—निन्दित (कर्महीन) ब्राह्मण। **दैवहतकम्**—धिक्कृत दैव। इन सब उदाहरणों में अस्वपदविग्रह नित्यसमास है।

---

१. अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते। वा ऽऽबन्तः स्त्रियामिष्टः। अनो नलोपश्च वा च द्विगुः स्त्रियाम्। पात्राद्यन्तस्य न। **पञ्चपात्रम्** आदि में उत्तरपद के अकारान्त होने पर भी समास नपुं० ही होता है।

२. कुत्सितानि कुत्सनैः (२।१।५३)।

पाप, अणक (कुत्सना वाचक शब्द) कुत्सित अर्थ वाले समानाधिकरण सुबन्त के साथ समस्त होते हैं और वह कर्मधारय समास होता है[१]—**पापनापितः, अणककुलालः**। अणक गर्ह्य को कहते हैं।

उपमानवाची सुबन्त समानाधिकरण साधारण धर्मविशिष्ट उपमेयों के साथ समस्त होते हैं और वह कर्मधारय समास होता है[२]—**घन इव श्यामः घनश्यामः**। यहां श्यामत्व साधारण धर्म है। **कुमुदश्येनी बलाकपङ्क्तिः**—कुमुदों की तरह सफेद बगुलों की पङ्क्ति। श्वेत=श्येन। स्त्री० में श्येता, श्येनी।

उपमित-वाची सुबन्त समानाधिकरण व्याघ्रादि उपमानों के साथ समस्त होते हैं, जब सामान्य धर्म का वाचक वाक्य में प्रयुक्त न हो[३]—**पुरुषोऽयं व्याघ्र इव—पुरुषव्याघ्रः। पुरुषसिंहः। भरत ऋषभ इव—भरतर्षभः। नरशार्दूलः। मुखं पद्मम् इव =मुखपद्मम्** (कमल जैसा मुख)। **करः किसलयम् इव—करकिसलयम्** (नई कोंपल जैसा कोमल तथा रक्त हाथ)। **कालः चक्रमिव —कालचक्रम्** (सुश्रुत १।१९।२१)। चक्र की तरह घूमने से काल को 'कालचक्र' कहा है। **गण्डाः शैला इव** (स्थूलत्वात्) =**गण्डशैलाः**। **गण्डशैलास्तु च्युताः स्थूलोपला गिरेः** (अमर), पहाड़ से लुढ़के हुए बड़े पत्थर।

श्रेणि आदि गणपठित सुबन्त समानाधिकरण कृत आदि (कृत सदृश) सुबन्तों के साथ समस्त होते हैं जब च्व्यर्थ—अभूत-तद्भाव अर्थ विवक्षित हो[४]—**अश्रेणयः श्रेणयः कृताः—श्रेणिकृताः**। जो पहले श्रेणि रूप में नहीं थे वे अब श्रेणि बना दिये गये हैं। समानशिल्प (हुनर) अथवा समान व्यापार से जो जीविका सम्पन्न करते हैं वे लोग (उनका समूह) श्रेणि कहलाते हैं। च्वि प्रत्यय आने पर तो नित्यगति-समास होगा—**अश्रेणयः श्रेणयः कृताः—श्रेणीकृताः**।

नञ् रहित क्तान्त नञ्विशिष्ट क्तान्त के साथ समस्त होता है[५]—**कृतं च तद् अकृतं च—कृताकृतम्** (कुछ किया कुछ न किया)। **कृताकृतमाज्यहोमेषु परिस्तरणम्** (आश्व० गृ० १।३।४)। कृताकृतम्=क्रियतां मा वा क्रियताम्, वैकल्पिकमित्यर्थः। आज्यहोमों में परिस्तरण (—आहवनीय आदि अग्नियों का प्राची आदि दिशाओं में क्रम से चार-चार दर्भों से परिवेष्टन) किया जाय

---

१. पापाणके कुत्सितैः (२।१।५४)।
२. उपमानानि सामान्यवचनैः (२।१।५५)।
३. उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे (२।१।५६)।
४. श्रेण्यादयः कृतादिभिः (२।१।५९)।
५. क्तेन नञ्विशिष्टेनानञ् (२।१।६०)।

अथवा न किया जाय, अर्थात् वैकल्पिक है। नञ्विशिष्ट का अर्थ है जिसमें नञ् मात्र ही भेदक हो, अतः सिद्धं च तद् अभुक्तं च—यहाँ समास नहीं होगा। हाँ नुट्, इट् अधिक होने पर समास नहीं रुकता, कारण कि नुट्, इट् आगम होने से नञ्विशिष्ट क्तान्त का अवयव हैं।—**अशितानशितम्** (कुछ खाया, कुछ न खाया)। अशितानशितेन जीवति। **भुक्ताभुक्तम्**। **पीतापीतम्**। **उदितानुदितम्** (कुछ उदय हुआ और कुछ न उदय हुआ हुआ)। **क्लिष्टाक्लिशितेन वर्तते** (=कुछ दुःख से और कुछ बिना दुःख से जीता है)। नञ् से यहाँ क्रिया ऽसमाप्तिद्योतक अव्यय का भी ग्रहण होता है, इससे **कृताऽपकृतम्, भुक्तविभुक्तम्, पीतविपीतम्** इत्यादि समास सिद्ध होते हैं। 'वि' का यहाँ वही अर्थ है जो क्ताद् अल्पाख्यायाम् (४।१।५१) इस सूत्र के **अभ्रविलिप्ती द्यौः** उदाहरण में है। वि=अल्प।

सत्, महत्, परम, उत्तम, उत्कृष्ट—ये सुबन्त समानाधिकरण पूज्यमान अर्थवाले सुबन्त के साथ समस्त होते हैं।[1] सत् आदि पूजा-वचन लिये जाते हैं। **सत्पुरुषः** (संश्चासौ पुरुषश्च)। **महावैयाकरणः**। **महोत्सवः**। **महोक्षः** (महान् उक्षा)—बड़ा बैल। **परमर्षिः**। **उत्तमपुरुषः**। **उत्कृष्टपुरुषः**।

वृन्दारक, नाग, कुञ्जर—इन समानाधिकरण सुबन्तों के साथ पूज्यमानवाची सुबन्त का समास होता है और वह कर्मधारय होता है[2]—**गोवृन्दारकः**। **गौर्वृन्दारक इव**। वृन्दारक=देव। प्रशस्त, उत्तम बैल। **अश्ववृन्दारकः**। **गोनागः**। **अश्वनागः**। **गोकुञ्जरः**। **अश्वकुञ्जरः**।

जातिविषयक प्रश्न अर्थ में प्रयुक्त हुए कतर, कतम—ये सुबन्त समानाधिकरण जातिवाचक सुबन्त के साथ समस्त होते हैं[3]—**कतरः कठः—कतरकठः**। **कतमः कठः—कतमकठः**। **कतरकालापः**। **कतमकालापः**। चरण =वेद-शाखाध्यायी अर्थ में प्रयुक्त शब्द जातिवाचक माने जाते हैं।

किम् शब्द क्षेप—निन्दा अर्थ को कहता हुआ समर्थ सुबन्त के साथ समस्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है[4]—**किंराजा यो न रक्षति**—वह कुत्सित=निकम्मा राजा है जो रक्षा नहीं करता। **किंसखा योऽभिद्रुह्यति**, वह निन्दित मित्र है जो हानि पहुंचाना चाहता है। **किंगौर्यो न वहति**—वह

---

१. सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः (२।१।६१)।

२. वृन्दारक-नाग-कुञ्जरैः पूज्यमानम् (२।१।६२)।

३. कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने (२।१।६३)।

४. किं क्षेपे (२।१।६४)।

निकम्मा बैल है जो बोझ नहीं खींचता। इन सब उदाहरणों में तत्पुरुष समास होने से प्राप्त टच् समासान्त नहीं हुआ। कारण कि 'किमः क्षेपे' (५।४।७०) शास्त्र से इसका निषेध है।

इभपोटा (हथिनी जो हाथी के भी व्यञ्जन—चिह्न रखती है)। **गोगृष्टिः** (प्रथम बार प्रसूत गौ), **गोयुवतिः**। **गोधेनु**, (दूध देने वाली गौ) अचिरप्रसूत। **गोवशा** (बाँझ गौ)। **गोवेहत्, गर्भघातिनी गौः**। वेहत् तकारान्त है, दकारान्त नहीं। **उक्षाणं वेहतं वा क्षदन्ते** ऐसा ब्राह्मण वचन है। **गोबष्कयणी** (बाखड़ गौ)। तरुण वत्स को बष्कय कहते हैं। **अग्निस्तोकः** (थोड़ी सी अग्नि)। **उदश्वित्कतिपयम्** (थोड़ी-सी लस्सी)। **बकधूर्त्तः**—ये इसी रूप से उच्चारण किये हुये कर्मधारय समास साधु माने जाते हैं।[1]

जातिवाचक शब्द समानाधिकरण प्रशंसावाचक मतल्लिका आदि रूढि शब्दों के साथ समस्त होते हैं और वह कर्मधारय समास होता है[2]—**गोमतल्लिका**। **गोमर्चचिका** (बढ़िया गौ अथवा बढ़िया बैल)। **अश्वप्रकाण्डम्** (प्रशस्त घोड़ा)। **गवोद्घः** (=प्रशस्त गौ)। **गोतल्लजः** (प्रशस्त गाय)। **मतल्लिका,** आदि शब्द नियत लिङ्ग होने से अपने-अपने लिङ्ग को न छोड़ते हुए ही समानाधिकरण होते हैं। **मतल्लिका, मर्चचिका** स्त्रीलिङ्ग हैं। **प्रकाण्ड** नपुंसक लिङ्ग है। **उद्घ** और **तल्लज** पुंल्लिङ्ग हैं। **प्रशस्तौ गण्डौ=गण्डलेखे**। **प्रशस्तः कपोलः=कपोलभित्तिः**। **प्रशस्तो गण्डः=गण्डस्थलम्**।

युवन् शब्द समानाधिकरण खलति, पलित, वलिन, जरत्—शब्दों के साथ समस्त होता है और वह कर्मधारय समास होता है[3]—**युवा खलतिः—युवखलतिः** (युवक जो गंजा है)। **युवतिः खलतिः—युवखलतिः** (युवति जो गंजी है)। **युवा पलितः—युवपलितः** (युवक जिसके बाल सफेद हो गये हैं)। **युवतिः पलिता—युवपलिता**। **युवा वलिनः—युववलिनः** (युवक जिसके शरीर पर झुरियां आ गई हैं)। **युवतिर्वलिना—युववलिना**। **युवा जरन्—युवजरन्** (युवक जो बूढ़ा हो गया है), **युवतिर्जरती—युवजरती**।

---

१. पोटा-युवति-स्तोक-कतिपय-गृष्टि-धेनु-वशा-वेहद्-बष्कयणी-प्रवक्तृ-श्रोत्रियाध्यापक-धूर्तैर्जातिः (२।१।६५)।

२. प्रशंसावचनैश्च (२।१।६६)।

३. युवा खलति-पलित-वलिन-जरतीभिः (२।१।६७)। सूत्र में 'जरती' (स्त्रीलिङ्ग) इसलिये पढ़ा है ताकि जहाँ भी प्रातिपदिक का ग्रहण हो वहां लिङ्गविशिष्ट का भी ग्रहण हो जाय।

कर्मधारय समास में जब ऐसा स्त्रीलिङ्ग पूर्वपद हो जिसका पुंल्लिङ्ग में भी वही अर्थ हो जो स्त्रीलिङ्ग में, तो स्त्रीलिङ्ग उत्तरपद परे होने पर उस पूर्वपद को पुं० का रूप प्राप्त हो जाता है। उसे **पुंवद्भाव** कहते हैं। ऐसा ही ऊपर के उदाहरणों में हुआ है। जातीय, देशीय—इन तद्धित प्रत्ययों के परे रहते भी पुंवद्भाव होता है।[१]

कृत्यप्रत्ययान्त और तुल्यार्थक सुबन्त अजातिवाचक समानाधिकरण के साथ समस्त होते हैं[२]—**भोज्योष्णम्** (—गरम भोजन)। **पानीयशीतम्** (—ठंडा पानी)। उपसर्जन होने से भोज्य व पानीय का पूर्व निपात होता है। **उष्णभोज्यम्, शीतपानीयम्** ऐसा नहीं कह सकते। इसी प्रकार **तुल्यश्वेतः** (बराबर सफेद) **सदृशमहान्** (बराबर बड़ा)—यहां भी तुल्य, सदृश पहले ही आयेंगे।

वर्णविशेषवाची सुबन्त समानाधिकरण वर्णविशेषवाची सुबन्त के साथ समस्त होता है और वह कर्मधारय समास होता है[३]—**कृष्णसारङ्गः=कृष्णश्चासौ सारङ्गश्च**। सारङ्ग=रंगविरंगा, चितकबरा। कृष्णसारङ्ग का अर्थ होगा ऐसा चितकबरा जिसमें एकदेश (कुछ भाग) कृष्ण है। **लोहितसारङ्गः** (ऐसा चितकबरा जिसमें एक भाग लाल है)। **नीललोहितः** (अग्नि), अथर्व० ४।१७।४। **नीलश्चासौ लोहितश्च**। धूएँ से नीला और ज्वाला से लाल। **नील-लोहितः** (रुद्र)। **नीलः कण्ठे, लोहितः केशेषु**।

कुमार शब्द श्रमणा आदि समानाधिकरण सुबन्तों के साथ समस्त होता है और वह कर्मधारय समास होता है[४]—**कुमारी चासौ श्रमणा च कुमार-श्रमणा**। यहाँ 'कुमारी' को पुंवद्भाव हुआ है। **कुमारी प्रव्रजिता—कुमार-प्रव्रजिता** (जो कौमारावस्था में ही संन्यासिनी हो गई है)। **कुमारी कुलटा-कुमारकुलटा** (जो कौमारावस्था में व्यभिचारिणी हो गई है)। **कुमारः पण्डितः—कुमारपण्डितः**। **कुमारोऽभिरूपकः— कुमाराभिरूपकः**, सुन्दर कुमार।

शाकपार्थिव आदि कुछेक ऐसे समानाधिकरण तत्पुरुष (कर्मधारय) समास हैं जो तभी सिद्ध होते हैं जब उनमें उत्तरपद का लोप माना जाय, अन्यथा

---

१. पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु (६।३।४२)।
२. कृत्यतुल्याख्या अजात्या (२।१।६८)।
३. वर्णो वर्णेन (२।१।६९)।
४. कुमारः श्रमणादिभिः (२।१।७०)।

समानाधिकरणता बनती ही नहीं। **शाकः प्रियोऽस्य शाकः, प्रधानम् अस्य इति शाकप्रियः, शाकप्रधानः। शाकप्रियश्चासौ पार्थिवश्च, शाकप्रधानश्चासौ पार्थिवश्च इति शाकपार्थिवः।** यहाँ पूर्व समास जो बहुव्रीहि **शाकप्रियः, शाकप्रधानः** उसके उत्तरपद **प्रियः, प्रधानम्** का लोप हुआ है। इस समास को मध्यमपद लोपी भी कहते हैं, क्योंकि शाकपार्थिव इस द्विपद समास के मध्यवर्ती प्रिय वा प्रधान का लोप हुआ है। इसी प्रकार **देवपूजको ब्राह्मणः—देवब्राह्मणः**। यहाँ पूर्व षष्ठी समास देवपूजक के उत्तरपद 'पूजक' का लोप हुआ है। **पृथग्भूतो जनः—पृथग्जनः**, यहाँ पूर्व सुप्सुपा समास पृथग्भूत' के उत्तरपद "भूत' का लोप हुआ है। **तिलैर्मिश्रम् उदकम्—तिलोदकम्**। यहाँ पूर्व तृतीया-तत्-पुरुष 'तिलमिश्रम्' के उत्तरपद 'मिश्र' का लोप हुआ है। **गुड-मिश्रा धाना गुडधानाः। द्व्यधिका** (बहुव्रीहि) **विंशतिः=द्वाविंशतिः**। स्थानिवद् आदेशोऽनिल्वधौ (१।२।५६) इस सूत्र में **अल्विधिः** शाकपार्थिवादि है। **अलाश्रयो विधिर् अल्विधिः** बहुव्रीहि। विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ (१।१।२८)। यहाँ **दिगुपदिष्टः** (तृतीया तत्०) **समासो दिक्समासः** में उत्तरपद 'उपदिष्ट' का लोप हुआ है। **शाखाप्रसक्तो मृगः—शाखामृगः**। यहाँ सप्तमी समास के उत्तरपद 'प्रसक्त' का लोप हुआ है। विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यो वुञ् (४।३।७७)। **विद्यायोनिकृतः सम्बन्धः—विद्यायोनिसम्बन्धः। अश्वयुक्तो रथः—अश्वरथः।** अश्वरथ आदि शब्दों से पत्रपूर्वादिञ् (४।३।१२२) से तस्येदम् इस अर्थ में अञ् होता है—**आश्वरथं चक्रम्**। इसी प्रकार **उष्ट्ररथः, गर्दभरथः** आदि भी शाकपार्थिवादि मध्यमपदलोपी समास हैं। **पर्णनिर्मिता शाला—पर्णशाला। परशुना सहजातो रामः—परशुरामः**। यहाँ **परशुसहजातः** इस सुप्सुपा समास के उत्तरपद 'सहजातः का लोप हुआ है। **यत्र त्रिसर्गो मृषा** (श्रीमद्भागवत १।१।१)। **=त्र्यवयवः** (बहु०) **सर्गः त्रिसर्गः। त्रिलोकनाथेन .... त्वया** (रघु० ४।४५)। **त्रिलोकनाथः पितृसद्मगोचरः** (कुमार ५।७७)। परिमाणी के साथ त्रिपद तत्पुरुष होता है, अन्यत्र सर्वत्र द्विपद ही होता है, 'सुप् सुपा' इसमें एकवचन के विवक्षित होने से। अतः ऐसे स्थलों में **त्र्यवयवो लोकः—त्रिलोकः, तस्य नाथः—त्रिलोकनाथः** शाकपार्थिवादि मध्यमपद लोपी समास ही मानना होगा। **पृषद्भिर्दधिबिन्दुभिः सहितम् आज्यम्—पृषदाज्यम्। सिंहोपलक्षितम् आसनम्—सिंहासनम्। पोतोपलक्षितो वणिक् पोतवणिक्**। समुद्री जहाज से विदेशों के साथ व्यापार करने वाला व्यापारी। **दिशां धारको गजः—दिग्गजः। प्रत्यङ्गं कर्म—प्रतिकर्म** (पसाधन)। **उदकस्य पूर्णः कुम्भः= उदकुम्भः**।

चतुर्मुखसमीरिता वाक् (कुमार)। **चतुर्दिक्दर्शि मुखं चतुर्मुखं तेन समीरिता।** **भार्याप्रधानः सौश्रुतः—भार्यासौश्रुतः**। सौश्रुत—सुश्रुत् का पुत्र। सप्तम्यां चोपपीडरुधकर्षः (३।४।४९)। **उपपूर्वः** (बहुव्रीहि) **पीडरुधकर्षः** (द्वन्द्व) इति **उपपीडरुधकर्षः**। यहाँ 'पूर्व' का लोप हुआ है। **शूकयुक्तं धान्यम्—शूकधान्यम्**। **शमीप्रभवं धान्यं शमीधान्यम्**। **श्रीवत्सलाञ्छनः**। **श्रिया युक्तो वत्सः—श्रीवत्सः**। **समयमूला आचाराः—समयाचाराः**। समयः—पौरुषेयी व्यवस्था, पुरुषकृत व्यवस्था। न दण्डमाणवान्तेवासिषु (४।३।१३०)। इस सूत्र में '**दण्डमाणवः**' यह शाकपार्थिवादि है। **दण्डप्रधानो माणवः—दण्डमाणवः**। **छायाप्रधानस्तरुः—छायातरुः**। स्निग्धच्छायातरुषु वसतिम् (मेध०)। **पूर्वाह्णे चापराह्णे च तलं यस्य न मुञ्चति। अत्यन्त-शीतलच्छाया स च्छायातरुरुच्यते॥** **धर्मदाराः,—धर्मार्था दाराः**, धर्माचरण के लिये पत्नी। **दण्डाकारो माथः** (पन्थाः) —**दण्डमाथः**। सीधा रास्ता। माथोत्तरपद-पदव्यनुपदं धावति (४।४।३७) सूत्र में 'दण्डमाथ' से प्रत्यय विधान किया है।

मयूरव्यंसक आदि शब्द-समुदाय तत्पुरुष समास होते हैं। इनका किसी दूसरे पद के साथ समास नहीं होता[1]—**मयूरव्यंसकः** (धूर्त मयूर)। यहाँ व्यंसक-मयूर नहीं कह सकते। विशेषण होने से पूर्वनिपात प्राप्त था। **आचितं च पराचितं च—आचपराचम्** (कुछ थोड़ा परिचित और कुछ बहुत परिचित, यहाँ आङ् ईषदर्थ में प्रयुक्त हुआ है)। **आचितं चोपचितं च—आचोपचम्**। **निश्चितं च प्रचितं च—निश्चप्रचम्**। **उदक् च अवाक् च—उच्चावचम्** (=नैकदभेम्)। **अश्नीत पिबत** (खाओ-पीओ जहाँ निरन्तर कहा जाता है उसे **अश्नीतपिबता** कहते हैं। **पचतभृज्जता**—जिस क्रिया में निरन्तर यही कहा जाता है कि पकाओ और भूनो। **खादतमोदता**—खाओ और मौज मनाओ। खादताऽऽचमता—खाओ पीओ।

मयूरव्यंसकादि तत्पुरुष के अन्य उदाहरण—

अध्यापकपूर्वः। यहां पूर्वशब्द 'भूतपूर्व' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। **भूत-पूर्वोऽध्यापकः—अध्यापकपूर्वः**। **प्रसज्यप्रतिषेधः**। यहाँ ल्यबन्त अव्यय प्रसज्य का सुबन्त 'प्रतिषेध' के साथ समास हुआ है। इसी प्रकार **प्रतीत्य-समुत्पादः** यह भी अविहित-लक्षण होने से मयूरव्यंसकादि है। **हेतुप्रत्ययसापेक्षो भावानामुत्पादः**

---

१. मयूरव्यंसकादयश्च (२।१।७२)।

प्रतीत्यसमुत्पादः (बौद्ध सिद्धान्त)। **निकुच्यकर्णि धावति। निकुच्य कर्णौ धावति,** कानों को सिकोड़ कर दौड़ता है। **प्रोह्यपादि हस्तिनं वाहयति। यत्रसायंगृहो** मुनिः (रा० २।६७।२३)। **यत्रास्तमितशायी** (वृद्ध-शातातपस्मृति श्लोक ६०)। **यत्रसायमस्ति, यत्राऽस्तमितम् अस्तमयो भवति** इस प्रकार दोनों समासों में पूर्वपद वाक्य है। अन्य पदार्थ प्रधान होने पर भी **'अकुतोभय'** आदि की तरह ये भी तत्पुरुष हैं। **कान्दिशीकः। कां दिशं यामि इत्याह।** भारत में 'कान्दिक्' भी प्रयोग मिलता है—**स कथं चिद् भयात्तस्माद् विमुक्तो ब्राह्मणस्तदा। कान्दिग्भूतो जीवितार्थी प्रदुद्रावोत्तरां दिशम्** (१२।६३२०)। **पदस्याधः—अधस्पदम्।** अधःशिरसी पदे—(८३।।४७) से यहाँ विसर्जनीय को 'स्' होता है। **अवश्यंकारी** । यहाँ कारिन् में आवश्यक अर्थ में णिनि है जो उपपद के बिना ही होता है। उसका 'अवश्यम्' के साथ समास है। **सद्रोणा खारी।** द्रोण से अधिक खारी (बालमनोरमा)। **अधमर्णः= अधम ऋणे। अधमम् ऋणमस्य**—ऐसा विग्रह करके बहुव्रीहि मानना कुछ संगतार्थ नहीं भाता। **नर इव=वानरः।** यहाँ 'वा' इवार्थ में है, अस्वपद-विग्रह नित्य समास है। **आकाशनीकाशम्—आकाशेन सदृशम्।** अस्वपदविग्रह नित्य समास है। **पितृस्थानः=पित्रा तुल्यः। मूत्रपदेन गतः, उच्चारपदेन गतः,** पेशाब, टट्टी के बहाने से चला गया। **मूत्रम् एव पदम्** (व्याजः)। **उच्चार एव पदम्। आहोपुरुषिका। अहो अहं पुरुष इत्यहोपुरुषः, तस्य भावः। गमनचिरम्** (=चिरेण मन्दं गमनम्)। **व्याहरणचिरम्** (—चिरेण व्याहरणम्), रुक रुक कर बोलना। (काशिका ६।२।६)। **आढ्यपूर्वः—आढ्यो भूतपूर्वः।**

स्नात्वाकालकः। पीत्वास्थिरकः। भुक्त्वासुहितः (खाकर तृप्त)। **प्रोष्य-पापीयान्** (प्रवास करके जो आचार भ्रष्ट हो गया)। **अन्यो ग्रामो ग्रामान्तरम्। अनुवादमात्रम्—अनुवाद एव अनुवादमात्रम्। ऋगेव=ऋङ्मात्रम्। मुखमेव चन्द्र इति मुखचन्द्रः। नास्ति किंचन यस्य सः=अकिञ्चनः। नास्ति कुतोपि भयं यस्य सः—अकुतोभयः।**

कुछ ऐसे भी कर्मधारय समास हैं जहाँ विशेषण का पूर्वनिपात न होकर विकल्प से परनिपात होता है और पक्ष में पूर्वनिपात भी होता है—**कडार-जैमिनिः। जैमिनिकडारः। तापसवृद्धा। वृद्धतापसी। खलतिदेवदत्तः—देवदत्त-खलतिः।** इस विकल्प का विधायक शास्त्र है—कडाराः कर्मधारये (२।२।३०)।

समानाधिकरण तत्पुरुष समास समाप्त हुआ ॥

अब व्यधिकरण तत्पुरुष समास के विषय में कहते हैं—पूर्व, अपर, अधर, उत्तर—ये अवयववाची सुबन्त अवयवि-वाची षष्ठ्यन्त सुबन्त के साथ समस्त होते हैं जब अवयवी एक द्रव्य हो[1]—**पूर्वं कायस्य—पूर्वकायः** (शरीर का पूर्व-भाग)। **अपरं कायस्य अपरकायः**। **अधरं कायस्य—अधरकायः** (शरीर का निचला हिस्सा)। **उत्तरं कायस्य—उत्तरकायः। पूर्वं वर्षाणाम् पूर्ववर्षाः**। **अपरं वर्षाणाम् अपरवर्षाः**। (७।३।११) पर काशिका। अर्थ—बरसात का पूर्व भाग। बरसात का उत्तर भाग। **मध्यम् अह्नः—मध्याह्नः। सायम् अह्नः—सायाह्नः**। ये समास भी ज्ञापक सिद्ध होने से प्रमाण हैं। कई वृत्तिकारों का ऐसा मत है कि हर कोई अवयववाची शब्द काल-मात्र वाची के साथ समस्त हो जाता है न केवल अहन् के साथ ही—**मध्यरात्रः, अपररात्रः, पश्चिमरात्रः** इत्यादि भी साधु हैं। **पूर्वकायः** आदि षष्ठीसमास नहीं हैं कारण कि षष्ठीसमास में षष्ठ्यन्त का पूर्वनिपात होता है यथा **राज्ञः पुरुषः=राजपुरुषः** इत्यादि में।

नित्यनपुंसक अर्ध शब्द अवयवी के साथ समस्त हो जाता है।[2] **अर्धं पिप्पल्याः—अर्धपिप्पली**। अर्धशब्द सम प्रविभाग—ठीक आधा हिस्सा इस अर्थ में नित्य नपुंसक होता है, भागमात्र अर्थ में नहीं। **ग्रामार्धः, नगरार्धः, पूर्वार्धः, उत्तरार्धः** इत्यादि में भाग मात्र अर्थ होने से अर्ध शब्द पुंल्लिङ्ग में प्रयुक्त हुआ है। ग्रामार्धः नगरार्धः षष्ठी समास हैं। शेष कर्मधारय।

द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, तुर्य, तुरीय—ये अवयववाची, शब्द अवयविवाची षष्ठ्यन्त के साथ विकल्प से समस्त होते हैं और वह तत्पुरुष समास होता है।[3] पक्ष में षष्ठी समास होता है—**द्वितीयं भिक्षायाः=द्वितीयभिक्षा**। **तृतीयभिक्षा**। **चतुर्थभिक्षा**। **तुर्यभिक्षा**। **तुरीयभिक्षा**। षष्ठी समास पक्ष में **भिक्षाद्वितीयम्** इत्यादि रूप होंगे।

प्राप्त, आपन्न—ये सुबन्त द्वितीयान्त के साथ समस्त होते हैं। पक्ष में द्वितीया-तत्पुरुष भी होता है[4]—**प्राप्तो जीविकाम्—प्राप्तजीविकः**। **आपन्नो जीविकाम्—आपन्नजीविकः**। यहाँ जीविका शब्द उपसर्जन[5] होकर ह्रस्व

---

१. पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे (२।२।१)। एकदेशी—अवयवी। एकाधिकरणम्=एकद्रव्यम्।

२. अर्धं नपुंसकम् (२।२।२)।

३. द्वितीयतृतीयचतुर्थतुर्याण्यन्यतरस्याम् (२।२।३)।

४. प्राप्तापन्ने च द्वितीयया (२।२।४)।

५. एकविभक्ति चापूर्वनिपाते (१।२।४४)। समास-घटक पदों में से

हुआ है।[1] द्वितीया तत्पुरुष होकर **जीविकाप्राप्तः, जीविकापन्नः** ऐसे रूप होंगे। **प्राप्ता जीविकाम्—प्राप्त-जीविका स्त्री**। यहाँ पूर्वपद 'प्राप्ता' को ह्रस्व अकार अन्तादेश भी होता है।

परिमाणवाची कालशब्द परिमेयवाची (सुबन्त) षष्ठ्यन्त के साथ समस्त होते हैं और वह तत्पुरुष समास होता है[2]—**मासो जातस्याऽस्य=मासजातः** (जिसे जन्मे एक मास हुआ है)। **मासजातस्तु ते वीर पिता भवति भारत** (भा० आश्वमे० ७०।१३)। **संवत्सरो जातस्याऽस्य=संवत्सरजातः। द्व्यहो जातस्य=द्व्यहजातः।** षष्ठी समास की प्राप्ति में यह वचन पढ़ा गया है। तन्त्रा**दचिरापहृते** (५।२।७०)। **अचिरोऽपहृतस्याऽस्य इत्यचिरापहृतः।**

परिमेयवाची उत्तरपद होने पर पूर्व की द्विगुसंज्ञा के लिए तीन पदों का भी तत्पुरुष समास होता है[3]—**द्वे अहनी जातस्यास्य=द्व्यह्नजातः**। यहाँ जात उत्तरपद परे होने पर पूर्व की संख्यापूर्व होने से द्विगु संज्ञा होती है। अहन् के स्थान पर 'अह्न' होता है।

नञ्तत्पुरुष

नञ् यह निपात सुबन्त के साथ समस्त होता है और वह तत्पुरुष समास होता है।[4] नञ् के न् का लोप हो जाता है[5]—**न ब्राह्मणः=अब्राह्मणः**। अजादि उत्तरपद हो तो अ और उत्तरपद के बीच नुट् (न्) का आगम होता है[6] जो उत्तरपद का आदि अवयव बन जाता है—**न अश्वः=अनश्वः**। (नञ् अश्वः)। अभाव अर्थ में अव्ययीभाव के साथ इसका विकल्प है। **असन्देहः=**

जब एकपद एक ही विभक्ति में रहता है और दूसरा नाना विभक्तियों में चला जाता है (विग्रह वाक्य में) तो एक विभक्ति-नियत पद की उपसर्जन संज्ञा होती है पर उसका पूर्व निपात नहीं होता।

१. गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य (१।२।४८), उपसर्जन स्त्रीप्रत्ययान्त प्रातिपदिक को ह्रस्व होता है।

२. कालः परिमाणिना। (२।२।५)।

३. उत्तरपदेन परिमाणिना द्विगोः सिद्धये बहूनां तत्पुरुषस्योपसंख्यानम् (वा०)।

४. नञ् (२।२।६)।

५. नलोपो नञः (६।३।७३)।

६. तस्मान्नुडचि (६।३।७४)।

सन्देहाभावः—यह तत्पुरुष है। **अविघ्नम्=विघ्नस्याभावः**—यह अव्ययीभाव है। अब्राह्मण कहने से ब्राह्मण-भिन्न ब्राह्मण-सदृश क्षत्रियादि का बोध होता है अर्थात् यह पर्युदास में समास है। **अवीरा**= जो वीरा नहीं। पतिपुत्रवती नारी को वीरा कहते हैं।

प्रायः नञ् तत्पुरुष समास पर्युदास अर्थ में ही होता है, पर कहीं-कहीं प्रसज्यप्रतिषेध में भी नञ् का सुबन्त के साथ समास होता है—**विपर्ययो मिथ्या-ज्ञानम् अतद्रूपप्रतिष्ठम्**, विपर्यय मिथ्याज्ञान है जो वस्तु के अपने रूप में स्थित नहीं। **अश्राद्धभोजी ब्राह्मणः**=जो ब्राह्मण श्राद्ध नहीं खाता। **निवातावाश्रयावातौ शस्त्राभेद्यं च वर्म यत्**। (अमर) 'निवात' आश्रय और अवात (जहाँ वायु रुकी हुई है) और शस्त्र से न फोड़ने योग्य कवच का नाम है।

लोक में तिङन्त के साथ समास नहीं होता; सुबन्त का सुबन्त के साथ समास होता है, तो भी निन्दा की प्रतीति होने पर नञ् का तिङन्त से पूर्व समास की तरह नम् के 'ज्' का लोप हो जाता है। **नमो नलो पसति ङि। अप-चसि जाल्म**, हे असमीक्ष्यकारिन्, तू बुरा पकाता है।

गति तत्पुरुष

कु (अव्यय), गति और प्रादि समर्थ शब्द के साथ नित्य समस्त होते हैं। और वह तत्पुरुष समास होता है।[1] कुशब्द कुत्सितवाची अव्यय है। विग्रह में कु शब्द न आने से **कुपुरुषः** (पापः=कुत्सितः पुरुषः) यह नित्य समास है। यह केवल तत्पुरुष है; क्योंकि 'कु' न 'गति' है और न उपसर्ग। संज्ञा प्रकरण में कह आए हैं प्र परा अनु अव आदि निपातों की क्रियायोग होने पर उपसर्ग संज्ञा भी है और गति संज्ञा भी। प्र परा आदि (=प्रादि) के अतिरिक्त किन्हीं अव्यय व अनव्यय शब्दों की भी गति संज्ञा इष्ट है यथा ऊर्यादि= ऊरी, उररी, सजूः, च्वि, डाच् (आ)।[2] गतिकारक व उपपदों का कृत्प्रत्यया-न्तों के साथ समास सुप् आने से पहले ही हो जाता है। समास विषय में क्त्वा को ल्यप् (=य) हो जाता है यदि समास का पूर्वपद नञ् न हो।[3] **ऊरीकृत्य, उररीकृत्य। सजूःकृत्य=सह कृत्वा। च्वि—अशुक्लं शुक्लं कृत्वा= शुक्लीकृत्य**। डाच्=पटत् पटत् कृत्वा=**पटपटाकृत्य**। अव्यक्त ध्वनि के

---

१. कुगतिप्रादयः (२।२।१८)।
२. ऊर्यादिच्विडाचश्च (१।४।६१)।
३. समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् (७।१।३७)।

अनुकरण में डाच् (आ) प्रत्यय आता है। डाच् परे होने पर बहुत करके अनु-करण शब्द को दोहराया जाता है।

आदर व अनादर अर्थवाले सत् तथा असत्[1], भूषणार्थक अलम्[2], उत्कटाभिलाष की निवृत्ति गम्यमान होने पर कणे (सप्तम्यन्त) तथा मनस्[3], अव्यय पुरस्[4], तथा अस्तम्[5], उच्चारणाभाव में अदस्[6], छिपने अर्थ में तिरस्[7], कृञ्-योग में तिरस् विकल्प से,[8] साक्षात् आदि च्व्यर्थ विषय में विकल्प से[9], स्वीकार, निश्चय अर्थ में उरसि, मनसि (सप्तम्यन्त) विकल्प से[10], विवाह विषय में हस्ते, पाणौ (सप्तम्यन्त) नित्य कृञ्-योग में[11], प्राध्वम् यह 'बन्धन द्वारा आनुकूल्य' अर्थ में मकारान्त अव्यय[12], उपमा-विषय में जीविका तथा उपनिषद्[13]—की गति संज्ञा होती है और इनका समर्थ कृत्प्रत्ययान्त के साथ गति-तत्पुरुष समास होता है। क्रम से उदाहरण—**सत्कृत्य, असत्कृत्य। अलंकृत्य, कणेहत्य, मनोहत्य**=उत्कट अभिलाषा को दूर करके अर्थात् तृप्ति पर्यन्त। **पुरस्कृत्य**। गतिसंज्ञा होने से विसर्ग को सकार भी होता है। **अस्तंगत्य। अदः कृत्य**। उस कार्य को करके—जब ऐसा मन में सोचता है, तब यह उदाहरण है। **तिरोभूय। तिरस्कृत्य। तिरः कृत्वा**। यहाँ गति संज्ञा के अभाव में क्त्वा को ल्यप् नहीं हुआ, तथा विसर्ग को सकार भी नहीं हुआ। **असाक्षात् साक्षात् कृत्वा=साक्षात्कृत्य, साक्षात्कृत्वा**। आदि से शीतम्, उष्णम्, लवणम्, प्रादुस्, नमस्, आविस्

---

१. आदराऽनादरयोः सदसती (१।४।६३)।
२. भूषणेऽलम् (१।४।६४)।
३. कणेमनसी श्रद्धाप्रतीघाते (१।४।६६)।
४. पुरोऽव्ययम् (१।४।३७)।
५. अस्तं च (१।४।६८)।
६. अदोऽनुपदेशे (१।४।७०)।
७. तिरोन्तर्धौ (१।४।७१)।
८. विभाषा कृञि (१४।७२)।
९. साक्षात्प्रभृतीनि च (१।४।७४)।
१०. अनत्याधाने उरसिमनसी (१।४।७५)।
११. नित्यं हस्ते पाणावुपयमने (१।४।७७)।
१२. प्राध्वं बन्धने (१।४।७८)।
१३. जीविकोपनिषदावौपम्ये (१।४।७९)।

इनका तथा अन्य शिष्टों द्वारा प्रयोग में आए हुए शब्दों का ग्रहण होता है— **शीतंकृत्य, शीतं कृत्वा। उष्णं कृत्य, उष्णं कृत्वा। प्रादुष्कृत्य, प्रादुष्कृत्वा। प्रादुर्भूय, प्रादुर्भूत्वा। नमस्कृत्य, नमः कृत्वा। आविष्कृत्य, आविष्कृत्वा। आविर्भूय, आविर्भूत्वा। उरसिकृत्य, उरसि कृत्वा।** स्वीकार करके। **मनसि कृत्य, मनसि कृत्वा।** निश्चय करके। **हस्तेकृत्य। पाणौ कृत्य**=उपयम्य, व्युह्य=विवाह करके। **प्राध्वं कृत्य** (बन्धन से वश में करके)। **प्राध्वं कृत्य पथिकं पारिपन्थिको गतः।** लुटेरा मुसाफिर को बन्धन से वश में करके चला गया। **जीविकामिव कृत्वा=जीविकाकृत्य।** उपनिषदमिव कृत्वा=उपनिषत्कृत्य, रहस्य सा बनाकर।

प्रादितत्पुरुष

प्र परा आदि निपातों का जब क्रिया के साथ योग न हो तो वे न तो उपसर्गसंज्ञक होते हैं और न गतिसंज्ञक। तब इनका समर्थ सुबन्त के साथ नित्य समास होता है। अव्यवस्था से यत्र तत्र समास न हो अतः व्यवस्था के लिए कुछ वचन पढ़े जाते हैं—**स्वती पूजायाम्।** सु अति आदर अर्थ में समस्त होते हैं। **सुपुरुषः (शोभनः पुरुषः)। अतिशयितः पुरुषः=अतिपुरुषः। अतिशयितो राजा=अतिराजा। अतिकारकः=शोभनः कारकः। अतिगार्ग्यः=शोभनो गार्ग्यः। कुः पापार्थे। कुपुरुषः। आङ् ईषदर्थे। ईषद् उष्णम्=आोष्णम्। ईषत् पिङ्गलः=आपिङ्गलः। दुर्निन्दायाम्। दुराचारः पुरुषः=दुष्पुरुषः। निन्दितं कृतम्—दुष्कृतम्।** स्वती पूजायाम इत्यादि उपाधिवचन प्रायिक हैं। अन्यत्र भी समास होता है—मर्यादाऽतिक्रमेण कृतम्=**अतिकृतम्। समन्ताद् बद्धम्=आबद्धम्।** ये अस्वपद विग्रह होने से नित्य समास हैं। कु (—का, कत्, कव)—**कोष्णम्, कदुष्णम्, कवोष्णम्। स्वागतैर्धनैः** (मनु० (४।२२६)। यहाँ पहले आङ् और गत का समास होता है, तब सु का आगत के साथ। पहला भी प्रादि और दूसरा भी।

प्रारम्भः कोष्ठस्य=प्रकोष्ठम्। प्रारम्भो गृहस्य=प्रगृहम्। प्रारम्भो द्वारस्य=प्रद्वारम्। प्रारम्भो दोषायाः प्रदोषः, सायंकाल। **प्रारम्भः पदस्य** (=पादस्य) **प्रपदम्**,=**पादाग्रम्**, पाओं का अग्र-भाग। **अध्वनो विमध्यम्** (=ईषदूनं मध्यमार्गम्) (अथर्व० ७।७५।२)। अभ्रविलिप्ती द्यौः में जैसे 'वि' अपूर्णता, अल्पता को कहता है, वैसे ही यहाँ।

प्र आदि गत आदि अर्थ में प्रथमान्त के साथ नित्य समस्त होते हैं और वह प्रादि तत्पुरुष होता है[1]—**प्रगत आचार्यः = प्राचार्यः**। प्र शब्द का योग यद्यपि गत के साथ है, पर वह 'गत' समास का अवयव नहीं। समास में तो 'प्र' का योग 'आचार्य' के साथ है। अतः 'प्र' यहाँ उपसर्ग अथवा गति कुछ भी नहीं। प्र शब्द यहाँ विप्रकर्ष (दूरी) का द्योतक है। **प्रगतः = विप्रकृष्टः = व्यवहितः आचार्यः = प्राचार्यः = आचार्यस्याचार्यः**। **प्रगतः अन्तेवासी = प्रान्तेवासी**। शिष्य का शिष्य। **प्रगतः पितामहः = प्रपितामहः**। **अन्वादिष्टः (= अन्वाचितः) पुरुषः = अनपुरुषः** = गौण रूप से कथित पुरुष। **अध्यारूढो दन्तः = अधिदन्तः**, दाँत के ऊपर आरूढ दाँत। **अनुगतः कनीयान् = अनुकनीयान्**। **अधिकः** (= अधिष्ठाता सन्) **कर्मकृत् = अधिकर्मकृत्**। **कर्मकृत् = कर्मकरः**।

प्रततो हस्तः = प्रहस्तः (हथेली)। **अपसारितो हस्तः = अपहस्तः**। **सारथिं चास्य दयितमपहस्तेन जघ्निवान्** (भा० आदि० १२९।३६)। **अन्वादिष्टः पुरुषः = अनुपुरुषः** (अन्वाचित, कथितानुकथित, प्रसङ्ग से निर्दिष्ट)। **विगता रात्रिः = विरात्रः** (रात्र्यन्त)। अच् समासान्त होकर °रात्र रूप हो जाता है। 'रात्रान्त' का प्रयोग नियम से पुं० में होता है। **विरुद्धा माता = विमाता**, सौतेली मां। **पर्याकाशम् अनाकाशं सर्वतः शरसंकुलम्** (रा० ३।२८।८)। **परितः स्थितम् आकाशम् = पर्याकाशम्**। **विरुद्धोऽध्वा व्यध्वः** (कापथ, विमार्ग)। यहाँ अच् समासान्त हुआ है। **तूर्णं प्रत्यानयस्वैतान् कामं व्यध्वगतानपि** (भा० सभा० ७५।२४)। **विप्रकृष्टो ऽध्वा व्यध्वः**। **व्यध्वगतान्** = दूरं गतान्। **ययोर् अभ्यध्वे उत यद् दूरे** (अथर्व० ४।२८।२)। **अभितः = समीपे स्थितोऽध्वा = अभ्यध्वः**। **विप्रकृष्टो देशः = विदेशः**। **प्रतिगतो जनः = प्रतिजनः**, विरोधी, शत्रु। **प्रतिगतो राजा = प्रतिराजा**, विरोधी राजा। यहाँ अनित्य होने से समासान्त नहीं हुआ (६।२।१९३ पर काशिका)। **प्रकृष्टः पन्थाः = प्रपथः**, तीर्थ अथवा पुण्य क्षेत्र आदि का मार्ग। **शेरेऽस्य पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः** (ऐ० ब्रा०)। **प्रतिकृतं प्रियम् = प्रतिप्रियम्** (बदले में किया हुआ उपकार। **प्रतिप्रियं सोऽभ्यगमच्चिकीर्षुः** (भट्टि० १२।४८)।

अति आदि क्रान्त आदि अर्थ में द्वितीयान्त के साथ नित्य समस्त होते हैं और वह प्रादि तत्पुरुष होता है[2]—**अतिक्रान्तं मानुषम् = अतिमानुषं चरितम्**। **अतिक्रान्तः कोकिलाम् = अतिकोकिलः स्वरः**। माधुर्य में जो

---

१. प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया।
२. अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया।

कोयल के स्वर से भी बढ़ गया है। **उद्गतो वेलाम् = उद्वेल:**, जो तट से बाहर निकल गया। **प्रतिगतोऽक्षं प्रत्यक्षः। अनुगतः स्वारम् = अनुस्वारः।** स्वर एव स्वारः। प्रज्ञादि होने से स्वार्थ में अण्। **हस्तं परिवेष्ट्य वर्तमानः = परिहस्तः। अतिक्रान्तोऽङ्कुशम् अत्यङ्कुशो नागः**, हाथी जो अङ्कुश को नहीं मानता। **अतिक्रान्तः कशाम् अतिकशोऽश्वः**, घोड़ा जो चाबुक की परवाह नहीं करता। **कनिष्ठिकाम् उपगता = उपकनिष्ठिका अनामिका। प्रतिगतम् आश्रितमक्षं यद् विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्** (जितारिकृत हेतुतत्त्वोपदेश)। **अतिक्रान्तम् अर्थं निवृत्ति-विषयं वा = अत्यर्थम्। अतिक्रान्तं वेलां मर्यादाम् अतिवेलम् =** अधिक। **उपगत इन्द्रम् = उपेन्द्रः** (विष्णु)। **समवेतेषु सर्वेषु तामूपुरुपकीचकाः** (भा० विराट०)। **उपगताः कीचकम्** = कीचकानुजा इत्यर्थः। अथ **प्राध्वस्य** परिक्षवे परिकासने चाप उपस्पृश्योत्तरं (आप० गृ० ३।६।२)। प्रस्थितोऽध्वानं प्राध्वः, जो मार्ग पर चल रहा है। कः शक्रेण कृतं नेच्छे**दधिमूर्धान**मञ्जलिम् (भट्टि० ८।८४)। अधिष्ठितो मूर्धानम् = अधिमूर्धाऽञ्जलिः, तम्। अतिक्रान्तो रथं (= रथिनम्) = अतिरथः। अमितान् योधयेद्यस्तु सम्प्रोक्तोऽतिरथस्तु सः। जो अगणित प्रतिद्वन्द्वियों से लड़ सकता है उसे 'अतिरथ' कहते हैं। **हस्तं परिगतः परिहस्तः कङ्कणः।**

अव आदि क्रुष्ट आदि अर्थ में तृतीयान्त के साथ नित्य समस्त होते हैं और वह प्रादितत्पुरुष होता है[1]—**अवक्रुष्टः** (निन्दितः, अवधीरितः। **कोकिलया = अवकोकिलः कलः। परिणद्धो वीरुधा = परिवीरुत्।** जो बेल से चारों ओर से घिर गया है। **संनद्धो वर्मणा = संवर्मा। नियुक्तः कंसेन = निकंसः** (जो कंस से नियुक्त है)। **निकंसो रक्षिवर्गः** (वासुदेव वि०)। **प्रतिगत एनसा = प्रत्येनाः**, न्यायाधिकृत, दण्डप्रणेता, निकटतम बन्धु जिसे मृत पुरुष के ऋण का शोधन अवश्य कर्त्तव्य है। **उपमितः पत्या = उपपतिः** (जार)। **उपमितः प्रधानेन = उपप्रधानम्।**

परि आदि ग्लान अर्थ में चतुर्थ्यन्त के साथ नित्य समस्त होते हैं और वह प्रादितत्पुरुष होता है[2]—**परिग्लानोऽध्ययनाय = पर्यध्ययनः** (जो पढ़ने के लिए ग्लान = हीनोत्साह हो गया है, अर्थात् उकता गया है)। **अलं कुमार्यै**

---

१. अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया।
२. पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या।

=**अलंकुमारिः**। यहाँ 'कुमारी' शब्द के उपसर्जन होने से उसे ह्रस्व हुआ है। **अलंकुमारिर् अयं युवा** (यह युवक कुमारी के योग्य है)। यहाँ परवल्लिङ्ग न होकर विशेष्य (युवन्) का लिङ्ग हुआ है।

निर् आदि क्रान्त आदि अर्थ में पञ्चम्यन्त के साथ नित्य समस्त होते हैं और वह प्रादितत्पुरुष होता है[1]—**निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः = निष्कौशाम्बिः। निष्क्रान्तो वाराणस्या निर्वाराणसिः**। यहाँ भी उपसर्जन होने से स्त्रीप्रत्ययान्त कौशाम्बी तथा वाराणसी को ह्रस्व हुआ है। **निर्गतस्त्रिंशतोऽ(ङ्गुलिभ्यः) = निस्त्रिंशः**[2] (=खड्ग)। अक्षरार्थ = तीस उंगलियों से अधिक लम्बा। यहाँ डच् समासान्त होता है, जिससे त्रिंशत् के 'टि' (=अत्) का लोप हो जाता है। **निस्त्रिंशानि वर्षाणि देवदत्तस्य** (देवदत्त का वय तीस वर्ष से ऊपर है)। **निश्चत्वारिंशानि वर्षाणि यज्ञदत्तस्य** (यज्ञदत्त की अवस्था ४० वर्ष से ऊपर है)। **शुनाऽपपात्रेण वा दृष्टम्** (आप० ध० १।१६।३०)। **अपगतः पात्रेभ्यः = अपपात्रः**। चाण्डाल, रजस्वला आदि अपपात्र हैं, वे पात्र में भोजन नहीं कर सकते। **उत्क्रान्तं सूत्राद् उत्सूत्रम्। यो ह्युत्सूत्रं कथयेन्नादो गृह्येत**(भाष्य),जो सूत्र के विरुद्ध कहे उसे स्वीकार नहीं किया जायगा। **उत्क्रान्तं भाष्याद् उद्भाष्यम्। निष्क्रान्तो देशात् = निर्देशः** = बहिर्देशः (तस्मादित्युत्तरस्य इस सूत्र के भाष्य में)। **निष्क्रान्ता कलात् शुक्रात् निष्कला = विगतार्तवा**, (वृद्धा) जो रजस्वला नहीं होती।

कारक प्रकरण में कर्म-प्रवचनीयों का निरूपण कर चुके हैं। वहाँ प्रति, परि, अनु, उप, अभि आदि की अर्थ विशेष में कर्म-प्रवचनीय संज्ञा की है। प्रादि होने से उनके साथ भी समास प्रसक्त होता है उसका शास्त्रनिषेध करता है[3]—**वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्। साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति**। यहाँ कर्मप्रवचनीय प्रति का समास नहीं हुआ।

---

१. निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या।

२. **निस्त्रिंश इवान्योऽपि क्रूरकर्मा उपचारात् निस्त्रिंश उच्यते**। निस्त्रिंश तलवार की तरह जो कोई दूसरा भी निर्दय होकर आचरण करता है उसे भी गौण व्यवहार में निस्त्रिंश कहते हैं।

३. प्रादिप्रसङ्गे कर्मप्रवचनीयानां प्रतिषेधो वक्तव्यः (वा०)।

उपपद समास

कर्मण्यण् इत्यादि सूत्रों में सप्तम्यन्त कर्म आदि शब्दों का वाच्य जो कुम्भादि उसके वाचक शब्द कुम्भादि को उपपद कहते हैं।[1] कर्ता,कर्म,करण, अपादान, अधिकरण—सभी उपपद हो सकते हैं। सुबन्तमात्र भी। अतिङन्त (=सुबन्त) उपपद का समर्थ शब्दान्तर (जो तिङन्त न हो) के साथ नित्य समास होता है और वह उपपद-तत्पुरुष कहलाता है।[2] **कुम्भ अस् कृ अण्** इस अलौकिक विग्रह के आश्रित 'कुम्भकार' यह समस्त (प्रातिपदिक) निष्पन्न होता है। कृद्योग (कृत् प्रत्यय अण् के साथ योग होने से) कुम्भ से षष्ठी हुई, द्वितीया नहीं। लौकिक विग्रह में **कुम्भं करोति (इति कुम्भकारः)** ऐसा रहेगा। उपपद होने पर ही कृ से अण् हुआ है। स्वतन्त्र कृ से नहीं। 'कार' शब्द का स्वतन्त्र प्रयोग न होने से 'कुम्भकार' नित्य समास है। **एधान् आहारको व्रजति** (ईंधन लाने वाला जाता है, ईंधन लाएगा इसलिए जाता है)। यहाँ 'व्रजति' क्रिया उपपद है पर इसका 'आहारक' कृदन्त के साथ समास नहीं होता। यहाँ उपपद सुबन्त नहीं है, किन्तु तिङन्त है। **गोदः**, (**गां ददाति**), **गोसन्दायः**, (**गां सन्ददाति**) **अङ्गुलित्रम्**, **तन्तुवायः** (**तन्तून् वयति**), **तुन्नवायः** (सौचिक=दर्जी), **द्विपः**, **पादपः**, **सामगः**, **अंशहरः**, **कवचहरः**, **शब्दकारः**, **जनमेजयः** (**जनान् एजयति**), **प्रियंवदः**, **विश्वम्भरा**, **वसुन्धरा**, **दूरगः**, **पारगः**, **गोधुक्**, **पूर्वसरः** (पूर्वः सन् सरति, आगे चलने वाला), **अश्वत्थामा**, **उष्णभोजी**, **अन्तेवासी** (शिष्य, अधमर्ण, ऋणी)। अधमर्ण अर्थ में साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम् (५।२।९१) सूत्र का भाष्य प्रमाण है। **द्विरदगामी**, **स्थण्डिलशायी**, **आशितम्भवः=(आशितस्य भवनम्)** (तृप्ति), **आतपत्रम्**, **वर्षत्रम्** (वर्षात् त्रायते)। **वृत्रहा** (**वृत्रं हतवान्**), **सोमविक्रयी**, **अग्निष्टोमयाजी=अग्निष्टोमेनायजत**), **उत्तानशीवरी शिशुः**, बच्ची जो मुँह ऊपर किए सो रही है, इत्यादि अनेक उपपद समास के उदाहरण हैं। इन में विहित उस-उस कृत् प्रत्यय के बोध के लिए तथा अन्य उदाहरणों के लिए सोपपद कृत्प्रत्यय प्रकरण देखो।

---

१. तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् (३।१।९२)। 'तत्र' का अर्थ है—तृतीयाध्याय में धातोः (३।१।९१) इस धात्वधिकार में।

२. उपपदमतिङ् (२।२।१९)।

कालज्ञः कालं जानातीति । यहाँ **जानातीति ज्ञः, कालस्य ज्ञ इति कालज्ञः** ऐसे विग्रह करके षष्ठी समास नहीं मान सकते, कारण कि आकारान्त धातु से कर्म उपपद होने पर जो क-विधि है वह होगी, अनुपपद से जो क-विधि है वह नहीं होगी । इसमें आकारादनुपपदात्कर्मोपपदो भवति विप्रतिषेधेन—यह वार्तिक प्रमाण है ।

तत्पुरुषसमासाश्रयविधि

महत् शब्द को आकार अन्तादेश होता है समानाधिकरण उत्तरपद परे होने पर तथा जातीयर् प्रत्यय होने पर ।[1] समानाधिकरण उत्तरपद बहुव्रीहि समास में भी मिलता है अतः वहाँ भी यह आदेश होता है ऐसा जानो । **महांश्चासौ जनश्चेति महाजनः । महाजनो येन गतः स पन्थाः । महाजातीयः ।** व्यधिकरण उत्तरपद परे रहते यह आदेश नहीं होगा—**महतः सेवा = महत्सेवा । महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेः** (श्रीमद्भागवत), बड़े पुरुष की सेवा को मुक्ति का द्वार कहते हैं । व्यधिकरण उत्तरपद परे रहते भी महती शब्द को पुंवद्भाव होकर आत्व होता है जब घास और कर उत्तरपद हों—**महत्या घासः = महाघासः । महत्याः करः = महाकरः ।**

अष्टाकपालं हविः । अष्टसु कपालेषु संस्कृतं हविः[2] । अष्टन् को आकार अन्तादेश होता है । **अष्टागवम् शकटम्** ।[3] आठ बैलों से युक्त छकड़ा । वहाँ पहले **अष्टगवम्** ऐसा द्विगु समास बनाकर उससे अर्श आदि होने से मत्वर्थीय अच् करके युक्तत्व की प्रतीति होने पर **अष्टन्** को आकार अन्तादेश होता है ।

द्वि और अष्टन् को आकार अन्तादेश होता है समानाधिकरण संख्यावाची सुबन्त परे होने पर, पर बहुव्रीहि में तथा अशीति शब्द परे होने पर ऐसा नहीं होता[4]—**द्व्यधिका दश = द्वादश । द्व्यधिका विंशतिः = द्वाविंशतिः । अष्टाधिका दश = अष्टादश । अष्टाधिका विंशतिः = अष्टाविंशतिः ।** बहुव्रीहि **द्वित्राः** में ऐसा नहीं हुआ । **द्व्यशीतिः** में भी ऐसा नहीं हुआ । तत्पुरुष में भी यह आदेश 'शत' संख्या से निचली संख्या के उत्तरपद होने

---

१. आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः (६।३।४६) । जातीय = जातीयर् प्रत्यय ।

२. अष्टनः कपाले हविष्युपसंख्यानम् (वा०) ।

३. गवि च युक्तेऽष्टन उपसंख्यानम् (वा०) ।

४. द्व्यष्टनोः सङ्ख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः (६।३।४७) ।

पर ही होता है, अतः **द्विशतम्=द्व्यधिकं शतम्** (एक सौ दो)। **अष्टशतम्=अष्टाधिकं शतम्**। एक सौ आठ।

त्रि को 'त्रयस्' यह आदेश होता है समानाधिकरण संख्या वचन परे होते, पर बहुव्रीहि समास में ऐसा नहीं होता, तथा अशीति शब्द परे होने पर भी ऐसा नहीं होता[1]—**त्रयोदश**। **त्रयोविंशतिः**।

द्वि, अष्टन् तथा त्रि के विषय में जो कहा गया है वह **चत्वारिंशत्** (४०) से लेकर **नवनवति** (९९) तक संख्याओं के विषय में विकल्प से होता है[2]—**द्विचत्वारिंशत्, द्वाचत्वारिंशत्**। **त्रिचत्वारिंशत्, त्रयश्चत्वारिंशत्**। **अष्टचत्वारिंशत्, अष्टाचत्वारिंशत्**। ऐसे ही **पञ्चाशत्, षष्टि, सप्तति, नवति** परे होने पर दो-दो रूप जानो। **एकेनर्नविंशतिः** (एक कम बीस), इस विग्रह के आश्रित नञ् का विंशति के साथ समास करके **एकान्नविंशतिः, एकादूनविंशतिः** ऐसा रूप होगा। **एकेन ऊना=एकोना**। **एकोना विंशतिः=एकोनविंशतिः** ऐसा भी प्रयोग साधु होगा।

भाषितपुंस्क शब्द से जो ङी तदन्त अनेकाच् को ह्रस्व हो जाता है जब चेलट्, ब्रुव, गोत्र, मत, हत उत्तरपद हो।[3] समास में चेल आदि शब्द कुत्सित-वाची होते हैं—**ब्राह्मणिचेली** (**कुत्सित ब्राह्मणी**)। **ब्राह्मणिब्रुवा** (**ब्राह्मणीमात्मानं ब्रूते न तु ब्राह्मणीकर्म**)। यहाँ कुत्सितानि कुत्सनैः(२।१।५३)से समास हुआ है।

हृदय शब्द को हृद् आदेश होता है लेख तथा लास शब्द उत्तरपद होने पर।[4] **हृदयं लिखतीति हृल्लेखः** (मानसी, पीड़ा क्षयव्याधि)। अण् प्रत्यय। उपपद समास। घञन्त लेख शब्द के साथ षष्ठी समास होने पर तो **हृदयस्य लेखः=हृदयलेखः** ऐसा ही रूप होगा। लास उत्तरपद परे होने भी हृद् आदेश होकर **हृल्लास** ऐसा रूप होगा। 'शय' उत्तरपद होने पर भी हृद् आदेश देखा जाता है—हृच्छयः, काम, हृदि शेते इति।

---

१. त्रेस्त्रयः (६।३।४८)।

२. विभाषा चत्वारिंशत्प्रभृतौ सर्वेषाम् (६।३।४९)।

३. घ-रूप-कल्प चेलड्ब्रुव गोत्रमतहतेषु ङ्योऽनेकाचो ह्रस्वः (६।३।४३)। यहाँ समासाश्रय विधि प्रकरण होने से घ (=तरप्, तमप् प्रत्यय), रूपप् (प्रत्यय), कल्पप् (प्रत्यय) के उदाहरण नहीं दिये। इनके तद्धिताश्रय विधि प्रकरण में दिये जायेंगे।

४. हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु (६।३।५०)।

शोक, ष्यञ्, रोग इनके उत्तरपद होने पर हृदय को हृद् आदेश विकल्प से होता है[1]—**हृदयस्य शोकः=हृच्छोकः, हृदयशोकः। हृदयस्य रोगः=हृद्रोगः, हृदयरोगः।**

पाद शब्द के स्थान में 'पद' आदेश होता है जब आजि, आति, ग, उपहत—ये उत्तरपद हों[2]—**पादाभ्यामजतीति पदाजिः** (पैदल चलने वाला), **पादाभ्यामततीति पदातिः। पादाभ्यां गच्छतीति पदगः। पादेनोपहतः=पदोपहतः।**

हिम, काषिन्, हति—इनके उत्तरपद होने पर 'पाद' को 'पद्' आदेश होता है[3]—**पादस्य हिमं शीतम्=पद्धिमम्। पादौ कषन्ति इति पत्काषिणः** (पाओं को घिसने वाले)।

घोष, मिश्र, शब्द—इनके उत्तरपद होने पर 'पाद' को 'पद' आदेश विकल्प से होता है[4]—**पादस्य घोषः=पद्घोषः, पादघोषः** (पाओं की आहट), **पादेन मिश्रम्=पन्मिश्रम्। पादमिश्रम्। पादस्य शब्दः=पच्छब्दः। पादशब्दः।** पाओं की आहट।

जब समस्तपद संज्ञावाचक हो तो पूर्वपद उदक को 'उद' आदेश होता है[5]—**उदवाहो नाम कश्चित्।** यह आदेश उदक जब उत्तरपद हो तब भी होता है—**क्षीरोदः। अच्छोदो नाम सरः।**

पेषम् (णमुलन्त), वास, वाहन, धि (कि प्रत्ययान्त) इनके उत्तरपद होने पर उदक को उद आदेश होता है[6]—**उदपेषं पिनष्टि (=उदकेन पिनष्टि)** (जल मिला-मिलाकर पीसता है)। **उदकस्य वासः=उदवासः। उदकस्य वाहनः=उदवाहनः** (पानी ढोने वाला)। **उदकं धीयतेस्मिन् इत्युदधिर्घटः।** यहाँ 'उदधि' घट का विशेषण है।

---

१. वा शोकष्यञ्रोगेषु (६।३।५१)। ष्यञ् का उदाहरण भाव-कर्म-वाचक तद्धितों में देखो।

२. पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु (६।३।५२)।

३. हिमकाषिहतिषु च (६।३।५४)।

४. वा घोषमिश्रशब्देषु (६।३।५६)।

५. उदकस्योदः संज्ञायाम् (६।३।५७)।

६. पेषंवासवाहनधिषु च (६।३।५८)।

उदक को यह आदेश विकल्प से होता है जब उत्तरपद का अर्थ भरा जाने वाला पात्र हो और जब तद्वाचक शब्द के आदि में व्यञ्जनसंयोग न हो[1]—**उदकस्य कुम्भः=उदकुम्भः, उदककुम्भः। उदकस्य पात्रम्=उदपात्रम्, उदकपात्रम्। उदकस्थालम्**—यहाँ वैकल्पिक आदेश नहीं होगा, कारण कि उत्तरपद के आदि में हल्संयोग है।

मन्थ, ओदन, सक्तु, बिन्दु, वज्र, भार, हार, वीवध, गाह—इनके उत्तर-पद होने पर 'उदक' को 'उद' आदेश विकल्प से होता है[2]—**उदकेन मन्थः =उदमन्थः, उदकमन्थः।** द्रव द्रव्य से संस्कृत सत्तुओं को मन्थ कहते हैं। **उदकेन ओदनः=उदौदनः, उदकौदनः। उदकेन सक्तुः=उदसक्तुः, उदक-सक्तुः। उदकस्य बिन्दुः=उदबिन्दुः, उदकबिन्दुः। उदकस्य वज्रः=उदवज्रः, उदकवज्रः। उदकं बिभर्ति इति उदभारः** (भृ से अण्), **उदकभारः। उदकं हरतीति उदहारः** (हृ से अण्), **उदकहारः। उदकस्य वीवधः=उदवीवधः, उदकवीवधः** (जल की वेंहगी)। उदकं गाहते (गाह् से अण्)=**उदगाहः, उदकगाहः।**

इगन्त (=इक् अन्त) पूर्वपद जिसके अन्त में स्त्री प्रत्यय ई (ङीप्, ङीष्, ङीन्) न हो, को विकल्प से ह्रस्व हो जाता है उत्तरपद परे होने पर[3]—**ग्रामण्यः पुत्रः=ग्रामणिपुत्रः**(ग्राम के नेता का पुत्र) **ब्रह्मबन्धुपुत्त्रः। गार्गीपुत्त्रः, वात्सीपुत्त्रः**—यहाँ पूर्वपद ङीबन्त है, अतः ह्रस्व नहीं होता।

जब पूर्वपद ङ्यन्त न भी हो, तब यदि उसके अन्त्य ई को इयङ् आदेश प्राप्त हो अथवा अन्त्य ऊ को उवङ् आदेश होने वाला हो तो उसे ह्रस्व नहीं होता, यदि पूर्वपद अव्यय हो तो भी ह्रस्व नहीं होता[4]—**श्रियो मदः= श्रीमदः। भ्रूभङ्गः। शुक्लीभावः।**

च्वि प्रत्ययान्त अव्यय होते हैं। अतः 'शुक्ली' यह अव्यय है। **शुक्ली-भूतम्**—इस गति समास में 'ई' को ह्रस्व नहीं होता। पर **भ्रूकुटिः, भ्रुकुटिः, भ्रूकुंसः, भ्रुकुंसः** यहाँ ह्रस्वविकल्प इष्ट ही है यद्यपि अजादि प्रत्यय परे

१. एकहलादौ पूरयितव्येऽन्यतरस्याम् (६।३।५९)।
२. मन्थौदनसक्तुबिन्दुवज्रभारहारवीवधगाहेषु च (६।३।६०)।
३. इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य (६।३।६१)
४. इयङुवङ्भाविनामव्ययानां च न भवति (व्यवस्थितविभाषा)।

होने पर भ्रू के ऊ को उवङ् आदेश होगा। भ्रू के स्थान में 'भ्रु' का प्रयोग भी शास्त्र सम्मत है—**भ्रकुटिः, भ्रकुंसः।**

'एक' के स्त्रीलिङ्ग रूप 'एका' को उत्तरपद परे होने पर ह्रस्व हो जाता है[1]—**एकस्याः क्षीरम्=एकक्षीरम्।**

संज्ञावाची ङ्यन्त तथा आबन्त पूर्वपद को बहुत बार ह्रस्व होता है उत्तरपद परे होने पर[2]—**कालिदासः, रोहिणिपुत्रः, रेवतिपुत्रः। वैदेहिबन्धो र्हृदयं विदद्रे** (रघु० १४।३३)। वैदेही संज्ञा शब्द है उसे ह्रस्व हुआ। **न तस्य विद्यते कर्म किं चिदामौञ्जिबन्धनात्** (वसिष्ठ ध० २।१२)। यहाँ भी ङीबन्त **मौञ्जी** को ह्रस्व हुआ है। यहाँ मौञ्जीबन्धन उपनयन का नाम है। **षट् षट् कायोढजः सुतः** (मनु० ३।३८)। यहाँ आबन्त 'ऊढा' को ह्रस्व हुआ है। **कायेन प्राजापत्येन विवाहेन ऊढा=कायोढा, तस्यां जातः=कायोढजः।** नहीं भी होता—**नान्दीकरः, नान्दीघोषः।** गङ्गदत्तो नाम मण्डूकः। **न गङ्गदत्तः पुनरेति कूपम्। शिलप्रस्थम्।** नहीं भी होता—**लोमकागृहम्। एकं वृषभमुद्धारं संहरेत स पूर्वजः** (मनु० ९।१२३)। **पूर्वस्यां जातः=पूर्वजः। प्रविष्टः प्रमदावनम्** (भट्टि०　　)। **प्रमदवनम्** प्रयोग तो प्रसिद्ध है।

इष्टका, इषीका, माला—इन पूर्वपदों को चित, तूल, भारिन् इन उत्तरपदों के परे रहते ह्रस्व हो जाता है[3]—**इष्टकचितम् (इष्टकाभिश्चितम्=**ईंटों से चिना हुआ)। **इषीक-तूलम् (इषीकायास्तूलम्)। मालां बिभर्तीति मालभारी। मालभारिणी कन्या** (माला पहने हुई कन्या)। इष्टकाद्यन्त को भी ह्रस्व इष्ट है—**पक्वेष्टकचितम्** (पक्की ईंटों से चिना हुआ), **मुञ्जेषीकतूलम्। उत्पलमालभारिणी।**

खिदन्त (खित्प्रत्ययान्त) उत्तरपद होने पर अव्ययभिन्न पूर्वपद को ह्रस्व हो जाता है[4]—**कालीम् आत्मानं मन्यत इति कालिमन्या। सुन्दरीमात्मानं मन्यत इति सुन्दरिमन्या** योषा। अव्यय होने से **दोषामन्यम् अहः**

---

१. एकतद्धिते च (६।३।६२)।

२. ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम् (६।३।६३)। छन्दः (वेद) का उदाहरण नहीं दिया गया।

३. इष्टकेषीकामालानां चिततूलभारिषु (६।३।६५)।

४. खित्यनव्ययस्य (६।३।६६)।

(दिन अपने-आपको रात्रि समझने वाला)। **दिवामन्या रात्रिः** (रात जो अपने आपको दिन समझती है)।

अरुस् (=घाव), द्विषत्, तथा अजन्त पूर्वपदों को मुम् (=म्) का आगम होता है खिदन्त उत्तरपद परे होने पर।[1] मित् होने से यह आगम पूर्वपद के अन्त में होता है—**अरूंषि तुदति=अरुन्तुदः। द्विषन्तं तापयतीति द्विषन्तपः। अरुन्तुदः** (घावों को पीड़ित करने वाला) और **द्विषन्तपः** में संयोगान्त लोप (स् व त् का लोप) होकर इष्ट रूप सिद्ध होते हैं। 'तापि' को 'खचि ह्रस्वः[2]' से ह्रस्व होता है। **कालिमन्या** आदि में पहले ह्रस्व होगा पीछे मुम्। **विद्वन्मन्या=आत्मानं विद्वांसं मन्यते**; यहाँ पूर्वपद के अजन्त न होने से मुम् नहीं होता। **वाचंयम** तथा **पुरन्दर** में अप्राप्त अमागम निपातन से होता है। वाचंयमपुरन्दरौ (६।३।६९)। वाचंयम मुनि को कहते हैं, वाणी का नियम (मौन) जिसका व्रत है। उपचार से जो भी चुप हो उसे **वाचंयम** कहा जाता है।

इजन्त (=इच् प्रत्याहार का कोई वर्ण जिसके अन्त में हो) तथा एकाच् पूर्वपद को अम् का आगम होता है और वह द्वितीया एकवचन 'अम्' के तुल्य कार्य वाला होता है[3]—**गाम् आत्मानं मन्यते इति गांमन्यः**। जैसे अम् प्रत्यय (विभक्ति) परे होने पर 'गो' को आकार अन्तादेश (=गा) हो जाता है, वैसे ही अम् आगम परे होने पर भी हुआ है। **स्त्रिंमन्यः, स्त्रियंमन्यः**। स्त्री शब्द के द्वितीया एकवचन अम् परे होने पर 'ई' को इयङ् आदेश विकल्प से होता है, सो यहाँ भी हुआ।

कार शब्द उत्तरपद होने पर 'अगद' पूर्वपद को मुम् आगम होता है[4]—**सत्यङ्कारः** (क्रय-विक्रय में प्रतिज्ञा करना)। **अगदंकारः** (=वैद्य जो औषध बनाता है अथवा उपचार द्वारा स्वस्थ बनाता है)।

---

१. अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् (६।३।६७)।

२. (६।४।९४)। सूत्रार्थ—खच् परक णिच् परे होने पर अङ्ग की उपधा को ह्रस्व होता है।

३. इच एकाचोऽम्प्रत्ययवच्च (६।३।६८)।

४. कारे सत्यागदस्य (६।३।७०)।

धेनु पूर्वपद को मुम् आगम होता है 'भव्या' शब्द उत्तरपद होने पर[1]—**धेनुंभव्या** (जो वत्सतरी=बछड़ी दूध देने वाली गौ बनने वाली है)। 'लोक' पूर्वपद को मुम् आगम होता है 'पृण' उत्तरपद परे होने पर[2]—**लोकं पृणति =प्रीणाति पूरयति वा लोकंपृणः**। यहाँ मूलविभुजादि होने से पृण् से 'क' प्रत्यय हुआ है। 'इत्य' उत्तरपद होने पर 'अनभ्याश' को मुम् आगम होता है[3]—**अनभ्याशमित्यः**, जो पास जाने के योग्य नहीं। अभ्याश नाम समीप का है। भ्राष्ट्र तथा अग्नि को मुम् आगम होता है, 'इन्ध' उत्तरपद होने पर—**भ्राष्ट्रम् इन्धे भ्राष्ट्रमिन्धः** (भाड़ झोखने वाला)। **अग्निमिन्धः**।[4] इन्ध् धातु प्रायः वेद में प्रयुक्त हुई है।

उष्ण और भद्र पूर्वपदों को मुम् आगम होता है 'करण' उत्तरपद परे होने पर[5]—**उष्णंकरणम्। भद्रंकरणम्।**

रात्रि पूर्वपद को कृदन्त उत्तरपद परे होने पर विकल्प से मुम् आगम होता है[6]—**रात्रिंचरः (रात्रौ चरति), रात्रिचरः। रात्रिमटः (रात्रौ अटति), रात्र्यटः।**

नञ् (न) निपात के 'न्' का उत्तरपद परे होने पर लोप हो जाता है[7]—**न ब्राह्मणः = अब्राह्मणः** (ब्राह्मण से अतिरिक्त क्षत्रियादि)। **अवृषलः** (शूद्र से भिन्न)। तिङन्त परे होने पर जब निन्दा गम्यमान हो तो नञ् (न) के 'न्' का लोप हो जाता है। तिङन्त के साथ समास न होने से उत्तरपद न होने से यहाँ 'न्' लोप का प्रसङ्ग नहीं था, इसलिए उपसंख्यान किया है—**अपचसि त्वं जाल्म** (हे असमीक्ष्यकारिन्, तू बुरा पकाता है)। **अकरोषि मूढ** (मूर्ख तू काम बिगाड़ रहा है)।

---

१. धेनोर्भव्यायाम् मुम् वक्तव्यः (वा०)।
२. लोकस्य पृणे मुम् वक्तव्यः (वा०)।
३. इत्येऽनभ्याशस्य मुम् वक्तव्यः (वा०)।
४. भ्राष्ट्राग्न्योरिन्धे मुम् वक्तव्यः (वा०)।
५. उष्णभद्रयोः करणे मुम् वक्तव्यः (वा०)।
६. रात्रेः कृति विभाषा (६।३।७२)।
७. नलोपो नञः (६।३।७३)।

अजादि उत्तरपद परे होने पर नकार का लोप होने पर नुट् (न्) का आगम होता है[1]—**न अश्वः=अ अश्वः=अ न् अश्वः=अनश्वः। अनीश्वरः** (असमर्थ)। नुट् उत्तरपद के आदि में होता है।

कुछ ऐसे शब्द हैं जहाँ नञ् प्रकृत्या=अपने स्वरूप में अवस्थित रहता है[2]—**न भ्राजते नभ्राट्** (जो नहीं चमकता)। **न मुञ्चति नमुचिः। नास्य कुलमस्ति नकुलः। नास्य खम् अस्ति नखः। न स्त्री न पुमान् नपुंसकम्।** स्त्री तथा पुरुष के स्थान में 'पुंसक' आदेश होता है। **न क्षीयते न क्षरति वा नक्षत्रम्। न क्रामति, नक्रः। नास्मिन् अकं दुःखमस्ति, नाकः स्वर्गः।**

एकेन न विंशतिः, एकेन न त्रिंशत् इत्यादि तृतीया-तत्पुरुष समासों में एक शब्द को अदुक् (अद्) का आगम होता है और नञ् प्रकृत्या रहता है[3]—**एकाद् न विंशतिः=एकान्नविंशतिः**=एक कम बीस। **एकाद् न त्रिंशत्=एकान्नत्रिंशत्**=एक कम तीस।

नञ् के प्रकृतिभाव के विकल्प से नग और अग दोनों साधु हैं[4]—**न गच्छन्ति, नगा वृक्षाः। अगा वृक्षाः। न गच्छन्ति नगाः पर्वताः। अगाः पर्वताः।** अमरकोष का पाठ भी है—**शैलवृक्षौ नगावगौ।** अर्थान्तर में प्रकृतिभाव नहीं होता—**अगो दरिद्रः शीतेन**, गरीब सरदी के मारे चल नहीं सकता।

ब्रह्मचारिन् शब्द उत्तरपद होने पर 'समान' को 'स' आदेश होता है जब 'समान वेदशाखा का अध्येता' यह अर्थ गम्यमान हो[5]—**समानो ब्रह्मचारी=सब्रह्मचारी।** ब्रह्म=वेद। वेदाध्ययनार्थ व्रत को भी ब्रह्म कहते हैं। उस व्रत का आचरण करने वाले को ब्रह्मचारी कहते हैं। उसके साथ एक ही वेदशाखा को अध्ययन करने वाला दूसरा ब्रह्मचारी उसका **सब्रह्मचारी** होगा।

यत्प्रत्ययान्त तीर्थ शब्द उत्तरपद होने पर 'समान' को 'स' आदेश होता

---

१. तस्मान्नुडचि (६।३।६८)।

२. नभ्राण्-नपान्-नवेदा-नासत्या-नमुचि-नकुल-नख-नपुंसक-नक्षत्र-नक्र-नाकेषु प्रकृत्या (६।३।७५)।

३. एकादिश्चैकस्य चादुक् (६।३।७६)।

४. नगोऽप्राणिष्वन्यतरस्याम् (६।३।७७)।

५. चरणे ब्रह्मचारिणि (६।३।८६)। चरण शब्द का मुख्य अर्थ है—कठ कलापादि शाखा। शाखाध्यायी—यह गौण अर्थ है।

है[1]—**सतीर्थ्यः**। **समाने तीर्थे वासी**, एक ही गुरु का शिष्य, गुर भाई। तीर्थ यहाँ गुरु का वाचक है। **तरत्यनेन संसारम्** इति।

समानोदर (कर्मधारय) से यत् (तद्धित) प्रत्यय की विवक्षा होते ही 'समान' को विकल्प से 'स' आदेश हो जाता है[2]—**समानोदर्यः**। **सोदर्यः**।

क्विन्प्रत्ययान्त दृश्, कञ्प्रत्ययान्त दृश, क्स प्रत्ययान्त दृक्ष उत्तरपद परे होने पर 'समान' को 'स' आदेश होता है[3]—**सदृक्, सदृशः, सदृक्षः**।

इदम् और किम् को क्रम से 'ईश्' (=ई) और 'की' आदेश हो जाते हैं दृश्, दृश, दृक्ष तथा परिमाणार्थक तद्धित वतुप् परे होने पर[4]—**ईदृक्, ईदृशः, ईदृक्षः**। **कीदृक्, कीदृशः, कीदृक्षः**। वतुप् (वत्) को पहले यहाँ इयत् आदेश हो जाता है। 'ईश्' और 'की' की 'भ' संज्ञा होने से 'ई' का लोप हो जाता है। **इयत्**। प्रथमा एकवचन **इयान्**। यहाँ वस्तुतः प्रकृति का अपहार होने से प्रत्यय मात्र (इयत्) ही अवशिष्ट रह जाता है। **किम्—वतुप्=की वत्=की इयत्=कियत्**। प्रथमा एक० **कियान्**। वतुप् के 'व्' को घ=इय् हो जाता है।

सर्वनाम के अन्त्य वर्ण को 'आकार' आदेश होता है दृश्, दृश, दृक्ष तथा वतुप् परे होने पर[5]—**यादृक्**। **तादृक्**। **यादृशः**। **तादृशः**। **यादृक्षः**। **तादृक्षः**। **यावान्, तावान्**।

विष्वक्, और देव शब्दों की 'टि' को 'अद्रि' आदेश होता है, जब क्विन्प्रत्ययान्त अञ्च् धातु परे हो[6]—**विष्वद्र्यङ्** (विष्वग्=सर्वत्र अञ्चति गच्छतीति)। यहाँ विष्वक् में 'अक्' मात्र 'टि' है, उसके स्थान में अद्रि आदेश हुआ है। संयोगान्त 'च्' का लोप होने पर क्विन्-प्रत्ययान्त होने से ञ् (न्) को कुत्व (ङ्) हुआ है। इसी प्रकार **देवद्र्यङ्** (देवान् गच्छतीति) रूप जानो।

'सम्' को 'समि' आदेश होता है जब क्विन् प्रत्ययान्त अञ्च् धातु परे हो[7]

---

१. तीर्थे ये (६।३।८७)।
२. विभाषोदरे (६।३।८८)।
३. दृग्दृशवतुषु (६।३।८९)। दृक्षे चेति वक्तव्यम् (का०)।
४. इदंकिमोरीश्की (६।३।९०)।
५. आ सर्वनाम्नः (६।३।९१)।
६. विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतौ वप्रत्यये (६।३।९२)।
७. समः समि (६।३।९३)।

सम्यङ्, सम्यञ्चौ, सम्यञ्चः। द्वितीया बहु० में **समीचः**। यहाँ पूर्वपद को दीर्घ हुआ है।

तिरस् को 'तिरि' आदेश होता है जब क्विन्प्रत्ययान्त अञ्च् धातु जिसके 'अ' का लोप न हुआ हो, परे हो[1]—**तिर्यङ्, तिर्यञ्चौ, तिर्यञ्चः**। द्वितीया बहु०—**तिरश्चः**। यहाँ 'अ' का लोप होने से 'तिरि' आदेश नहीं हुआ।

'सह' को 'सध्रि' आदेश होता है क्विन्प्रत्ययान्त अञ्च् धातु परे होने पर, 'अ' लोप हुआ हो या न हुआ हो[2]—**सध्र्यङ्, सध्र्यञ्चौ, सध्र्यञ्चः**। द्वितीया बहु०—**सध्रीचः**। यहाँ पूर्वपद को दीर्घ हुआ है।

द्वि, अन्तर् और प्रादि निपात से परे अप् (=जल) के 'अ' को 'ई' आदेश होता है[3]—**द्वीपम् (द्विर्गता आपोऽत्र)**।**अन्तरीपम् (अन्तर्गता आपोऽत्र)**। **प्रतीपम्**। **समीपम्**।

'अनु' से परे 'अप्' के 'अ' को 'ऊ' आदेश होता है जब समुदाय देशवाची हो[4]—**अनूपो देशः (अनुगता अनुबद्धाः सन्तता आपो यत्र)**। इन सब उदाहरणों में 'अ' समासान्त हुआ है जिसके लिए समासान्त प्रकरण देखो।

अन्य शब्द जो षष्ठ्यन्त और तृतीयान्त न हो उसे दुक् (द्) का आगम होता है जब आशिस्, आशा, आस्था, आस्थित, उत्सुक, ऊति और राग शब्द उत्तरपद हों। कारक शब्द तथा छ (तद्धित प्रत्यय) परे होने पर 'अन्य' चाहे किसी भी विभक्ति में हो, आगम निर्बाध होगा[5]—**अन्या आशीः=अन्यदाशीः**। **अन्या आशा=अन्यदाशा**। **अन्या आस्था=अन्यदास्था**। **अन्य आस्थितः=अन्यदास्थितः**। **अन्य उत्सुकः=अन्यदुत्सुकः**। **अन्या ऊतिः** (=रक्षा)=**अन्यदूतिः**। **अन्यो रागः=अन्यद्रागः**। **अन्यदाशीः** आदि सब कर्मधारय समास हैं। पर **अन्यस्याशीः**, **अन्येनाशीः**—इत्यादि में दुक् न होकर **अन्याशीः** इत्यादि रूप होंगे। **अन्यः कारकः**, **अन्यस्य कारकः**, **अन्येन कारकः**

१. तिरसस्तिर्यलोपे (६।३।९४)।

२. सहस्य सध्रिः (६।३।९५)।

३. द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् (६।३।९७)।

४. ऊदनोर्देशे (६।३।९८)।

५. अषष्ठ्यतृतीयास्थस्यान्यस्य दुगाशीराशाऽऽस्थाऽऽस्थितोत्सुकोति-कारक-रागच्छेषु (६।३।९९)।

यहाँ सर्वत्र दुक् होकर **अन्यत्कारकः** रूप होगा। **अन्यस्मिन् भवम्=अन्यदीयम्**। छ। गहादि गण में अन्य शब्द जानना चाहिए।

अर्थ शब्द उत्तरपद परे होने पर अन्य को दुक् का आगम विकल्प से होता है[1]—**अन्यस्मा इदम्=अन्यदर्थम्**। **अन्यार्थम्**।

कु (अव्यय) को तत्पुरुष समास में अजादि उत्तरपद परे होने पर 'कत्' आदेश होता है[2]—**कुत्सितोऽश्वः कदश्वः**। **कुत्सितोऽजः=कदजः**। **कुत्सितम् अन्नम्=कदन्नम्** (निकम्मा अन्न)। अजादि उत्तरपद न होने पर भी 'कत्त्रयः' (=कुत्सितास्त्रयः)में कु को कत् होता ही है। इसमें सूत्रकार का अपना प्रयोग प्रमाण है—कत्त्र्यादिभ्यो ढकञ् (४।२।९५)।

रथ, वद—इनके उत्तरपद होने पर भी 'कु' को 'कत्' आदेश होता है तत्पुरुष समास में[3]—**कुत्सितो रथः=कद्रथः**। **कुत्सितो वदः=कद्वदः**। **वदतीति वदः**। पचाद्यच्। **वदो वदावदो वक्ता**—अमर।

'कु' को 'का' आदेश होता है 'पथ' और 'अक्ष' उत्तरपद होने पर[4]—**कुत्सितः पन्थाः कापथम्**। 'अ' समासान्त हुआ है। अक्ष शब्द से यहाँ कृत-समासान्त अक्षि शब्द तथा स्वतन्त्र प्रकृति अक्ष दोनों का ग्रहण इष्ट है—**कुत्सितोऽक्षः=काक्षः**। **कुत्सिते अक्षिणी अस्य काक्षः पुरुषः** (बहुव्रीहि)। पथ-शब्दान्त तत्पुरुष नपुंसकलिङ्ग होता है जब 'पथ' शब्द अव्यय अथवा संख्या से परे हो[5]। इसलिए **कापथम्** ही न्याय्य है, **कापथः** नहीं। अमरकोष के **व्यध्वो दुरध्वो विपथः कदध्वा कापथः समाः**—इस पाठ में **कापथः**(**विपथः** भी) पुँल्लिङ्ग में रखा है सो प्रामादिक है। काशिका के मुद्रित पाठ में भी'**कापथः**' ऐसा मिलता है।

जब 'कु' का अर्थ ईषत् (थोड़ा) हो तो उत्तरपद परे होने पर 'कु' को 'का' आदेश होता है[6]—**कामधुरम्** (कुछ मीठा)। **कालवणम्**। **काम्लम्** (कुछ खट्टा)। **काजलम्** (थोड़ा जल)। **कातन्त्रम्** (छोटा तन्त्र=शास्त्र)।

---

१. अर्थे विभाषा (६।३।१००)।
२. कोः कत्तत्पुरुषेऽचि (६।३।१०१)।
३. रथवदयोश्च (६।३।१०२)।
४. का पथ्यक्षयोः (६।३।१०४)।
५. पथः संख्याव्ययादेः क्लीबतेष्यते (वा०)।
६. ईषदर्थे (६।३।१०५)।

पुरुषशब्द उत्तरपद परे होने पर 'कु' को 'का' विकल्प से होता है[१]—**कापुरुषः**, (हल्का ओछा आदमी), **कुपुरुषः**। ईषदर्थ में तो नित्य 'का' आदेश होता है। **ईषत्पुरुषः=कापुरुषः**।

ऊष्म शब्द उत्तरपद परे होने पर 'कु' को 'कव' आदेश विकल्प से होता है, पक्ष में यथाप्राप्त 'कत्' और 'का' आदेश भी होते हैं[२]—**कवोष्णम्** (थोड़ा सा गरम)। **कदुष्णम्**। **कोष्णम्**।

बहुत करके उपसर्ग को दीर्घ होता है उत्तरपद परे होने पर जब समुदाय मनुष्य-भिन्नार्थवाची हो[3]—**अपामार्गः** (ओषधि विशेष)। **प्राकारः** (दीवार)। **प्रासादः** (महल)। अन्यत्र **प्रकारः, प्रसादः**। **प्रतिहारः** (द्वार, द्वारपाल), **प्रतीहारः** (द्वार, द्वारपाल)। **प्रतिकारः, प्रतीकारः** (उपाय, चिकित्सा)। **प्रतिरोधः, प्रतीरोधः**। **प्रतिवेशः, प्रतीवेशः** (पड़ोस)। **अनुबन्धः, अनूबन्धः**। पर कहीं दीर्घ होता ही नहीं—**प्रसेवः** (थैला)। **प्रसारः** (फैलाव)।

इगन्त उपसर्ग को 'काश' उत्तरपद होने पर दीर्घ होता है[४]—**नीकाशः**। **प्रतीकाशः** (सदृश)। **वीकाशः**। अमर का पाठ भी है—**निभसंकाशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः**।

क्विबन्त नह्, वृत्, वृष्, व्यध्, रुच्, सह्, तन् के उत्तरपद परे होने पर पूर्वपद को दीर्घ होता है[५]—नह्—**उपानत्** (जूता), **परीणत्** (घेरा अथवा घिरी हुई वस्तु, रथ का बक्सा)। वृत्—**नीवृत्** (जनपद, देश)। **उपावृत्** (लौटना)। वृष्—**प्रावृट्** (बरसात)। **उपावृट्** (   )। व्यध्—**मर्मावित्** (मर्मों को बींधने वाला)। यहाँ व्यध् को सम्प्रसारण भी हुआ है। रुच्—**नीरुक्** (अत्यन्त चमकने वाला)। सह्—**ऋतीषट्** (ऋति=दुःख को सहने वाला)। तन्—**परीतत्**। यहाँ तन् के अनुनासिक का लोप भी होता है।

कोटरावणम्, मिश्रकावणम्, सारिकावणम्, अञ्जनागिरिः, भञ्जनागिरिः,

१. विभाषा पुरुषे (६।३।१०६)।
२. कवं चोष्णे (६।३।१०७)।
३. उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् (६।३।१२२)।
४. इकः काशे (६।३।१२३)।
५. नहि-वृति-वृषि-व्यधि-रुचि-सहि-तनिषु क्वौ (६।३।११६)।

लोहितागिरिः आदि वनविशेष तथा पर्वतविशेष की संज्ञाओं में पूर्वपद को दीर्घ होता है।[1]

विश्व शब्द को दीर्घ होता है नर शब्द उत्तरपद परे होने पर जब समुदाय संज्ञा हो[2]—**विश्वानरः**, जिसके पुत्र को **वैश्वानरिः** कहेंगे। इसी प्रकार विश्व को दीर्घ होता है मित्र शब्द उत्तरपद होने पर जब समुदाय ऋषि का नाम हो[3]—**कौशिको विश्वामित्रः** (कुशिक गोत्रापत्य विश्वामित्र ऋषि)। अन्यत्र **विश्वमित्रो माणवकः**, विश्वमित्र नाम का लड़का।

अन्यत्र विशेष-विहित न होने पर भी दीर्घ देखा जाता है, वह शिष्ट प्रयोगों से जानना[4]। यथा—**केशाकेशि** (बहुव्रीहि, इच्-समासान्त होने से अव्यय)। **कचाकचि**। **जलाषाट्** (जलानि सहते)। **नरक एव नारकः**। **पुरुष एव पूरुषः**। मयूरव्यंसकादि तत्पुरुष। **इष्टं च पूर्तं च=इष्टापूर्ते** (द्वन्द्व)। इध्मं च बर्हिश्च=**इध्माबर्हिषी** (द्वन्द्व)।

श्वादन्तः, श्वादंष्ट्रः, श्वाकर्णः, श्वापुच्छः, श्वापदः—इन बहुव्रीहि समासों में भी पूर्वपद को (नलोप के पश्चात्) दीर्घ हो जाता है। तत्पुरुष में यह विधि नहीं होगी।

अष्टन् को उत्तरपद परे होने पर दीर्घ होता है जब समुदाय संज्ञा हो[5]—**अष्टावक्रः** (बहुव्रीहि)। **अष्टौ वक्राण्यस्य**।

तत्पुरुषसमासाश्रित लिङ्ग

तत्पुरुष समास उत्तरपदार्थ प्रधान होता है, अतः उत्तरपद का जो लिङ्ग है वही समास का हो यह प्राप्त ही है इसमें कुछ नया विधान नहीं करना—**नगरस्य पन्थाः=नगरपथः**। **ग्रामवाटिका**। **नेत्रकौमुदी**। **(नेत्रयोः कौमुदी)**। पर जो एकदेशी अर्धपिप्पली आदि पूर्वपदार्थप्रधान तत्पुरुष है उसके लिए नया वचन सार्थक होता है।[6] **अर्धं पिप्पल्याः=अर्धपिप्पली**—यहाँ अर्ध

---

१. वनगिर्योः संज्ञायां कोटर-किंशुलुकादीनाम् (६।३।११७)।
२. नरे संज्ञायाम् (६।३।१२९)।
३. मित्रे चर्षौ (६।३।१३०)।
४. अन्येषामपि दृश्यते (६।३।१३७)।
५. अष्टनः संज्ञायाम् (६।३।१२५)।
६. परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः (२।४।२६)।

नपुंसकलिङ्ग है। वह पूर्वपद है। पिप्पली उत्तरपद है। उसी के लिङ्ग के अनुसार समास स्त्रीलिङ्ग हुआ। **पूर्वः कायस्य=पूर्वकायः। अपरकायः।**

परन्तु तद्धितार्थ विषयक द्विगु **पञ्चकपालः** (पुरोडाशः)। **प्राप्तो जीविकां=प्राप्तजीविकः। आपन्नो जीविकाम्=आपन्नजीविकः। अलं कुमार्यै=अलंकुमारिः। निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः=निष्कौशाम्बिः।** इनमें पूर्वपद के अनुसार **समास** का लिङ्ग होता है।[1]

कृतसमासान्त रात्र, अह्न, अह—इन उत्तरपदों वाले समास पुँल्लिङ्ग होते हैं[2]—**अहोरात्रः** (=**अहानि च रात्रयश्च**)। **षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि संवत्सरस्याहोरात्राः** (ऐ० ब्रा० ३।१२)। 'रात्रान्त' के पुँल्लिङ्ग होने का नियम है, समाहार का नहीं, सो यहाँ इतरेतर द्वन्द्व में भी पुँल्लिङ्ग हुआ। **रात्रेः पूर्वभागः=पूर्वरात्रः। रात्रेः अपरभागः=अपररात्रः। पूर्वम् अह्नः=पूर्वाह्णः। मध्याह्नः। अपराह्णः। एकं च तदहश्च एकाहः। द्वे अहनी समाहृते=द्व्यहः। त्र्यहः। सप्त अहानि समाहृतानि=सप्ताहः**—ये पुँल्लिङ्ग ही होते हैं। पर **पुण्याहम्, सुदिनाहम्**—ये नपुंसकलिङ्ग ही होते हैं।[3]

कृतसमासान्त रात्र शब्द नपुंसक होता है जब इससे पूर्व संख्या हो[4]—**द्विरात्रम्**(द्विगु)। **त्रिरात्रम्। गणरात्रम् (गणानां बह्वीनां रात्रीणां समाहारः)।**

अपथ—यह नञ् समास नपुंसक होता है[5]—**अपथम्।** पर **अपन्थाः**—यह नञ्तत्पुरुष पुँल्लिङ्ग होता है।

अर्धम् ऋचः=अर्धर्चः, अर्धर्चम्—इत्यादि तत्पुरुष तथा असमस्त शब्द तीर्थ, आश्रम, देह, अङ्कुश, ध्वज इत्यादि पुँल्लिङ्ग तथा नपुंसक लिङ्ग दोनों होते हैं।[6]

संख्या और अव्यय से परे कृतसमासान्त 'पथ' नपुंसक होता है[7]—

---

१. द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः (वा०)।
२. रात्राह्नाहाः पुंसि (२।४।२९)।
३. पुण्यसुदिनाभ्यामह्नः क्लीबतेष्यते (वा०)।
४. संख्यापूर्वं रात्रं क्लीबम् (वा०)।
५. अपथं नपुंसकम् (२।४।३०)।
६. अर्धर्चाः पुंसि च (२।४।३१)।
७. पथः संख्याव्ययादेः क्लीबतेष्यते (वा०)।

चतुष्पथम् (**चतुर्णां पथां समाहारः**)। **विपथम्** (**विरुद्धः पन्थाः**)। प्रादितत्पुरुषः।

उपज्ञा शब्दान्त तथा उपक्रम शब्दान्त तत्पुरुष नपुंसकलिङ्ग होता है जब वक्ता को यह कहना अभिप्रेत हो कि जो उपक्रम्यमाण (जिसका प्रारम्भ किया गया है) अथवा जो उपज्ञायमान (जिसे जाना गया है) है वह पहली बार ऐसा हुआ है।[1] **पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम्** (**पाणिनेरुपज्ञा=पाणिन्युपज्ञम्**), व्याकरणशास्त्र जिसमें काल का निरूपण नहीं उसे पहले-पहल पाणिनि ने जाना। **नन्दोपक्रमं द्रोणः** (**नन्दस्योपक्रमः**) नन्द राजा ने पहले-पहल द्रोण नामक माप का प्रारम्भ किया। **लोकेऽभूद् यदुपज्ञमेव विदुषां सौजन्यजन्यं यशः** (मल्लिनाथ)। **यस्योपज्ञा=यदुपज्ञम्**। **त्वदुपक्रमं सौजन्यमिति विजानीमः** इत्यादि प्रयोग भी साधु हैं। केवल प्रारम्भ और ज्ञानमात्र की विवक्षा होगी तो समास नपुंसकलिङ्ग नहीं होगा—**देवदत्तोपक्रमो रथः** (देवदत्त से बनाया गया रथ)। **यज्ञदत्तोपज्ञो रथः**।

छायान्त तत्पुरुष नपुंसक होता है यदि पूर्वपदार्थ बहुत हो।[2] **इक्षूणां छाया=इक्षुच्छायम्** (ईखों की छाया)। **कुड्यस्यच्छाया=कुड्यच्छाया**। यहाँ पूर्वपदार्थ एक ही है अतः नपुंसक नहीं हुआ।

सभाशब्दान्त तत्पुरुष नपुंसक होता है यदि पूर्वपद राजन् का पर्याय हो। राजन् न हो और न ही राजविशेष-वाची हो, अथवा रक्षस्, पिशाच आदि (अमनुष्य-वाचक) हो[3]—**ईश्वरसभम्**। **इनसभम्**। **नृपतिसभम्**। परन्तु **राजसभा**। **चन्द्रगुप्तसभा**। **रक्षःसभम्**। **पिशाचसभम्**। यहाँ सब में सभा का अर्थ शाला है।

ऐसा सभा शब्द जिसका अर्थ 'शाला' नहीं, 'समुदाय' है, तदन्त तत्पुरुष नपुंसक होता है[4]—**स्त्रीसभं याति** (स्त्रीसमुदाय जा रहा है)। **दासीसभम्**। शाला अर्थ होने पर नपुंसक नहीं होगा—**धर्मसभा=धर्मशाला**। ये षष्ठी-समास हैं।

सेना, सुरा, छाया, शाला, निशा—इन शब्दों के उत्तरपद होते हुए तत्पुरुष समास विकल्प से नपुंसक होता है।[5] **कुरुसेना, कुरुसेनम्**। **यवसुरा,**

---

१. उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम् (२।४।२१)।
२. छाया बाहुल्ये (२।४।२२)।
३. सभा राजाऽमनुष्यपूर्वा (२।४।२३)।
४. अशाला च (२।४।२४)।
५. विभाषा सेना-सुरा-च्छाया-शाला-निशानाम् (२।४।२५)।

यवसुरम्। **कुड्यच्छाया, कुड्यच्छायम्**=दीवार की छाया। **विद्याशाला, विद्याशालम्**। **श्वनिशा, श्वनिशम्**=कुत्तों की रात। **श्वनिशा** अथवा **श्वनिशम्** कृष्ण चतुर्दशी का नाम है जिसमें कुत्ते कुछ नहीं खाते। ऐसी प्रसिद्धि है।

समासान्त

तद्धित प्रकरण में सूत्रकार ने कुछ ऐसे तद्धितों का विधान किया है जो समास अथवा समास के उत्तरपद का अवयव बनते हैं और समासार्थ में कुछ भी विशेष नहीं करते। समासान्त प्रत्यय चूंकि समास का अवयव हैं इसी लिए उनसे पूर्व जो अव्ययीभाव, द्विगु, तत्पुरुष आदि संज्ञाएँ होती हैं वे अक्षत बनी रहती हैं। द्वन्द्व व तत्पुरुष में समासान्त होने पर जो उत्तरपद का लिङ्ग है वही रहता है। इन्हें हमने तद्धित प्रकरण में न रखकर समास प्रकरण में स्थान दिया है, ऐसा ही कौमुदीकार ने किया है। हम यहाँ तत्पुरुष समास के समासान्त प्रत्ययों का निर्देश करते हैं—

संख्या-अव्यय आदि तथा अङ्गुलि-अन्त तत्पुरुष समास से अच् समासान्त होता है[1]—**द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य द्व्यङ्गुलं दारु** (दो उँगल चौड़ी लकड़ी)। यह तद्धितार्थ में द्विगु है और द्विगु की तत्पुरुष संज्ञा है। **निर्गतमङ्गुलिभ्यो निरङ्गुलम्**। यह प्रादि तत्पुरुष है।

अहन्, सर्व, एकदेशवाची पूर्व, अपर, मध्य आदि, संख्यात शब्द और पुण्य—इनसे परे रात्रि शब्दान्त तत्पुरुष को अच् समासान्त होता है, संख्या और अव्यय से परे भी[2]—**अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रः** (समाहार द्वन्द्व)। **सर्वरात्रः**। **पूर्वरात्रः**। **अपररात्रः**। **मध्यरात्रः**। **संख्याता चासौ रात्रिश्च=संख्यातरात्रः**। **पुण्यरात्रः**। **पञ्चरात्रम्** (पञ्चानां रात्रीणां समाहारः)। **अतिरात्रः** (यज्ञविशेष) =**अतिक्रान्तो रात्रिम्** इति। संख्यापूर्व रात्र शब्द नपुंसक होता है, अतः **द्विरात्रम्**, **पञ्चरात्रम्** आदि (समाहार अर्थ में) नपुंसक होते हैं।

राजन्, अहन्, सखि—इन उत्तरपद वाले तत्पुरुष समास से टच् समासान्त प्रत्यय होता है[3], और 'टि' का लोप (अन्, इ का लोप) हो जाता है—

१. तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्ययादेः (५।४।८६)।
२. अहः सर्वैकदेश-संख्यात-पुण्याच्च रात्रेः (५।४।८७)।
३. राजाऽहःसखिभ्यष्टच् (५।४।९१)।

राजराजः (=कुबेर)। **महाराजः**। **धर्मराजः**। **परमाहः**। **उत्तमाहः**। **द्वे अहनी समाहृते द्व्यहः** (द्विगु)। **त्रीण्यहानि समाहृतानि त्र्यहः**। **सप्ताहः**। **राजसखः** (**राज्ञः सखा**)। बहुव्रीहि में टच् न होकर **राजसखा** ऐसा रूप होगा।

सर्व, एकदेशवाची पूर्व, अपर, मध्यादि, संख्यात, संख्यावाची तथा अव्यय से परे जो अहन् शब्द उसे अह्न आदेश होता है जब उससे परे टच् समासान्त हो[1]—**सर्वं च तद् अहश्च=सर्वाह्णः**। **पूर्वम् अह्नः=पूर्वाह्णः**। **मध्यम् अह्नः=मध्याह्नः**। **संख्याताह्नः**। **द्वयोर् अह्नोर्भवः=द्व्यह्नः**। **त्रिष्वहःसु भवः=त्र्यह्नः**। यहाँ द्विगु के निमित्तभूत तद्धित प्रत्यय अण् का लुक् हो जाता है। **अहर् अतिक्रान्तः=अत्यह्नः**। **निर्गतोऽह्नः=निरह्नः**।

संख्या से परे अहन् के विषय में यह विधि नहीं होती यदि समास का वाच्य समाहार हो[2]—**द्वे अहनी समाहृते** (**द्वयोरह्नोः समाहारः**) **द्व्यहः**। **त्रीणि अहानि समाहृतानि** (**त्रयाणामह्नां समाहारः**)=**त्र्यहः**। **चतुरहः**। **पञ्चाहः**। **सप्ताहः**। यह सब पुँल्लिङ्ग हैं। पुण्य शब्द से, तथा एक शब्द से परे भी अहन् को 'अह्न' नहीं होता—**पुण्याहम्** (**नपुं०**)। **एकाहः**। (**पुं०**)।

'मुख्य' अर्थ में प्रयुक्त जो उरस् शब्द तदन्त तत्पुरुष से टच् समासान्त होता है[3]—**अश्वानाम् उर** (**इव**) **अश्वोरसम्**। समासान्त होने पर द्वन्द्व व तत्पुरुष में जो लिङ्ग उत्तरपद का होता है वही रहता है। उरस् नपुं० है, समासान्त अच् होने पर भी **अश्वोरसम्** नपुं० ही रहा—**इदमश्वोरसम्**=अयमुत्कृष्टोऽश्वः। **वनमालोरसं दिव्यं तपन्तमिव भास्करम्** (हरिवंश, २।५५।३२)। उत्कृष्टां दिव्यां वनमालाम् इत्यर्थः। यहाँ भी समासान्त होने पर उरस् का जो लिङ्ग (नपुं०) है वही रहा।

अनस्, अश्मन्, अयस्, सरस्—इनके उत्तरपद होने पर तत्पुरुष समास से टच् समासान्त होता है जब समासार्थ जाति हो अथवा संज्ञा हो[4]—**उपानसम्** (जाति)। **महानसम्** (संज्ञा=रसवती=रसोई)। **अमृताश्मः**(जाति)।

---

१. अह्नोऽह्न एतेभ्यः (५।४।८८)। यहाँ 'एतेभ्यः' यह सर्वनाम संख्या, अव्यय, सर्व एकदेश आदि पूर्व सूत्रों में पढ़े हुए शब्दों का परामर्शक है।

२. न संख्यादेः समाहारे (५।४।८९)।

३. अग्राख्यायामुरसः (५।४।९३)।

४. अनोऽश्मायस्सरसां जातिसंज्ञयोः (५।४।९४)।

पिण्डाश्मः (संज्ञा)। **कालायसम्** (जाति=फौलाद)। **लोहितायसम्** (संज्ञा ताँबा)। **मण्डूकसरसम्** (जाति)। **अमृतसरसम्** (संज्ञा,पंजाब में नगर विशेष)।

गो शब्दान्त तत्पुरुष से टच् प्रत्यय होता है, जब उस तत्पुरुष में तद्धित प्रत्यय का लुक् न हुआ हो[1]—**परमगवः** (उत्तम बैल)। **जरद्गवः** (बूढ़ा बैल)। **पञ्चगवम्** (**पञ्चानां गवां समाहारः**)। **सुराणां गौः वाक्=सुरगवी** (स्त्रीत्व-विवक्षा में टच् प्रत्यय के कारण ङीप् हुआ)=देववाणी=संस्कृत। **ब्राह्मण-गवी=**ब्राह्मण की गौ। **स्त्रीगवी**। **पुंगवः**।

ग्राम, कौट से परे जो तक्षन् शब्द तदन्त तत्पुरुष से टच् समासान्त होता है[2]—**ग्रामतक्षः**—जो तक्षा (तरखान) बहुतों का साधारणतया काम करता है। टच् परे रहते 'टि' (अन्) का लोप होता है। **कौटतक्षः**। **कुट्यां भवः= कौटः**, जो तक्षा स्वतन्त्रतया अपना काम करता है, किसी के अधीन नहीं है। अन्यत्र टच् नहीं होता—**राज्ञस्तक्षा = राजतक्षा**।

अति (प्रादि) पूर्वपद होने पर श्वन् शब्दान्त तत्पुरुष से टच् समासान्त होता है[3]—**अतिश्वो वराहः**। **अतिक्रान्तः श्वानम् अतिश्वः**, सूअर जो कुत्ते से आगे निकल गया है (अधिक तेज दौड़ता है)। **अतिश्वः सेवकः**। **अतिश्वी सेवा**। सेवा अतिनीच कर्म है।

नौ शब्दान्त द्विगु से टच् समासान्त होता है[4]—**द्वे नावौ समाहृते= द्विनावम्**। **त्रिनावम्** (**तिसृणां नावां समाहारः**)। **द्विनावधनः**। **पञ्चनावप्रियः**। यहाँ धन, प्रिय उत्तरपद होने परे पूर्व द्वि नौ, पञ्च नौ, की द्विगु संज्ञा है।

एकदेशी 'अर्ध नौ' समास से भी टच् समासान्त होता है।[5] **अर्धं नावः= अर्धनावम्**। यहाँ उत्तरपद के अनुसार स्त्रीलिङ्ग नहीं होता। द्वि, त्रि शब्द से परे जो उत्तरपद अञ्जलि तदन्त तत्पुरुष (द्विगु) से टच् समासान्त होता है[6] **द्वावञ्जली समाहृतौ द्व्यञ्जलम्**। **त्रयोऽञ्जलयः समाहृताः= त्र्यञ्जलम्**।

जनपद विशेषवाची पूर्वपद होने पर ब्रह्मन् शब्दान्त तत्पुरुष से टच् समा-

---

१. गोरतद्धित-लुकि (५।४।९२)।
२. ग्रामकौटाभ्यां तक्ष्णः (५।४।९५)।
३. अतेः शुनः (५।४।९६)।
४. नावो द्विगोः (५।४।९९)।
५. अर्धाच्च (५।४।१००)।
६. द्वित्रिभ्यामञ्जलेः (५।४।१०२)।

सान्त होता है, यदि 'उस जनपद का वासी ब्राह्मण' समास से इस अर्थ की प्रतीति हो[1]—**सुराष्ट्रेषु ब्रह्मा** (=ब्राह्मणः)=**सुराष्ट्रब्रह्मः** ।

कु, महत् से परे जो ब्रह्मन् शब्द तदन्त तत्पुरुष से टच् विकल्प से होता है[2]—**कुत्सितो ब्रह्मा** (=ब्राह्मणः)=**कुब्रह्मः** । **कुब्रह्मा** । **महान् ब्रह्मा=महाब्रह्मः, महाब्रह्मा** ।

ऋच्, पुर्, अप्, धुर्, पथिन्—इनके उत्तरपद होने पर समास-मात्र से 'अ' समासान्त होता है[3]—**अर्धम् ऋचः=अर्धर्चः** । (तत्पुरुष) । **बह्वृचः** । **अनृचः** । **बह्वृचो ब्राह्मणः**, जो ब्राह्मण ऋग्वेदीय शाखाध्यायी है । **अनृचो माणवकः, ब्रह्मचारी** जिसने अभी ऋक्पाठ नहीं किया है । ये बहुव्रीहि समास हैं । **शिवस्य पूः** (स्त्री०) **शिवपुरम्** (नपुंसक) । **विमलापं सरः** (विमला आपोऽत्रेति, बहुव्रीहि) । **द्वीपम्** (द्विर्गता आपोऽत्रेति, बहुव्रीहि) । **निरपाश्च सुदुःखाश्च मार्गा दुःखमतो वनम्**(रा० २।२८।१०) । **निर्गता आप एभ्य इति निरपाः** । **अध्वरधुरां धर्मराजो विवक्षते** (=वोढुमिच्छति) (माघ) । **अध्वरस्य धूः ताम्** । 'अ' समासान्त, टाप् । **विधुरो वा** (बौ० ध० २।१०।१७।४) । **विगता धूर् यस्य** (बहु०), **मृतभार्यः** जिसकी पत्नी मर गई है (और जो दूसरी पत्नी ग्रहण करने में असमर्थ है) । **क्रोधोद्धुरः=क्रोधेन उद्धुरः=उत्क्रान्तो धुरम्** । **राज्यस्य धूः=राज्यधुरा** ('अ' समासान्त+टाप्) । **राजपथः** । **महापथः** । **घण्टापथः** । **चतुष्पथम्** (चौरास्ता) ।

क्षेप=निन्दा की प्रतीति होने पर किम् शब्द का समर्थ सुबन्त के साथ जो तत्पुरुष समास होता है वहाँ जो भी समासान्त पूर्वकथित नियमों के अनुसार प्राप्त होता है वह नहीं होता[4]—**किंराजा यो न रक्षति** । **किंसखा योऽभिद्रुह्यति** । वह कुत्सित मित्र है (वह क्या मित्र है) जो हानि पहुँचाने की इच्छा करता है । **किंगौर्यो न वहति**, वह कुत्सित बैल है (वह क्या बैल है) जो ढोता नहीं ।

पूजनवाची पूर्वपद सु, अति होने पर तत्पुरुष समास से जो समासान्त प्राप्त होता है शास्त्र उसका प्रतिषेध करता है[5]—**सुराजा** । **अतिराजा** ।

---

१. ब्राह्मणो जानपदाख्यायाम् (५।४।१०४) ।
२. कुमहद्भ्यामन्यतरस्याम् (५।४।१०५) ।
३. ऋक्-पूरब्धू-पथामानक्षे (५।४।७४) ।
४. किमः क्षेपे (५।४।७०) ।
५. न पूजनात् (५।४।६९) ।

सुगौः । अतिगौः । यहाँ टच् नहीं हुआ । सु अति से भिन्न पूजनवाची पूर्व-पद होने पर समासान्त होगा—**परमराजः** ।

नञ् तत्पुरुष से जो समासान्त प्राप्त होता है, वह नहीं होता—**अराजा । असखा । अगौः** । यहाँ टच् नहीं हुआ ।

नञ् पूर्वक पथिन् शब्दान्त तत्पुरुष से शास्त्रान्तर से विहित समासान्त विकल्प से होता है—**अपथम्** (नपुंसक) । **अपन्थाः । अपथानि गाहते मूढः** (काशिका) । **सुजनो हि पथा याति नाऽपथा** । यहाँ पक्ष में 'अ' समासान्त हुआ है ।

ब्रह्मन् और हस्तिन् से परे जो वर्चस् शब्द तदन्त तत्पुरुष समास से अच् समासान्त होता है—**ब्रह्मणो वर्चः=ब्रह्मवर्चसम् । हस्तिनो वर्चः=हस्तिवर्चसम् । पुरुषस्याऽयुः=पुरुषायुषम्**, पुरुष की आयु । **शतायुर्वै पुरुषः । द्वे आयुषी समाहृते द्व्यायुषम् । त्रीण्यायूंषि समाहृतानि=त्र्यायुषम्**—ये द्विगु भी अच्-प्रत्ययान्त निपातन किए हैं ।

अव, सम्, अन्ध—इन से परे जो तमस् शब्द तदन्त तत्पुरुष से अच् समासान्त होता है—**अवहीनं तमः=अवतमसम्** (घटा हुआ अन्धेरा) । सन्ततं तमः=**सन्तमसम्** (फैला हुआ अन्धेरा) । अन्धं च तत् तमश्च=**अन्धतमसम्** (अन्धा करने वाला अन्धकार, घना अन्धेरा) ।

श्वस् शब्द से परे जो वसीयस्, श्रेयस् शब्द, तदन्त तत्पुरुष से अच् समासान्त होता है—**श्वोवसीयसम् । श्वःश्रेयसम्** । दोनों का 'शोभनं श्रेयः' यही अर्थ है । आशीर्वाद विषय में इसका प्रयोग होता है । **श्वः श्रेयसं ते भूयात् । निःश्रेयसम्**=निश्चितं श्रेयः । यह भी अचतुरविचतुरसुचतुर—सूत्र में अच् प्रत्ययान्त निपातन किया है ।

अनु, अव, तप्त—इनसे परे जो रहस् शब्द तदन्त तत्पुरुष से अच् समासान्त होता है[६]—**अनुगतं रहः=अनुरहसम् । अवहीनं रहः=अवरहसम्** ।

---

१. ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः (५।४।७८) ।

२. अचतुरविचतुर—सूत्र से पुरुषायुषम्, द्व्यायुषम्, त्र्यायुषम्—निपातन किये हैं ।

३. अवसमन्धेभ्यस्तमसः (५।४।७९) ।

४. श्वसो वसीयः श्रेयसः (५।४।८०) ।

५. निःश्रेयसम्—यह अचतुरविचतुर—सूत्र से निपातन किया है ।

६. अन्ववतप्ताद् रहसः (५।४।८१) ।

दोनों प्रादि समास हैं। **तप्तं च तद् रहश्च=तप्तरहसम्**, अत्यन्त रहस्य, जो दूसरे से जाना नहीं जा सकता। यह कर्मधारय है।

प्रादि निपात से परे जो अध्वन् शब्द तदन्त तत्पुरुष से अच् समासान्त होता है[1]—**प्रगतोऽध्वानं प्राध्वः। प्राध्वो रथः**,रथ, जो मार्ग पर चल रहा है। **प्राध्वं शकटम्। विपरीतोऽध्वा=व्यध्वः। दुष्टोऽध्वा=दुरध्वः।**

जातोक्ष, महोक्ष, वृद्धोक्ष—ये कर्मधारय अच् प्रत्ययान्त निपातन किये हैं।[2] **जात उक्षा=जातोक्षः** (टिलोपः)। **महान् उक्षा=महोक्षः। वृद्ध उक्षा=वृद्धोक्षः**। 'उक्षन्' बैल को कहते हैं।

बहुव्रीहि समास

जहाँ कोई दूसरा समास विहित न हो वहाँ बहुव्रीहि समास होता है।[3] जब दो वा दो से अधिक प्रथमान्त पद मिलकर (एक पद होकर) किसी अन्य, उनसे बहिर्भूत पद के अर्थ को विशिष्ट करें तो वह बहुव्रीहि समास होता है। वे दो वा दो से अधिक पद उपसर्जन (गौण) होते हैं, अन्य पदार्थ ही प्रधान होता है, उसी का क्रिया में अन्वय होता है।[4] अतः सर्वोपसर्जनो बहुव्रीहिः ऐसा कहा जाता है। अन्य पदार्थ प्रथमा विभक्ति को छोड़ द्वितीयादि किसी एक विभक्ति से कहा जाता है। प्रथमान्तों का बहुव्रीहि समास होता है ऐसा कहने से बहुव्रीहि प्रायः समानाधिकरण पदों का ही होता है ऐसा समझना चाहिए। बहुत स्थलों में यह समास मत्वर्थ (मतुप् प्रत्यय के अर्थ) में देखा जाता है। ऐसा होने पर भी भूमा (बहुत्व) निन्दा, प्रशंसा नित्ययोग आदि मत्वर्थीय प्रत्ययों से द्योतित अर्थों की बहुव्रीहि समास से प्रतीति नहीं होती। **आतपवन्ति शिखराणि हिमवतः**, यहाँ **आतपवन्ति**='नित्य आतप वाले' इस अर्थ की **सातपानि** (बहुव्रीहि) से प्रतीति नहीं होती। बहुव्रीहि में सब पद उपसर्जन होने से उपसर्जनं पूर्वम् अर्थात् उपसर्जन का पूर्व निपात होता है

१. उपसर्गादध्वनः (५।४।८५)।

२. जातोक्ष आदि कर्मधारय अचतुरविचतुरसुचतुर—सूत्र से निपातन किये हैं।

३. शेषो बहुव्रीहिः (२।२।२३)।

४. अनेकमन्यपदार्थे (२।२।२४)।

यह व्यवस्था नहीं बनती। इसलिए पूर्व निपात की व्यवस्था यूँ की जाती है—विशेषण, निष्ठान्त (क्त, क्तवतु) और सप्तम्यन्त पद (जो कहीं-कहीं मिलेगा) बहुव्रीहि में पहले रखे जाते हैं।[1] उदाहरण—(विशेषण)—**बहुव्रीहिः** पुरुषः (**बहवो व्रीहयो यस्य। बहूदको ग्रामः। कृशधनः। महात्मा रावणः। महान् आत्मा शरीरम् अस्य,** महाकाय इत्यर्थः। **चतुराननो ब्रह्मा। चत्वारि आननानि यस्य सः। हृदयहारिचरितः=हृदयहारि चरितम् अस्य। चित्रा गावो यस्य स चित्रगुः,** चितकबरी गौओं वाला। **पीते अम्बरे यस्य स पीताम्बरो विष्णुः।** यहाँ 'अम्बर' से द्विवचन ही युक्त है, बहुवचन नहीं, कारण कि इस देश में दो वस्त्र (परिधानीय शाटक - धोती तथा अन्तरीय=चादर) ही पहिरने की प्रथा थी। **वीरपुरुषको ग्रामः, वीराः पुरुषा अत्र।** कप्। कप् के बिना भी 'वीरपुरुषः' ऐसा भी कह सकते हैं, पर कप् से बहुव्रीहि की स्फुट प्रतीति हो जाती है। कप् तत्पुरुष से होता नहीं। (निष्ठान्त)—**प्राप्तमुदकं यं ग्रामं स प्राप्तोदको ग्रामः** (जिस गाँव को नहर आदि का पानी पहुँच गया है)। अन्य पदार्थ के प्रधान होने से बहुव्रीहि का लिङ्ग व वचन वही होता है जो उसके वाच्य अन्यपदार्थ का। यहाँ 'ग्राम' के पुं० एक० होने से **प्राप्तोदकः** भी पुं० एक० हुआ। **ऊढो रथो येन स ऊढरथोऽनड्वान्** (बैल जिसने रथ खींचा है)। **उपहृतः पशुर्यस्मै स उपहृतपशू रुद्रः** (रुद्र जिसे पशुयाग में पशु भेंट किया गया है)। **उद्धृत ओदनो यस्याः सा उद्धृतौदना स्थाली** (पाक भाजन) (बटलोही) जिसमें से भात निकाल लिया गया है। यहाँ प्राप्त आदि निष्ठान्त पदों का पूर्वनिपात हुआ है।

समानाधिकरण बहुव्रीहि के अन्य उदाहरण—**धर्म आत्मा स्वभावोऽस्य धर्मात्मा। प्राणांश्चारित्रकवचान् धारयन्ति वरस्त्रियः** (भा० ३।२७५२)। **चारित्रं कवचं येषां तान्,** (जिनका) चरित्र ही प्राणों के लिये कवचस्थानीय है, अर्थात् रक्षक है। **लोकायतिकः, लोक इहलोक एव आयतिर् उत्तरकालः परलोको यस्य सः,** नास्तिक इत्यर्थः=नास्तिक, जिसके लिए यह लोक ही परलोक है। यहाँ कप् समासान्त हुआ है। **आ-लोल-नील-कुटिलाऽलका कन्यका (आलोला ईषद् लोला नीलाः कुटिला अलका यस्याः सा** (अनेकपद बहु०)। **सप्तर्षि-पूर्वाः परमर्षयश्च** (कुमार०)। **सप्तर्षयः पूर्वे येषां ते।** बहुव्रीहि समास में सर्वनाम संज्ञा का 'न बहुव्रीहौ' (१।१।२९)

१. सप्तमी-विशेषणे बहुव्रीहौ (२।२।३५)। निष्ठा (२।२।३६)।

से जस् के स्थान में 'शी' (ई) नहीं हुआ। अतः **सप्तर्षिपूर्वाः** रूप हुआ, न कि '**सप्तर्षिपूर्वे**'। **विशारदः=विगतं शारदत्वम्=अभिनवत्वम्=अप्रतिभत्वं यस्य सः**, जिसका नयापन अर्थात् प्रतिभाशून्यता नष्ट हो गई है, चतुर। **महाप्राज्ञः=महत् प्राज्ञत्वम् अस्य**। यहाँ 'शारद' तथा 'प्राज्ञ' भावप्रधान निर्देश हैं। **पितरो यमराजानः, यमो राजा येषाम्**। बहुव्रीहि होने से टच् समासान्त नहीं हुआ। वह तत्पुरुष में होता है। '**शशमात्रः**' (भट्टि०)। **शशस्य मात्रा इव मात्राऽल्पपरिमाणम् अस्य। नायं राजा, राजमात्रोऽयम्। राज्ञः मात्रा परिच्छद इव परिच्छदोऽस्य राजमात्रः**। यहाँ मात्रा का अर्थ 'परिच्छद' है। छत्र, चामर, सेना, परिजन आदि वैभव की उपलक्षक सामग्री को परिच्छद कहते हैं। **सायमादि प्रातरन्तम् एकं कर्म। सायम् आदिर् यस्य तत्। प्रातर् अन्तो यस्य तत्। ऋभवो नाम मनुष्य-प्रकृतयो देवाः। मनुष्यः प्रकृतिरुद्भवस्थानं येषां ते मनुष्यप्रकृतयः**। ऋभु नाम के देवता मनुष्यों से बने देव हैं। **अमुष्मिन्नवकाशे हस्तदक्षिणः** (पन्थाः) **ग्रहीतव्योऽमुष्मिन्हस्तवाम इति** (भाष्य)। **दक्षिणो हस्तोऽस्य (संनिहितः) इति हस्तदक्षिणः**। भाष्यकार-वचन-प्रामाण्य से सर्वनाम दक्षिण का परनिपात साधु है। **न त्वं प्रतिबलश्चैषां गन्धर्वाणां यशस्विनाम्** (भा० विराट० २१।२६)। **नायं प्रतिबलो भीरु राक्षसापसदो मम। सोढुं युधि परिस्पन्दमथवा सर्वराक्षसाः** (भा० आदि० १५४।८)। **प्रतिरूपं बलमस्य**। तुल्यबल इत्यर्थः। **आश्रितानां भृतौ स्वामिसेवायां धर्मसेवने। पुत्रस्योत्पादने चैव न सन्ति प्रतिहस्तकाः** (याज्ञ० २।३३)॥ **प्रतिरूपो हस्तोऽवलम्बनरूपोऽस्य इति प्रतिहस्तकः** प्रतिनिधिः। कप्। **उदपानोदके ग्रामे ब्राह्मणो वृषलीपतिः** (बौ० ध० २।३।६।३२)। **उदपानं कूपः। तत्स्थमेव उदकं यत्र**। यहाँ समासरूप एकपद से भी अवधारण (=नियम) का बोध होता है। जैसे **अब्भक्षः, वायुभक्षः** में।

कुछेक ऐसे 'आहिताग्नि' इत्यादि बहुव्रीहि समास हैं जिनमें निष्ठान्त का परनिपात भी होता है—**आहिताग्निः,अग्न्याहितः (आहितोऽग्निर्येन)। वाग्यतः, यतवाक्। वाल्मीकिरथ तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय वाग्यतः**(रा० १।२।२४)। **तिष्ठेदहःशेषं वाग्यतः** (गो० गृ० २।१०।४५),बाकी दिन चुप रहता है। **ब्रह्माञ्जलिकृतः, कृतब्रह्माञ्जलिः**,स्वाध्याय के लिए जिसने अञ्जलि बाँधी है। **ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः** (मनु० २।७०)। **भार्योढः, ऊढभार्यः। 'भार्योढं तमवज्ञाय'** (भट्टि० ४।१५)। **गर-गीर्णमिवात्मानं मन्यमानः**

(आश्व० श्रौ० ६।५)। **गर-गीर्णः**, जिसने विष निगला है। **गरगीर्णो भवत्य-स्थिभूयान्** (अथर्व० ५।१८।१३)। **अनुपस्थकृतः** (आप० ध० १।६।१४)। **कृत उपस्थो येन स उपस्थकृतः, स न भवति अनुपस्थकृतः।** बाईं टांग मोड़कर उसके ऊपर दाईं को रखकर बैठने को 'उपस्थ' कहते हैं। **वृषलीफेनपीतस्य निःश्वासोपहतस्य च** (मनु० ३।१९)। **पीतो वृषलीफेनो येन स वृषलीफेन-पीतः। वृषलीफेनः**=शूद्रा के अधर का रस। इसी प्रकार **स्नेहपीतः, यवागू-पीतः** प्रयोग भी पाये जाते हैं। **सावित्रीपतिताः** (मनु० २।३९)=**पतितसावि-त्रीकाः**, जिनका उपनयन नियत समय से आठ वर्ष पीछे तक नहीं हुआ। **पतिं या न व्यभिचरति मनोवाग्देहसंयता** (मनु० ५।१६५)। **देहबद्धः प्रथमा-श्रमो यथा** (कुमार० ५।३०)। **न वालधि-विरूपितैः (धुर्यैः) (व्रजेत्)** (मनु० ४।६७), जिनकी पूंछ कटी हुई है ऐसे हाथी-घोड़े आदि पर चढ़कर न जाए। **आकाशे बलिरुत्क्षेप्यो न तु च्छर्दिष्कृते देशे** (आप० ध० में हरदत्त का वचन)। छदिस्=छत्त। आकाश=ऊपर से खुली जगह। **जातदन्तः, दन्तजातः** (जिस बच्चे के दाँत निकल आए हैं)। **दन्तजातेऽनुजाते च** (मनु० ५।५८)। **लोहितचन्दनोचितः** (किरात० १।३४)। उचितः=अभ्यस्तः। उच समवाये दिवा० का क्तान्त रूप 'उचित' है।

जाति-काल-वाचक तथा सुख आदि शब्दों से परे निष्ठान्त पद रखा जाता है[1]—**शार्ङ्गजग्धी** (स्त्री), जिसने शार्ङ्ग (आर्द्रक) खाया है। **पलाण्डुभक्षिती** (स्त्री), जिसने प्याज खाया है। **ऊरुभिन्नी**, भिन्न ऊरुर्यस्याः सा। **शङ्खभिन्नी, भिन्नः शङ्खो मस्तकास्थि यस्याः सा,** जिसकी मस्तक की हड्डी टूट गई है। **गलोत्कृत्ती** (स्त्री), **उत्कृत्तो गलो यस्याः सा,** जिसका गला कट गया है।

विशेषण का भी कहीं-कहीं पूर्वनिपात नहीं होता—**अर्थनित्यः परीक्षेत** (निरुक्त २।१)। **अर्थो नित्योऽस्य। स कच्चिद् ब्राह्मणो विद्वान् धर्मनित्यो महामुनिः** (रा० २।१००।६)। **धर्मो नित्योऽस्य**। यहाँ विशेषण का परनिपात हुआ है, वह आहिताग्न्यादि के आकृतिगण होने से साधु है। ऐसे ही रामायण के **प्रतिकर्मनित्या** इस प्रयोग के विषय में जानो। **अभिरूपभूयिष्ठा परिषद्** (शाकुन्तल)। **भूयिष्ठा अभिरूपा विद्वांसो यत्र सा,** जिस सभा में बहुत विद्वान्

१. जाति-काल-सुखादिभ्यः परा निष्ठा वक्तव्या (वा०)।

हैं। **आत्मान्तरः = आत्मा स्वभावोऽन्तरोऽन्यो यस्य सः। व्यवायिनोऽन्तरम्** (६।२।१६६) में काशिकाकार ने प्रत्युदाहरण दिया है।

ऊपर हमने यह कहा था कि बहुव्रीहि अन्यपदार्थ प्रधान समास होता है। समास-घटक पद (वर्तिपद) तो सभी उपसर्जन होते हैं, पर यह सापवाद वचन है। कहीं-कहीं वर्तिपदार्थ का भी अन्य पदार्थ की तरह क्रिया में अन्वय होता है। **लम्बकर्णं रासभमानय। लोहितवाससम् ऋत्विजमानय।** यहाँ जैसे रासभ (गधा) और ऋत्विज् का आनयन क्रिया में अन्वय है वैसे ही लम्बत्व-विशिष्ट कर्ण तथा लोहितत्व-विशिष्ट वासस् (वस्त्र) का भी। ऐसे बहुव्रीहि समास को **तद्गुण-संविज्ञान** बहुव्रीहि समास कहते हैं। यहाँ गुण का अर्थ अवयव है। **कल्याणीपञ्चमा रात्रयः**—यहाँ वर्तिपदार्थ पञ्चमी रात्रि अन्य पदार्थ रात्रियों में से एक होने से प्रधान है। इसलिए पुंवद्भाव का निषेध (कल्याणी) तथा अप् समासान्त हुआ है। **चित्रगुः**—यह **अतद्गुण-संविज्ञान** बहुव्रीहि है। **चित्रगुं पुरुषमानय**—ऐसा कहने से पुरुष लाया जाता है जो चित्र (शबल, नानावर्ण) गौओं का स्वामी है, चित्रवर्ण-विशिष्ट गौएँ नहीं लाई जातीं। **अप्रजस्त्री धनं भर्तु र्ब्राह्मादिषु चतुर्ष्वपि** (याज्ञ० २।१४५)। यहाँ '**ब्राह्मादिषु**' यह अतद्गुण-संविज्ञान बहुव्रीहि है। ब्राह्म-भिन्न दैव, आर्ष, प्राजापत्य, गान्धर्व—यह चार विवाह लिए जाते हैं। तद्गुण-संविज्ञान मानने पर तो ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य—यह चार समझे जाएँगे। **ब्राह्म आदिर्येषां ते ब्राह्मादयः**—यह दोनों पक्षों में समान विग्रह है।

ऊपर कह आये हैं कि बहुव्रीहि समानाधिकरणों का होता है, अतः **पञ्चभिर्भुक्तमस्य** (इसके यहाँ पाँच ब्राह्मणों ने भोजन किया)—यहाँ पञ्चन् भिस् भुक्त सु का समास नहीं होगा। पर कहीं-कही ज्ञापकसिद्ध व्यधिकरण बहुव्रीहि भी होता है—**शरेभ्यो जन्म यस्य स शरजन्मा** (कार्तिकेय)। **निटिलेक्षणः** (रुद्रः), **निटिले भाले ईक्षणं नेत्रमस्य। कण्ठे स्थितः कालोऽस्य = कण्ठेकालः। कण्ठे गडुरस्य = कण्ठेगडुः। उरसि लोमानि यस्य स उरसिलोमा। पत्यौ व्रतं यस्याः सा पतिव्रता**—इनमें सप्तम्यन्त का पूर्व निपात[1] और सप्तमी का अलुक् भी। **असिः पाणौ यस्य सोऽसिपाणिः।** यहाँ प्रहरणार्थक (असि = खड्ग, तलवार) से परे सप्तम्यन्त पाणि का प्रयोग होता है।

---

१. सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ (२।२।३५)। अमूर्धमस्तकात् स्वाङ्गादकामे (६।३।१२)।

अस्युद्यतः=उद्यतोऽसिर्येन, जिसने तलवार उठाई है—यहाँ निष्ठा का पर-निपात होता है।[1]

व्यधिकरणबहुव्रीहि के अन्य उदाहरण—

अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव (शाकुन्तल ४।४)। **अग्निर्गर्भे यस्याः**, ताम्। हेतुगर्भं विशेषणम्=**हेतुर्गर्भे यस्य तत्**। **जगाद गर्वगर्भाभिर्गीर्भिरुत्साहयन् भृशम्** (शिवभारत २४।८)। **गर्वो गर्भे यासां ताभिः**। **गोमहिष्यादिकं पादबन्धनम्** (अमर)। **पादे बन्धनमस्य**। **पद्म-पुष्कर-संबाधं गज-यूथैरलङ्कृतम्** (रा० ३।११।६)। **पद्मैः रक्ताम्भोजैः पुण्डरीकैश्च संबाधः संमर्दो यत्र**। यह 'तटाक' का विशेषण है। **सूपस्य गन्धो लेशोऽस्मिन्निति सूपगन्धि भोजनम्**। वृद्धि-निमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे (६।३।३९)। **वृद्धेर्निमित्तमस्मिन्निति वृद्धिनिमित्तस्तद्धितः, तस्य**। **दिवास्थानो निशासनः** (बौ० ध० ४।५५)। **दिवा=दिने स्थानम्=ऊर्ध्वा स्थितिर्यस्य स दिवास्थानः**। **निशायामासनम् उपवेशनं यस्य स निशासनः**। **अध्ययनाध्व-संयोगः** (गौ० ध० १।५।१९)। **अध्ययनेन अध्वना च संयोगोऽस्य**। **रुद्धा ध्वान्तः-पुरे गुप्ता त्वच्चित्ता त्वत्परायणा** (रा० ६।११८।८)। **त्वयि चित्तं यस्याः सा**। **मन्मना भव** (गीता), **मय्येव मनो यस्य सः**। **प्रतिज्ञा-स्वरिताः** पाणिनीयाः। **प्रतिज्ञया स्वरितो येषाम्**। पोटा=**उभयव्यञ्जना**। **उभयोः स्त्रीपुंसयोर् व्यञ्जनं यस्याः सा**। **ते (मतल्लिकादय) आविष्ट-लिङ्गत्वाद् अन्यलिङ्गेऽपि जातिशब्दे स्वलिङ्गोपादाना एव समानाधिकरणा भवन्ति** (काशिका २।१।६६)। **स्वस्य लिङ्गस्योपादानं येषु ते**। **नेयङुवङ्स्थानावस्त्री** (१।४।५)। **इयङुवङोः स्थानं स्थितिर्ययोर् ईदूतोः, तौ इयङुवङ्स्थानौ**। **अग्नये होत्रं होमोऽस्मिन्कर्मणि इत्यग्निहोत्रं कर्म**। **दाम (रज्जुः) उदरे यस्य स दामोदरः कृष्णः**। **ऊर्णा नाभौ यस्याः सा ऊर्णनाभिः**। यहाँ समुदाय (ऊर्णनाभि) के संज्ञावाचक होने से आबन्त पूर्वपद ऊर्णा को ह्रस्व हुआ है। **आशी**=दंष्ट्रा। **आश्यां विषमस्य=आशीविषः**, साँप। **आत्मनः स्वनाम्नो घोषोऽस्य आत्मघोषः**, काक, कौवा। **मनोजवता** (आप० ध० २।२३।७)। **मनस इव जवो येषां ते मनोजवाः**। **तेषां भावः**। **वाच्याशीर्यस्य स वागाशीः**, जिसकी वाणी में आशीर्वाद है।

---

१. प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवत इति वक्तव्यम्।

उष्ट्रस्य मुखम् उष्ट्रमुखम् (षष्ठी समास) । **उष्ट्रमुखमिव मुखमस्य उष्ट्र-मुखः** (बहु०) । यहाँ उपमानवाची पूर्वपद उष्ट्र में उत्तरपद मुखम् का लोप होता है उपमेय मुखम् के साथ समास होने पर । यद्यपि वस्तुगत्या समस्त पद **उष्ट्र-मुखम्** उपमानवाची है, न कि उसका अवयव उष्ट्र तो भी समुदाय धर्म (उपमा-नता) का व्यपदेश अवयव में किया जाता है, जिससे उष्ट्र उपमान हो जाता है, तभी उसके उत्तरपद मुखम् का लोप उत्पन्न होता है ।[1]

प्रपतितानि पलाशानि (=पत्त्राणि) **यस्य स प्रपलाशः, प्रपतितपलाशः,** जिसके पत्ते झड़ गए हैं । **प्रपर्णः** । **प्रपतितपर्णः** । ऐसे समासों में प्रादि से परे जो धातुज (=कृदन्त) शब्द 'पतित' आदि उसका विकल्प से लोप हो जाता है । **निमूलम्=निर्गतं प्रकाशं मूलमस्य** । **निदण्डो यतिः, निहितदण्डः, न्यस्तदण्डः,** जिसने बल के प्रयोग का त्याग कर दिया है । **निवाग् वृषलः** । निवाक्=निहितवाक्, जिसका शब्द सुनाई नहीं देता । **प्रपृष्ठः=प्रगतं प्रकृष्टं वा पृष्ठं यस्य सः** । **प्रोदरः=प्रवृद्धं लम्बम् उदरं यस्य** । **प्रललाटः= प्रथितं ललाटम् अस्य स पृथु-ललाटः** ।[2]

प्रादि पूर्वपद बहुव्रीहि समास के अन्य उदाहरण—

प्रवाक्=प्रवृत्तवाक्, **प्रवृत्ता वाग् अस्य,** प्रवाह-युक्त वाणी है जिसकी । **निष्प्रवाणिः पटः, निष्क्रान्ता प्रवाणी=तन्तुवाय-शलाकाऽस्मात्,** समाप्तवानः, जिससे प्रवाणी (ढरकी) अभी-अभी निकली है, अर्थात् जिसकी बुनत समाप्त हो गई है, अर्थात् नया । **उज्ज्यं अध्यारोपिता ज्या यद्** (द्वितीया) **धनुः= अधिज्यम्,** जिस पर चिल्ला चढ़ा दिया गया ।……**प्रत्युवाच ह** । **पर्यश्रुनयनो दुःखाद् वाचा संसज्जमानया** (रा० २।६०।१४) ॥ **परिस्रुतानि अश्रूणि याभ्यां** (**नयनाभ्याम्**) **ते नयने पर्यश्रुणी** । **पर्यश्रुणी नयने यस्य स पर्यश्रुनयनः** । **विहस्तः=विक्षिप्तो हस्तोऽस्य** । **विहस्तव्याकुलौ समौ** (अमर) । **समग्रः समन्तो भूयासम्** (अथर्व० ७।८१।४) । **संगतमग्रम् अस्येति समग्रः** । **संगतो-**

१. सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तर-पद-लोपश्च वक्तव्यः (वा०) ।

२. प्रादिभ्यो धातुजस्योत्तर-पदस्य लोपश्च वा बहुव्रीहिर्वक्तव्यः (वा०) ।

ऽन्तोऽस्येति **समन्तः** । मैं आदि और अन्तवाला अर्थात् सर्वथा सम्पूर्ण होऊँ । **अविद्यमानः पुत्रोऽस्य = अविद्यमानपुत्रः, अपुत्रः** । यहाँ नञ् से परे जो उत्तरपद 'विद्यमान' उसका विकल्प से लोप होता है ।[1] **अस्तिक्षीरा** गौः—यहाँ 'अस्ति' निपात है । अर्थ है—विद्यमान ।

उच्चैर्मुखः, नीचैर्मुखः—उच्चैर्मुखम् अस्य नीचैर्मुखमस्य । (जिसका मुँह नीचे की ओर है । यहाँ अव्ययों उच्चैस्, नीचैस् का समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है । **उच्चैर्मुखः** (ऊँचा मुख किए हुए) ।

संख्येय-परक जो संख्या उसके साथ अव्यय, आसन्न, अदूर, अधिक, संख्या—यह समस्त होते हैं और वह बहुव्रीहि समास होता है[2]—अव्यय—**उपदशाः । दशानां समीपे ये वर्तन्ते ते उपदशाः**, लगभग दस । यहाँ डच् समासान्त होने से टिलोप होकर रूपसिद्धि हुई है । **उपविंशाः विंशतेः समीपे ये वर्तन्ते ते उपविंशाः**, लगभग बीस । यहाँ भी डच् समासान्त होने से विंशति के 'ति' का लोप हो जाता है । **उपबहवः—बहूनां समीपे ये वर्तन्ते ते उपबहवः** । बहुशब्द की शास्त्र में संख्या संज्ञा की है । **मासैः परिचतुर्दशैः** (भा० सभा० ३।३७) । **चतुर्दशभ्योऽधिकैः** । **इन्द्रसेनादिभिर्भृत्यै रथैः परिचतुर्दशैः** (भा० वन० ६३।२८) । **क्वचित् परिदशान् मासान् एकसंवत्सरं क्वचित्** (रा० ३।११।२४) । **दशभ्योऽधिकान् = परिदशान्** । आसन्न—**आसन्नदशाः । आसन्नविंशाः । आसन्ना विंशतेः । अदूरदशाः । अदूरा दशानाम् । अधिकविंशाः** । संख्या—**द्वित्राः = द्वौ वा त्रयो वा । पञ्चषाः = पञ्च वा षड् वा । एको वा द्वौ वा = एकद्वाः**—इनमें भी डच् समासान्त होकर टि का लोप हुआ । यहाँ वार्थ (वा का अर्थ = विकल्प या संशय) ही अन्यपदार्थ है । **त्रिदशाः—त्रिर् (आवृत्ता) दश** । समास द्वारा सुच् का अर्थ (क्रियाऽभ्यावृत्ति) कहे जाने से सुच् का प्रयोग नहीं हुआ । सुजभावोऽभिहितार्थत्वात्समासे (वा० २।२।२५) । सुजर्थ ही यहाँ अन्यपदार्थ है ।

दिशाओं के नामों का बहुव्रीहि समास होता है जब समासार्थ अन्तराल (दो दिशाओं का मध्यभाग) हो[3]—**पूर्वस्या उत्तरस्याश्चान्तरालं दिक् = पूर्वो-**

---

१. नञोऽस्त्यर्थानां बहुव्रीहिर्वा चोत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः (वा०) ।

२. संख्ययाऽव्ययाऽऽसन्नाऽदूराऽधिक-संख्याः सङ्ख्येये (२।२।२५) ।

३. दिङ्नामान्यन्तराले (२।२।२६) ।

त्तरा । दक्षिणस्याः पूर्वस्याश्चान्तरालं दिक्=दक्षिणपूर्वा । यहाँ पूर्वपद पूर्वा, दक्षिणा को पुंवद्भाव (पुंरूप) हो जाता है ।

ग्रहणार्थक (गृह्यतेऽस्मिन्निति ग्रहणं केशादि, अधिकरणे ल्युट्) सप्तम्यन्त समानरूप दो पदों का, तथा प्रहरणार्थक (प्रह्रियतेऽनेनेति प्रहरणं दण्डादि, करणे ल्युट्) तृतीयान्त समानरूप दो पदों का 'यह युद्ध प्रवृत्त हुआ' इस अर्थ में समास होता है । जब कर्मव्यतिहार (परस्परकरण) अर्थ द्योत्य हो और वह बहुव्रीहि समास होता है ।[1] इस कर्मव्यतिहारद्योतक समास से इच् (इ) समासान्त होता है और वह अव्यय होता है । बहुव्रीहि होने पर भी यह समास अव्यय होता है । अतः इससे परे सुप् का लुक् होता है । **केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तं केशाकेशि** (एक-दूसरे के केशों को पकड़कर यह युद्ध हुआ) । **कचाकचि । दण्डैर्दण्डैः प्रहृत्य इदं युद्धं प्रवृत्तं दण्डादण्डि** (डंडों से एक-दूसरे पर प्रहार करके) । **मुसलामुसलि । बाहुभिर्बाहुभिः प्रहृत्य इदं युद्धं प्रवृत्तं बाहूबाहवि ।** इन सब उदाहरणों में पूर्वपद को दीर्घ होता है । **'बाहूबाहवि'** में इच् परे होने पर अंग की भ-संज्ञा होने से गुण[2]—(ओ) होकर अवादेश हो जाता है । सूत्र में इतिकरण (इति जो पढ़ा है) से लौकिक अर्थ का अनुसरण होता है जिससे ग्रहण, प्रहरण, कर्मव्यतिहार, युद्ध—यह सब समास का वाच्यार्थ है । अतः याज्ञवल्क्यस्मृति (२।२८३) के श्लोक **पुमान् सङ्ग्रहणे ग्राह्यः केशाकेशि परस्त्रियाः** में जो दूसरे की स्त्री के साथ एक-दूसरे के केश पकड़कर खेलने को **'केशाकेशि संग्रहण'** कहा है वह अर्थ पाणिनीय लोगों को अभिमत नहीं ।

सह शब्द जब तुल्ययोग (=क्रिया में एक जैसा सम्बन्ध) का वाचक हो तो तृतीयान्त के साथ समस्त होता है और वह बहुव्रीहि समास होता है[3]—**पुत्त्रेण सहागतः पिता=सपुत्त्रः सहपुत्त्रो वाऽऽगतः पिता ।** बहुव्रीहि समास में पूर्वपद सह को 'स' आदेश विकल्प से हो जाता है ।[4] तुल्ययोग न होने पर जब सह शब्द का 'विद्यमान' अर्थ हो तो समास नहीं होगा—**सहैव दशभिः पुत्त्रैर्भारं वहति गर्दभी** (गधी दस पुत्रों के होते हुए भार ढोती है) । यहाँ वहन

---

१. तत्र तेनेदमिति सरूपे (२।२।२७) ।
२. ओर्गुणः (६।४।१४६) ।
३. तेन सहेति तुल्ययोगे (२।२।२८) ।
४. वोपसर्जनस्य (६।३।८२) ।

क्रिया में पुत्रों का अन्वय नहीं है। पर तुल्ययोग के न होने पर कहीं-कहीं शिष्ट प्रयोगों में सह का उक्त समास देखा जाता है—**सकर्मकः** (=विद्यमान कर्मा), **सलोमकः=लोमभिः सह वर्तमानः** (रोमों वाला),**सपक्षकः** (पक्ष वाला, पंखों वाला)—यहाँ सह शब्द का विद्यमान अर्थ है, तुल्ययोग नहीं, तो भी समास होता है।

सह शब्द को नित्य 'स' होता है यदि पूर्वपद (सह) और उत्तरपद मिल-कर किसी पदार्थ विशेष का नाम हो—**सेना=सह इनेन स्वामिना वर्तमाना।**

जब आशीर्वाद वाक्यार्थ हो तो 'सह' को 'स' नहीं होता। गो, वत्स, हल—इनसे पूर्व सह शब्द को होता ही है[1]—**स्वस्ति तेऽस्तु सहपुत्राय। स्वस्ति तेऽस्तु सगवे सवत्साय सहलाय कृषकाय।**

पुंवद्भाव

प्रवृत्तिनिमित्त के एक होने पर जो भाषितपुंस्क हो अर्थात् जिसका पुंल्लिङ्ग में भी प्रयोग हो ऐसे स्त्रीलिङ्ग शब्द को उसी का पुंवद्भाव (पुंरूप) हो जाता है समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग शब्द परे होने पर, पर यह पुंवद्भाव पूरण प्रत्ययान्त स्त्रीलिंग शब्द परे होने पर तथा प्रिया आदि शब्द परे होने पर नहीं होता। जब पूर्वपद स्त्री प्रत्यय जो ऊङ्, तदन्त हो, तब भी यह पुंवद्भाव नहीं होता[2]—**चित्रा गावोऽस्य चित्रगुः।** यहाँ समानाधिकरण स्त्री-लिंग गो शब्द परे होने पर पूर्वपद 'चित्रा' को पुंवद्भाव हुआ है। उपसर्जन होने से गो को ह्रस्व 'गु' हुआ है। **रूपवती भार्या यस्य स रूपवद्भार्यः।** यहाँ रूपवती पूर्वपद को पुंवद्भाव हुआ है, अर्थात् उसी का पुंरूप आदेश हुआ है। उपसर्जन होने से 'भार्या' को ह्रस्व हुआ है। भाषित-पुंस्क न होने से **गङ्गा-भार्यः**, यहाँ गंगा शब्द को पुंवद्भाव नहीं हुआ। ऊङ् प्रत्ययान्त होने से **'वामोरूभार्यः'** यहाँ 'वामोरू' को पुंवद्भाव 'वामोरु' नहीं हुआ। उत्तरपद के स्त्रीलिंग न होने से **कल्याणी प्रधानं यस्य स कल्याणीप्रधानः।** यहाँ कल्याणी को पुंवद्भाव 'कल्याण' नहीं हुआ। पूरण प्रत्ययान्त स्त्रीलिंग शब्द उत्तरपद

---

१. प्रकृत्याशिषि (६।३।८३)। अगो-वत्स-हलेष्विति वक्तव्यम् (वा०)।

२. स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रिया-दिषु (६।३।३४)।

होने से **कल्याणी पञ्चमी आसां रात्रीणां कल्याणीपञ्चमा रात्रयः**—यहाँ पूर्व-पद को पुंवद्भाव नहीं हुआ। यहाँ पञ्चमी शब्द से 'अप्' समासान्त होकर भसंज्ञक पञ्चमी के ईकार का लोप होने से कल्याणीपञ्चमा यह रूप निष्पन्न हुआ है। **कल्याणी प्रिया यस्य स कल्याणीप्रियः**। यहाँ भी प्रिया शब्द उत्तरपद होने से पूर्वपद को पुंवद्भाव नहीं हुआ।

पर संज्ञावाचक तथा पूरणप्रत्ययान्त स्त्रीलिंग पूर्वपद को पुंवद्भाव नहीं होता[1]—**दत्ता नाम भार्या। साऽस्यास्ति इति दत्ताभार्यः। पञ्चमी भार्याऽस्येति पञ्चमीभार्यः।**

जिस तद्धित में वृद्धि का निमित्त (ञित्, णित्, कित्) हो और जो 'रक्त' (रंगा हुआ) तथा विकार अर्थ में विहित न हो, तदन्त स्त्रीलिंग शब्द को पुंवद्भाव नहीं होता[2]—**मथुरायां भवा= माथुरी। स्रुघ्ने भवा=स्रौघ्नी। माथुरी भार्याऽस्येति माथुरीभार्यः। स्रौघ्नीभार्यः। तामसी वृत्तिरस्येति तामसीवृत्तिः** (पुरुषः)। 'रक्त' अर्थ में तद्धित होने पर तो पुंवद्भाव होगा—**कषायेण रक्ता=काषायी बृहतिका यस्य स काषायबृहतिकः** (जिसकी चादर लाल रंग में रंगी हुई है)। ऐसे ही विकारार्थक तद्धित होने पर भी पुंवद्भाव निर्बाध होगा—**लोहस्य विकारो लौही। लौही ईषा** (=लाङ्गलदण्डः= हलका डंडा) **यस्य स लौहेषः। वैयाकरणी भार्याऽस्येति वैयाकरणभार्यः।** यहाँ अण् में वृद्धि का निमित्त होने पर 'य्वाभ्याम्—' से वृद्धि का निषेध हो जाने से वृद्धि-निमित्तत्व का विघात हो जाने से पुंवद्भाव नहीं रुका।

स्वाङ्गवाची से जो स्त्री प्रत्यय ई, तदन्त को पुंवद्भाव नहीं होता[3]—**शोभनाः केशा यस्याः सा सुकेशी। दीर्घाः केशा यस्याः सा दीर्घकेशी। सुकेशी-भार्या यस्य स सुकेशीभार्यः। दीर्घकेशीभार्यः।**

जातिवाचक स्त्रीलिंग पूर्वपद को पुंवद्भाव नहीं होता[4]—**ब्राह्मणीभार्यः। राक्षसीभार्यः। कठीभार्यः। बह्वृचीभार्यः। गार्गीभार्यः।** शास्त्र में वेद शाखा-

१. संज्ञापूरण्योश्च (६।३।३८)।
२. वृद्धि-निमित्तस्य च तद्धितस्याऽरक्तविकारे (६।३।३९)।
३. स्वाङ्गाच्चेतोऽमानिनि (६।३।४०)।
४. जातेश्च (६।३।४१)।

ध्येतृ वाचक पद तथा गोत्रप्रत्ययान्त पद जातिवाचक माने जाते हैं। **कठेन प्रोक्तमधीते कठी । गर्गस्य गोत्रापत्यं स्त्री गार्गी ।**

कोई भी समास हो पूर्वपद सर्वनाम को पुंवद्भाव हो जाता है—**अन्यस्यां मनोऽस्य = अन्यमनाः** (व्यधिकरण बहु०)। **प्राच्यवाची प्रतीच्यस्ताः पूर्वदक्षिण-पश्चिमाः** (अमर)। **पूर्वा च दक्षिणा च = पूर्वदक्षिणे**। यहाँ पूर्वपद 'पूर्वा' को पुंवद्भाव हुआ। **पूर्वदक्षिणे च पश्चिमा च = पूर्वदक्षिणपश्चिमाः**। यहाँ पूर्व-पद 'पूर्वदक्षिणा' को पुंवद्भाव हुआ है। **सर्वासां धनं सर्वधनम्। अन्यस्याः तनयः = अन्यतनयः। तस्या मुखं तन्मुखम्। न मानिनी संसहतेऽन्यसंगमम्** (अन्यया संगमम्)। **स्वर्गं प्रयाति च ततो भवतीप्रसादाल्लोकत्रयेऽपि फलदा ननु देवि तेन** (देवीमाहात्म्य)। यहाँ भवतीप्रसादात् में 'भवती' को पुंवद्भाव 'भवत्' न होना दोष है। इसी प्रकार वेणीसंहार के **एकोऽहं भवतीसुतक्षयकरो मातः कियन्तोऽरयः** (५।६) इस वचन में भवतीसुत प्रयोग भी प्रामादिक है।

बहुव्रीहि विषयक समासान्त

संख्येय (जिसकी गिनती करनी है) अन्यपदार्थ में जो बहुव्रीहि उससे परे डच् समासान्त होता है, पर बहु, गण इनके उत्तरपद होने पर नहीं होता[1]—**उपदशाः। उपविंशाः। द्वित्राः**। पर **उपबहवः, उपगणाः** यहाँ नहीं होता।

त्रिचतुराः (त्रयो वा चत्वारो वा। यहाँ वार्थ वा का अर्थ = विकल्प या संशय) ही अन्यपदार्थ है। **उपचतुराः** (चतुर्णां समीपे)—यहाँ अच् समासान्त होता है।[2] अचतुर, विचतुर, सुचतुर—ये अच् प्रत्ययान्त बहुव्रीहि निपातित किये हैं। **अविद्यमानानि चत्वारि यस्य सोऽचतुरः** (जिसके पास चार चीजें नहीं हैं)। **विगतानि चत्वारि यस्य स विचतुरः। शोभनानि चत्वारि यस्य स सुचतुरः।**

स्वाङ्गवाची जो सक्थि व अक्षि शब्द हैं तदन्त बहुव्रीहि से षच् (= अ) समासान्त होता है[3]—**दीर्घे सक्थिनी यस्य स दीर्घसक्थः। लोहिते अक्षिणी**

---

१. बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात् (५।४।७३)।
२. त्र्युपाभ्यां चतुरोऽजिष्यते (वा०)।
३. बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच् (५।४।११३)।

यस्य स लोहिताक्षः। यदि ये स्वाङ्गवाची न हों तो यह समासान्त नहीं होता। **दीर्घसक्थि शकटम्। स्थूलाक्ष इक्षुः। स्थूलाक्षा वेणुयष्टिः।** यहाँ अक्षि शब्द के चक्षुवाची न होने से अक्ष्णोऽदर्शनात् (५।४।७६) से अच् समासान्त होता है। जिससे स्त्रीलिंग में टाप् हुआ है, ङीष् नहीं। षच् के षित् होने से ङीष् होता है। काशिका का **स्थूलाक्षिर् इक्षुः**—यह प्रत्युदाहरण ठीक नहीं। षच् के अभाव में अच् अवश्य होगा।

अङ्गुलि अन्त बहुव्रीहि से षच् (अ) समासान्त होता है जब दारु (काष्ठ) अभिधेय हो[1]—**पञ्च अङ्गुलयो यस्य तत् पञ्चाङ्गुलं दारु।** अङ्गुलि सदृश अवयव वाले धान्य विक्षेप के काष्ठमय साधन का नाम है।

द्वि, त्रि से परे मूर्धन् उत्तरपद होने पर बहुव्रीहि से 'ष' समासान्त होता है[2]—**द्वौ मूर्धानौ यस्य स द्विमूर्धः। त्रयो मूर्धानो यस्य स त्रिमूर्धः।** षच् प्रकृत होने पर भी ष का विधान स्वर के लिए किया है। **त्रयश्च दूषण-खर-त्रिमूर्धानो रणे हताः** (उत्तररामचरित)। यहाँ समासान्त शास्त्र के अनित्य होने से समासान्त नहीं हुआ।

पूरण प्रत्ययान्त स्त्रीलिंग तथा प्रमाणी के उत्तरपद होने पर बहुव्रीहि समास से अप् समासान्त होता है[3]—**कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणां ताः कल्याण-पञ्चमा रात्रयः। स्त्री प्रमाणी येषां कुटुम्बिनां ते स्त्रीप्रमाणाः कुटुम्बिनः**, वे गृहस्थ जिन्हें स्त्रीवचन प्रमाण है। प्रधान पूरण प्रत्ययान्त से ही यह अच् समासान्त होता है—**कल्याणपञ्चमीकः पक्षः**, यहाँ नहीं होता।

अन्तर्, बहिस्—इन पूर्वपदों से परे लोमन् उत्तरपद होने पर बहुव्रीहि समास से अप्(=अ)समासान्त होता है[4]—**अन्तर्गतानि लोमानि अस्य अन्तर्लोमः प्रावारः**, जिस चादर के रोम अन्दर की ओर हैं। **बहिर्लोमः पटः।**

मृगो नक्षत्रं नेताऽऽसां रात्रीणां मृगनेत्रा रात्रयः। पुष्यो नक्षत्रं नेताऽऽसां रात्रीणां पुष्यनेत्रा रात्रयः। यहाँ कप् का अपवाद अप् होता है।[5] **प्रायेण**

---

१. अङ्गुलेर्दारुणि (५।४।११४)।
२. द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः (५।४।११५)।
३. अप् पूरणीप्रमाण्योः (५।४।११६)।
४. अन्तर्बहिर्भ्यां च लोम्नः (५।४।११७)।
५. नेतुर्नक्षत्र उपसंख्यानम् (वा०)।

गृहिणीनेत्राः कन्यार्थेषु कुटुम्बिनः—यहाँ नेत्र उत्तरपद है, समासान्त कोई नहीं।

पञ्चको मासोऽस्य कर्मकरस्य=पञ्चकमासिकः (पाँच मुद्रा मासिक वेतन है जिसका) **कर्मकरः** (नौकर)। यहाँ ठच् समासान्त होता है।[1]

नासिका शब्दान्त बहुव्रीहि से अच् समासान्त होता है संज्ञा में, साथ ही नासिका के स्थान में नस् आदेश हो जाता है यदि 'स्थूल' पूर्वपद नहीं[2]—**वार्ध्रीणसः** (गेण्डा)। **गोनसः**(सर्पविशेष)। **कुम्भी इव नासिकाऽस्य=कुम्भीनसः**, साँप। **विगता नासिकाऽस्य विग्रः** (नाक-कटा)। 'वि' से परे नासिका को 'ग्र' आदेश होता है। **विग्रो न गन्धं जिघ्रति** (नागार्जुनकृत द्वादशमुख, विश्वभारती पृ० १९२, सम्पुट ६)।

उपसर्ग से परे जो नासिका शब्द, तदन्त बहुव्रीहि से अच् समासान्त होता है और साथ ही नासिका को नस् आदेश हो जाता है[3]—**उद्गता नासिकाऽस्य उन्नसः। प्रगता नासिकाऽस्य प्रणसः।**

सुप्रात, सुश्व, सुदिव, शारिकुक्ष, चतुरश्र, एणीपद, अजपद, प्रोष्ठपद—ये अच्प्रत्ययान्त बहुव्रीहि समास साधु हैं।[4] **शोभनं प्रातर् अस्य सुप्रातः** (प्रातः कर्म जिसका शुभ है)। **शोभनं श्वोऽस्य सुश्वः। शोभनं दिवाऽस्य सुदिवः। शारेर् इव कुक्षिरस्य शारिकुक्षः। चतस्रोऽश्रयः प्रान्ता अस्य चतुरश्रः।** (चतुष्कोणः)। **एण्या इव पादाव् अस्य एणीपदः। अजस्येव पादाव् अस्य अजपदः। प्रोष्ठो गौस्तस्येव पादाव् अस्य प्रोष्ठपदः।**

नञ्, दुस्, सु परे जो हलि और सक्थि उत्तरपद, तदन्त बहुव्रीहि से विकल्प से अच् समासान्त होता है[5]—**अविद्यमाना हलिर् अस्य=अहलः। अहलिः।** बड़े हल को हलि कहते हैं। **दुर्हलः, दुर्हलिः। सुहलः, सुहलिः। असक्थः, असक्थिः। दुःसक्थः, दुःसक्थिः। सुसक्थः, सुसक्थिः।**

---

१. मासाद् भृतिप्रत्ययपूर्वाट् ठज्विधिः (वा०)।

२. अञ् नासिकायाः संज्ञायां नसं चास्थूलात् (५।४।११८)।

३. उपसर्गाच्च (५।४।११९)।

४. सुप्रात-सुश्व-सुदिव-शारिकुक्ष-चतुरश्रैणीपदाजपद-प्रोष्ठपदाः (५।४।१२०)।

५. नञ्दुःसुभ्यो हलिसक्थ्योरन्यतरस्याम् (५।४।१२१)। यहाँ कुछ लोग 'हलिशक्त्योर्' ऐसा पढ़ते हैं और कुछ दूसरे 'हलिशुक्त्योर्' ऐसा। वहाँ शुक्ति का अर्थ अस्थि है।

नञ्, दुस्, सु—इनसे परे प्रजा, मेधा उत्तरपद होने पर बहुव्रीहि समास से असिच् (अस्) समासान्त होता है[1]—**अप्रजाः** (अविद्यमाना प्रजाऽस्य)। **दुष्प्रजाः** (दुष्टा प्रजाऽस्य)। **सुप्रजाः** (शोभना प्रजाऽस्य)। **शोभना मेधाऽस्य सुमेधाः। माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादं च सुमेधसः। समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते॥** (मम्मट)

अमेधाः, दुर्मेधाः, सुमेधाः अप्रजस् आदि सब असन्त प्रातिपदिक बन जाते हैं और इनके चन्द्रमस् की तरह रूप चलते हैं। शिष्ट लोग **अल्पमेधस्** का भी प्रयोग करते हैं, सो वह सूत्र में न कहा हुआ भी प्रमाण है। भारत में प्रयोग भी काशिकाकार ने दिखाया है—

श्रोत्रियस्येव ते राजन्मन्दकस्याल्पमेधसः।
अनुवाकहता बुद्धिर्नैषा तत्त्वार्थदर्शिनी॥ (वन० ३५।१९)

वहाँ आजकल '**मन्दकस्याविपश्चितः**' ऐसा पाठ उपलब्ध होता है।

केवल (एकमात्र, समस्त अथवा असमस्त) पूर्वपद से परे जो धर्म शब्द तदन्त बहुव्रीहि से अनिच् (अन्) समासान्त होता है[2]—**प्रियो धर्मो यस्य स प्रियधर्मा। कल्याणधर्मा। साक्षात्कृतधर्मा। साक्षात् कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। अनुच्छित्तिधर्मा वा अरेऽयमात्मा** (सौम्य, यह आत्मा अविनाशशील है)। **निवृत्तिधर्मा स्थानी भवति** (स्थानी का स्वभाव ऐसा है कि वह (आदेश द्वारा) निवृत्त हो जाता है)। पर त्रिपद बहुव्रीहि **परमः स्वो धर्मो यस्य स परमस्वधर्मः**। यहाँ अनिच् नहीं हुआ,कारण कि स्वः केवल पूर्वपद नहीं परमः' की अपेक्षा मध्यम है। **अश्व-सधर्माणो हि मनुष्याः कर्मसु नियुक्ता विकुर्वते** (कौट० २।९।२७)। **समानो धर्म एषां ते सधर्माणः। मनुष्यस्येव धर्मोऽस्य मनुष्यधर्मा कुबेरः।** मनुष्यधर्म=मूँछ दाढ़ी वाला होना इत्यादि।

'**दक्षिणेर्मा**' यह अनिच्प्रत्ययान्त निपातन किया गया है जब व्याध के सम्बन्ध से मृगादि के दक्षिण भाग में ईर्म(नपुं०)घाव हो गया हो।[3] **दक्षिणे ईर्मं यस्य**—ऐसा विग्रह है। **बाली हेमाब्जमाली गुणनिधिरिषुणा निर्मितो**

---

१. नित्यमसिच् प्रजामेधयोः (५।४।१२२)।
२. धर्मादनिच् केवलात् (५।४।१२४)।
३. दक्षिणेर्मा लुब्ध-योगे (५।४।१२६)।

दक्षिणेर्मा। यह किसी कवि का औपचारिक प्रयोग है ऐसा मानने पर भी कष्ट-समाधेय है।

कर्मव्यतिहार (आपस में एकसा व्यवहार करना) अर्थ में जो बहुव्रीहि उससे इच् समासान्त होता है[1]—केशाकेशि इदं युद्धं प्रवृत्तम् **केशाश्यभवद् युद्धं रक्षसां वानरैः सह** (भा० ३।१६३५९)।

प्र, सम्—इनसे परे जो जानु शब्द उसे बहुव्रीहि समास में 'ज्ञु' आदेश होता है[2]—**प्रगते (प्रकृष्टे) जानुनी यस्य स प्रज्ञुः। संगते जानुनी यस्य सः संज्ञुः।** 'ऊर्ध्व' से परे यह आदेश विकल्प से होता है—**ऊर्ध्वज्ञुः, ऊर्ध्वजानुः।**

ऊधस् अन्त वाले बहुव्रीहि समास के अन्त के स्थान में अनङ् (**अन्**) आदेश होता है[3]—**कुण्डमिव ऊधोऽस्याः कुण्डोध्नी गौः। घटोध्नी।** स्त्रीत्वविवक्षा में ङीष् प्रत्यय होता है। स्त्रीत्व विवक्षा में ही अनङ् आदेश होता है[4], अतः **महोधाः पर्जन्यः। महोधो धैनुकम्** (धेनुसमूह महान् ऊधस् वाला है)।

धनुष् अन्त बहुव्रीहि के अन्त को अनङ् (**अन्**) आदेश होता है[5]—**गाण्डीवधन्वा=गाण्डीवं धनुरस्य। अधिज्यधन्वा=अधिज्यं धनुरस्य।** पर यदि समस्तपद संज्ञा हो तो यह आदेश विकल्प से होता है[6]—**शतधन्वा, शतधनुः**, एक राजा का नाम। **पुष्पधन्वा, पुष्पधनुः** (कामदेव)।

जाया शब्दान्त बहुव्रीहि के अन्त को निङ् (नि) आदेश होता है[7]—**जानकी-जानिः** (राम)। **जानकी जाया यस्य**। 'आ' के स्थान में नि होने पर 'य' का लोप होता है। **युवजानिः=युवतिर्जाया यस्य**। यहाँ पुंवद्भाव भी हुआ है। **सजानिः=जायया सह वर्तमानः**। **विजानिर्ब्राह्मणः** (अथर्व० (५।९।१८)। **विनष्टा जाया यस्य। प्रमीतपत्नीकः** इत्यर्थः, जिसकी पत्नी का देहान्त हो गया है।

---

१. इच् कर्मव्यतिहारे (५।४।१२७)।
२. प्रसंभ्यां जानुनोर्ज्ञुः (५।४।१२९)।
३. ऊधसोऽनङ् (५।४।१३१)।
४. ऊधसोऽनङि स्त्रीग्रहणं कर्तव्यम् (५।४।१३१ वा०)।
५. धनुषश्च (५।४।१३२)।
६. वा संज्ञायाम् (५।४।१३३)।
७. जायया निङ् (५।४।१३४)। ङित् होने से यह आदेश अन्त (जाया के आ) को होता है।

उद्, पूति, सु, सुरभि से परे गन्ध शब्द को इकार अन्तादेश होता है बहुव्रीहि समास में[1]—**उद्गतो गन्धोऽस्य उद्गन्धिः । पूतिगन्धिः । पूतिर्गन्धोऽस्य । सुगन्धिः । सुरभिगन्धिः ।** गन्ध को यह अन्तादेश तभी होता है जब गन्ध अन्य पदार्थ का एकदेश हो, अर्थात् उससे जुदा न दीखता हो । **सुगन्धि पुष्पम् । सुगन्धि सलिलम् । सुगन्धिर्वायुः ।** पर **सुगन्ध आपणः** (गन्ध द्रव्यों से युक्त हाट) । यहाँ सुगन्ध हाट से जुदा है । हाट का एकदेश सा नहीं । पुष्प में गन्ध उसका अपना धर्म है, गुण है । जल का धर्म नहीं, पर ऐसे मिलजुल गया है मानो उसका भाग बन गया है । ऐसे ही वायु के विषय में जानो ।

अल्पार्थक गन्ध शब्द को इकार अन्तादेश होता है बहुव्रीहि समास में[2]—**घृतगन्धि भोजनम् । घृतम् अल्पम् अस्मिन् भोजने । क्षीरगन्धि । क्षीरमल्पं यस्मिन् क्षीरगन्धि भोजनम् ।** ऐसा अर्थ है । विग्रह तो इस प्रकार होगा—**घृतस्य गन्धो लेशो यस्मिन् । क्षीरस्य गन्धो लेशो यस्मिंस्तत् । पद्यगन्धि गद्यम् पद्यस्य गन्धो लेशो यस्मिंस्तत् ।** ऐसा गद्य जिसमें थोड़ा सा पद्य है ।

उपमान से परे जो गन्ध शब्द, उसको इकार अन्तादेश होता है बहुव्रीहि समास में[3]—**पद्मगन्धि कुसुमम् । पद्मस्येव गन्धोऽस्य ।**

उपमानवाची से परे जो पाद शब्द उसको लोप रूप अन्तादेश होता है, पर यह अन्तादेश हस्तिन् आदि शब्दों से परे पाद शब्द हो तो नहीं होता ।[4] **व्याघ्रस्येव पादाव् अस्य व्याघ्रपात् । सिंहपात् ।** पर **हस्तिपादः (हस्तिन इव पादाव् अस्य) । महिलाया इव पादाव् अस्य महिलापदः** (स्त्री के से पाओं वाला पुरुष) ।

कुम्भपदी आदि शब्दों की सिद्धि के लिये भी पाद के अन्त 'अ' का लोप होता है ।[5] **कुम्भस्येव पादाव् अस्या इति कुम्भपदी ।** यहाँ नित्य ही स्त्री-प्रत्यय ङीप् होता है और उसके परे रहते पात् को पद् आदेश हो जाता है ।

---

१. गन्धस्येदुत्पूति-सु-सुरभिभ्यः (५।५।१३५) । गन्धस्येत्त्वे तदेकान्तग्रहणम् (वा०) ।

२. अल्पाख्यायाम् (५।४।१३६) ।

३. उपमानाच्च (५।४।१३७) ।

४. पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः (५।४।१३८) ।

५. कुम्भपदीषु च (५।४।१३९) ।

जालपदी । शतपदी । शतं पादा यस्याः सा । अष्टापदी । एकपदी (एकः पादोऽस्याम्), पाददण्डक, पगडंडी ।

संख्या सु पूर्वपद से परे पाद को लोपरूप अन्तादेश होता है[1]—**शोभनौ** पादाव् **अस्य सुपात् । द्विपात् । त्रिपात् ।**

संख्यापूर्वक तथा सुपूर्वक दन्त शब्द को दतृ (दत्) आदेश-रूप समासान्त होता है बहुव्रीहि समास में वय की प्रतीति होने पर[2]—**द्वौ दन्तावस्य वत्सस्य द्विदन् । त्रयो दन्ता अस्य वत्सस्य त्रिदन् । शोभना दन्ता अस्य समस्ता जाता इति सुदन्** कुमारः । **सुदती कुमारी । उमेति मात्रा तपसो निषिद्धा पश्चादु-माख्यां सुदती जगाम** (कुमारसंभव) जो सुन्दर दान्तों वाली बच्ची 'उ (अरी) मा (न)' इस प्रकार तपश्चर्या से माँ द्वारा रोकी गई वह पीछे उमा नाम को प्राप्त हुई ।

यदि वय की प्रतीति न हो तो यह आदेश नहीं होता—**द्विदन्तः कुञ्जरः । एकदन्तो गणेशः । सुदन्तोऽयं युवा ।**

श्याव व अरोक से परे दन्त को दतृ आदेश हो जाता है विकल्प से[3]—**श्यावदन्, श्यावदन्तः** । श्याव=कपिश । **अरोकदन्, अरोकदन्तः । अरोका निर्दीप्तयो दन्ता यस्य ।**

अग्रान्त पूर्वपद तथा शुद्ध, शुभ्र, वृष, वराह—इनसे परे दन्त को दतृ आदेश विकल्प से होता है[4]—**कुड्मलाग्रदन्तः, कुड्मलाग्रदन् । वासः स्थितायाः शिखराग्रदन्त्या** (रा० ५।२९।५)। सूत्र में अपठित मूषिक, गर्दभ, शिखर आदि से भी परे दन्त को यह आदेश विकल्प से होता है—**मूषिकदन् । गर्दभदन् । शिखरदन् । मूषिकदन्तः । शिखरदन्तः ।**

ककुद उत्तरपद के अन्त को लोपरूप समासान्त होता है अवस्था की प्रतीति होने पर बहुव्रीहि में[5]—**असञ्जातं ककुदम् अस्य असञ्जातककुत्**

---

१. संख्यासुपूर्वस्य (५।४।१४०) ।
२. वयसि दन्तस्य दतृ (५।४।१४) ।
३. विभाषा श्यावाऽरोकाभ्याम् (५।४।१४४) ।
४. अग्रान्त-शुद्ध-शुभ्र-वृष-वराहेभ्यश्च (५।४।१५४) ।
५. ककुदस्याऽवस्थायां लोपः (५।४।१४६) ।

(वृष) **गौः**, बैल जिसका कुहान नहीं उत्पन्न हुआ, अर्थात् जो अभी बच्चा है। **पूर्णककुत्**, जिसका कुहान पूरी तरह बन चुका है, जो मंझली अवस्था का है। **उन्नतककुत्**, जिसका कुहान ऊँचा उठा हुआ है, अर्थात् जो वृद्ध है। **स्थूलककुत्**, मोटे कुहान वाला, अर्थात् जो बलवान् है। **यष्टिककुत्**, जो न तो बहुत मोटा है और न बहुत दुबला है।

पर्वत विशेष की संज्ञा भी **त्रिककुत्** है।[1] यहाँ ककुद का अर्थ ककुदाकार शिखर है।

उद्, वि से परे काकुद (नपुं० तालु) को लोपरूप अन्तादेश होता है बहुव्रीहि समास में[2]—**उद्गतं काकुदम् अस्य उत्काकुत्। विकृतं काकुदम् अस्य विकाकुत्।**

'पूर्ण' से परे यह आदेश विकल्प से होता है[3]—**पूर्णकाकुत्। पूर्णकाकुदः।**

मित्र और अमित्र (=शत्रु) अर्थ में **सुहृद्**, व **दुर्हृद्** निपातन किये गये हैं अर्थात् सु, दुर् से परे 'हृदय' को 'हृद्' आदेश निपातन किया है।[4] अन्यत्र यह आदेश नहीं होता—**सुहृदयो दयालुः। दुर्हृदयश्चोरः। दुर्हृदयः**=दूषित हृदयवाला।

उरस् आदि उत्तरपदों को कप् समासान्त होता है बहुव्रीहि समास में[5]—**व्यूढोरस्कः। व्यूढम्** (विस्तीर्णम्) **उरो यस्य सः। प्रियसर्पिष्कः। प्रियं सर्पिर् यस्य** (जिसे घी प्यारा है)। **अवमुक्तोपानत्कः। अवमुक्ते उपानहौ येन** (जिसने जूता उतारा हुआ है)। उपानह् स्त्रीलिंग है और नित्य द्विवचनान्त प्रयुक्त होता है। हाँ, जूती का एक पैर कहना हो तो एकवचनान्त प्रयोग में कुछ बाधा नहीं—पूर्वा उपानत्, जूती का दाहिना पैर। अपरा उपानत्, जूती का बायाँ पैर। **इह भारते वर्षे वार्धके पुत्रसङ्क्रान्तलक्ष्मीका राजानो वनिनो बभूवुः।** उरस् आदि गण में पुमान्, अनड्वान्, पयः, नौः, लक्ष्मीः—ये एक-

१. त्रिककुत्पर्वते (५।४।१४७)।
२. उद्विभ्यां काकुदस्य (५।४।१४८)।
३. पूर्णाद् विभाषा (५।४।१४९)।
४. सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः (५।४।१५०)।
५. उरःप्रभृतिभ्यः कप् (५।४।१५१)।

वचनान्त पढ़े हैं प्रातिपदिक के रूप में नहीं। अतः इनसे नित्य कप् तभी आता है जब ये एकवचनान्त हों अन्यथा वक्ष्यमाण नियम से विकल्प होता है—**द्विपुंस्कः, द्विपुमान्** । **पञ्चनौकः, पञ्चनौः** । **अकुशलक्ष्मीकः, अकुशलक्ष्मीः** । **अकुशा लक्ष्म्यो यस्य सः** ।

नञ् से परे 'अर्थ' उत्तरपद को कप् समासान्त होता है[1]—**अविद्यमानोऽर्थोऽस्य अनर्थकं वचः** । नञ् न होगा तो यह समासान्त नित्य नहीं होगा किन्तु वक्ष्यमाण नियम से विकल्प होगा—**अपार्थम्,अपार्थकम्** । **अपार्थोऽयं वादः**।

इन्नन्त बहुव्रीहि से कप् समासान्त होता है जब समास स्त्रीत्व विशिष्ट अर्थ को कहता है[2]—**बहवो दण्डिनोऽस्यां शालायां बहुदण्डिका शाला** । **बहवः स्वामिनो यस्यां नगर्यां सा बहुस्वामिका नगरी** । **बहवो वाग्मिनो यस्यां सभायां सा बहु-वाग्मिका सभा** (सभा जिसमें अनेक वागीश्वर वक्ता हैं)। पर **बहुदण्डी, बहुदण्डिको ग्रामः**—यहाँ वक्ष्यमाण नियम से विकल्प से कप् होता है।

नदीसंज्ञक उत्तरपद तथा ह्रस्व ऋकारान्त उत्तरपद से कप् समासान्त होता है[3] । संज्ञाप्रकरण में कह आए हैं कि नित्य स्त्रीलिंग ईकारान्त व ऊकारान्त शब्दों की नदी संज्ञा है। **बह्व्यः कुमार्योऽस्मिन्देशे बहुकुमारीको देशः** । **अयज्ञो वा एष योऽपत्नीकः**(तै० ब्रा० २।२।२।६)। जो पत्नीरहित है वह यज्ञ नहीं कर सकता। **बहुनदीको देशः** । **बहु ब्रह्मबन्धूको देशः**। **बहवो ब्रह्मबन्ध्वोऽस्मिन्देशे** (जिस देश में ब्राह्मणधर्महीन बहुत सी ब्राह्मणियाँ हैं)। **बहुकर्तृकः कार्यकलापः (बहवः कर्तारोऽस्य)** । **नदीमातृको देशः, नद्यो मातरो यस्य** (जहाँ उपज नहरों के पानी से होती है)। **देवमातृको देशः** (जहाँ वर्षाजल से खेती होती है)। देव =मेघ। **विलोचने अधिश्रितश्रिणी** । **अधिश्रिता श्रीर्याभ्यां ते** । यहाँ 'श्री' शब्द के इयङ्-स्थान होने से उसकी नदी संज्ञा नहीं, अतः कप् की प्राप्ति नहीं। अन्यपदार्थ 'विलोचन' के नपुंसक होने से समास भी नपुंसक हुआ और नपुंसक होने से ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य (१।२।४७) से ह्रस्व हुआ। 'श्री' स्वभाव

१. अर्थान्नञः (वा०)।
२. इनः स्त्रियाम् (५।४।१५२)।
३. नद्यृतश्च (५।४।१५३)।

से स्त्रीलिंग है,स्त्रीप्रत्ययान्त नहीं, अतः स्त्रीप्रत्ययान्त उपसर्जन न होने से गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य (१।२।४८) से ह्रस्व नहीं हो सकता था।

जहाँ कोई अन्य समासान्त नहीं विधान किया उस बहुव्रीहि से कप् समासान्त विकल्प से होता है[1]—**महायशस्कः, महायशाः। अल्पवयस्कः, अल्पवयाः।** कप् परे होने पर आबन्त(=स्त्री प्रत्यय टाप् अन्त वाले)उत्तरपद को विकल्प से ह्रस्व होता है[2]—**बहुमालकः, बहुमालाकः। अल्पविद्यकः, अल्पविद्याकः। बहुसंख्यकः, बहुसंख्याकः।** कप् के अभाव में नित्य ह्रस्व—**बहुमालः। अल्पविद्यः। बहुसंख्यः।**

ईयस् प्रत्ययान्त उत्तरपद से परे कप् प्रत्यय नहीं आता[3]—**बहवः श्रेयांसोऽस्य बहुश्रेयान्। बह्व्यः श्रेयस्यो यस्य स बहुश्रेयसी।** यहाँ कप् भी नहीं होता और उपसर्जन स्त्रीप्रत्ययान्त श्रेयसी को ह्रस्व भी नहीं।[4]

वन्दित अर्थात् स्तुत, पूजित इस अर्थ में जो भ्रातृ शब्द, तदन्त बहुव्रीहि से कप् नहीं आता[5]—**शोभनो भ्राताऽस्य सुभ्राता।** जब **वन्दित** का अर्थ नमस्कृत हो तो कप् होता ही है—**वन्दितभ्रातृकः।**

स्वाङ्गवाची जो नाड़ी व तन्त्री शब्द उनसे परे कप्समासान्त नहीं होता[6]—**बहुनाडिः कायः। बहुतन्त्रीर्ग्रीवा।** तन्त्री शब्द स्वभाव से स्त्रीलिंग है। स्त्रीप्रत्ययान्त नहीं। अतः उपसर्जन स्त्रीप्रत्ययान्त न होने से ह्रस्व नहीं हुआ। तन्त्री=धमनी। स्वाङ्गवाची न होने पर कप् होगा—**बहुनाडीकः स्तम्भः।**

निष्प्रवाणिश्च (५।४।१६०)। प्रवाणी शब्द नद्यन्त है, अतः कप् प्राप्त था, सो यहाँ कप् प्रत्यय का अभाव निपातन किया है। **निर्गता प्रवाणी अस्य निष्प्रवाणिः।** प्रवाणी नाम जुलाहे की शलाका का है। **प्रोयतेऽस्याम्, प्रोयतेऽनया इति वा प्रवाणी। निष्प्रवाणिः पटः, निष्प्रवाणिः कम्बलः।** पट,

---

१. शेषाद् विभाषा (५।४।१५४)।

२. आपोऽन्यतरस्याम् (७।४।१५)।

३. ईयसश्च (५।४।१५६)।

४. ईयसो बहुव्रीहेर्न—गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य (१।२।४८) पर पढ़ा हुआ वृत्तिकार का वचन।

५. वन्दिते भ्रातुः (५।४।१५७)।

६. नाडीतन्त्र्योः स्वाङ्गे (५।४।१५९)।

कम्बल जिसमें से प्रवाणी (शलाका) अब निकल गई है। अर्थात् जिसकी बुनत समाप्त हो गई है, अर्थात् जो अभी-अभी तैयार हुआ है। कप् प्रत्यय के अभाव में उपसर्जन स्त्रीप्रत्ययान्त 'प्रवाणी' को ह्रस्व हो जाता है।

द्वन्द्व समास

चार्थ ('च' का अर्थ) से सम्बद्ध अनेक सुबन्तों का जो समास होता है वह द्वन्द्व समास कहलाता है।[1] **रामश्च लक्ष्मणश्च भरतश्च शत्रुघ्नश्चेति राम-लक्ष्मणभरतशत्रुघ्नाः**। 'च' के चार अर्थ हैं—समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतर-योग, समाहार। पहले दो अर्थों में द्वन्द्व समास नहीं होता। क्योंकि सुबन्त पद असमर्थ होते हैं अर्थात् असंसृष्टार्थ होते हैं और समर्थ पदों का समास हुआ करता है।

परस्पर निराकाङ्क्ष (परस्पर-साहित्य-रहित)पदार्थों का जहाँ एक (द्रव्य, गुण, क्रिया) में अन्वय हो वहाँ 'च' का अर्थ समुच्चय होता है। यहाँ जब एक का क्रिया में अन्वय हो चुकता है तब आवृत्ति करके दूसरे का अन्वय उसी क्रिया में होता है। 'च' शब्द के साथ उच्चारित पद को दूसरे की आकाङ्क्षा (अपेक्षा) होती है, जो च शब्द के योग के बिना उच्चारित हुआ है उसे दूसरे की नहीं।

समुच्चय में एक च शब्द का प्रयोग होता है—**ईश्वरं गुरुं च भजस्व**। यहाँ ईश्वर व गुरु परस्पर निरपेक्ष पद हैं इनमें कोई साहित्य नहीं। प्रथम 'ईश्वर' का 'भजस्व' क्रिया में अन्वय होता है—ईश्वरं भजस्व। तब गुरु का 'भजस्व' क्रिया में दुबारा उच्चारण करने से होता है। 'गुरुं च' कहने से गुरु पदान्तर 'ईश्वर' की अपेक्षा करता है, पर ईश्वरं भजस्व कहने से ('च' के अभाव में) 'ईश्वर' 'गुरु' की अपेक्षा नहीं करता, ईश्वर पद निरपेक्ष अथवा निराकाङ्क्ष है।

जहाँ एक पदार्थ प्रधान होकर और दूसरा अप्रधान होकर दो क्रियाओं में अन्वित हो रहे हैं वहाँ 'च' का अर्थ अन्वाचय है—**भिक्षामट गां चानय**। यहाँ भिक्षा सम्बन्धी अटन अवश्य कर्तव्य है और गो-कर्मक आनयन आनुषङ्गिक है। भिक्षा के उद्देश्य से घूमते हुए यदि मार्ग में गौ मिल जाए तो उसे भी ले आना—यह आनुषङ्गिक है। अतः भिक्षा प्रधान है, गो अप्रधान है। इसलिए

---

१. चार्थे द्वन्द्वः (२।२।२९)।

भिक्षा और गो का अन्वाचय होने से एकार्थीभाव न होने से समास नहीं होता।

परस्पर सापेक्ष पदार्थ जिनके समूह के अवयव भिन्न-भिन्न स्पष्ट प्रतीत हो रहे हैं, का एकधर्मावच्छिन्न रूप अन्वय इतरेतरयोग कहलाता है। इतरेतर योग में द्वन्द्व समास होता है—**प्लक्षन्यग्रोधौ** (ढाक और वट)। **प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च। धवखदिरपलाशाः। धवश्च खदिरश्च पलाशश्च।** उद्भूतावयव भेद होने से ही यहाँ प्रत्येक के साथ चकार का योग है। **ब्रह्म च क्षत्रं च ब्रह्मक्षत्रे। ब्रह्मराजन्यविट्शूद्राः। ब्रह्मा च राजन्यश्च विट् च शूद्रश्च। दाराश्च पतिश्च=दारपती। आपश्च तेजश्च=अप्तेजसी।** यहाँ पूर्वपद (दार, अप्) के नित्य बहुवचनान्त होने पर भी द्वन्द्व द्विवचनान्त ही होता है।

समूह समाहार का नाम है। समासघटक अवयवों से अतिरिक्त समूह समास का अर्थ है। यहाँ समूह से अभिप्राय ऐसे समूह से है जहाँ अवयव अनुद्भूत=अप्रकट, तिरोहित से हैं, समूहत्व ही का मुख्यतया भान होता है। **संज्ञाश्च परिभाषाश्च=संज्ञा-परिभाषम्। वाक् च त्वक् च=वाक्त्वचम्।** समाहार अर्थ में द्वन्द्व स्वभाव से ही एकवचनान्त और नपुंसक लिंग होता है। समाहार एकत्व का नाम है। वहाँ एकवचन को छोड़ कर द्विवचन आदि कैसे हो सकता है। समूहत्व में पुंस्त्व व स्त्रीत्व की प्रतीति (भान) न होने से शेष नपुंसक लिंग से ही उसका कहना ठीक है। सूत्रकार समाहार द्वन्द्व की नपुंसकता को 'स नपुंसकम्' (२।४।१७) से विधान भी करते हैं।

ऊपर हमने द्वन्द्व के लक्षण में अनेक सुबन्तों का समास कहा है। दो भी अनेक है और दो से अधिक भी। **होता च पोता च नेष्टा च उद्गाता चेति होतृपोतृनेष्टोद्गातारः** ऐसा चार पदों का द्वन्द्व समास होगा। इस समास में उत्तरपद (=समास का चरम=अन्त्य अवयव) उद्गातृ है और उसकी अपेक्षा होतृपोतृनेष्टृ—यह समुदाय पूर्वपद है। इस पूर्वपद को आनङ्(आन्)अन्तादेश होता है।[1] यदि दो-दो का द्वन्द्व करके फिर उनका द्वन्द्व समास करें तो **होता च पोता च होतापोतारौ** (पूर्वपद को आनङ् हो गया)। **नेष्टा च उद्गाता च नेष्टोद्गातारौ** (यहाँ भी पूर्वपद को आनङ् हो गया)। अब दुबारा समास करने पर **होतापोतृनेष्टोद्गातारः** ऐसा समास होगा।

१. आनङ् ऋतो द्वन्द्वे (६।३।२५)।

द्वन्द्व में पूर्वनिपात

द्वन्द्व-समास के घटक अवयव प्रथमान्त होने से सभी समान रूप से उपसर्जन हैं। सभी का पूर्वनिपात प्राप्त होता है। अतः पूर्वनिपात किसका हो इसकी व्यवस्था कहते हैं—

द्वन्द्व समास में 'घि'-संज्ञक का पूर्वनिपात होता है अर्थात् उसका पूर्वप्रयोग होता है[1]—**हरिश्च हरश्च हरिहरौ**। अनेक घ्यन्तों के पूर्वनिपात के प्रसंग में एक घिसंज्ञक को अवश्य पूर्व प्रयुक्त करना चाहिए दूसरा चाहे दूसरे स्थान पर हो चाहे किसी और स्थान पर—**हरिहरगुरवः। हरिगुरुहराः। पटुमृदुशुक्लाः। पटुशुक्लमृदवः।**

अजादि अदन्त शब्दरूप द्वन्द्व समास में पूर्व प्रयुक्त होता है[2]—**उष्ट्रखरम्। उष्ट्राश्च खराश्च तेषां समाहारः। उष्ट्रशशकम्।**

जब घि-संज्ञक का पूर्वनिपात प्राप्त होता हो और अजादि अदन्त का भी तो अजादि अदन्त का पूर्वनिपात होता है घि का नहीं[3]—**इन्द्राग्नी। इन्द्रवायू।**

अल्पाच्तर=दूसरे की अपेक्षा, अल्प अच् वाला शब्दरूप द्वन्द्वसमास में पूर्वप्रयुक्त होता है[4]—**शिवकेशवौ। धवखदिरपलाशाः।** एक से अधिक अल्पाच्तर शब्द हों तो एक का तो अवश्य पूर्वनिपात होता है दूसरे के विषय में नियम नहीं—**शङ्खदुन्दुभिवीणाः। शङ्खवीणादुन्दुभयः।** शङ्ख व वीणा दोनों दुन्दुभि की अपेक्षा अल्पाच्तर हैं। **शूलपरशुशरचापाः। शरशूलचापपरशवः।**

सूत्रकार ने लक्षणहेत्वोः (३।२।१२६) इस सूत्र में अल्पाच्तर हेतु शब्द का पूर्वनिपात न करके यह ज्ञापित किया है कि समस्त पूर्वनिपात शास्त्र अनित्य है। अतः सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीं······वाचमुवाच (किरात० १।३) में अजाद्यदन्त औदार्य शब्द का पूर्वनिपात नहीं किया।

ऋतु और नक्षत्रों के समानाक्षर नामों का, ऋतुओं और नक्षत्रों के अपने क्रम से द्वन्द्व समास में उच्चारण होता है[5]—**हेमन्तशिशिरवसन्ताः। हेमन्तश्च शिशिरश्च वसन्तश्च।** यहाँ तीनों हेमन्त आदि त्र्यक्षर हैं। **कृत्ति-**

---

१. द्वन्द्वे घि (२।२।३२)। अनेकप्राप्तावेकस्य नियमः शेषे त्वनियमः।
२. अजाद्यदन्तम् (२।२।३३)।
३. घ्यन्तादजाद्यदन्तं विप्रतिषेधेन (वा०)।
४. अल्पाच्तरम् (२।२।३४)।
५. ऋतुनक्षत्राणामानुपूर्व्येण समानाक्षराणां पूर्वनिपातो वक्तव्यः (वा०)।

कारोहिण्यौ । कृत्तिका च रोहिणी च । ये दोनों नक्षत्रनाम त्र्यक्षर हैं । अक्षर नाम अच् का है अथवा हल् सहित अच् का ।

द्वन्द्व समास में लघु अक्षर वाले शब्दरूप का पूर्वप्रयोग होता है[1]—**कुशकाशम् । शरशादम् (शराश्च शादाश्च)** । शर=सरकंडा । शाद=नवतृण ।

अभ्यर्हित (पूजित) वाची शब्द का द्वन्द्व समास में पूर्वप्रयोग होता है[2]—दूसरे पूर्वनिपात के नियमों का यह वचन बाधक है । **मातापितरौ । वासुदेवार्जुनौ । श्रद्धामेधे । दीक्षातपसी ।**

बड़े भाई के नाम का पूर्वनिपात होता है[3]—**युधिष्ठिरार्जुनौ** । वर्णों का अपने क्रम से प्रयोग होता है[4]—**ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः ।** परन्तु **शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां यत्रर्तोक्तौ भवेद् वधः** (मनु० ८।१०४) इस मनुवचन में जो क्रम का विपर्यास है वह वध के अमङ्गल होने के कारण है । छोटी संख्या का पूर्वनिपात होता है[5]—**द्वित्राः । त्रिचतुराः । नवतिशतम्** । एक सौ नव्वे ।

द्वन्द्व में परवल्लिङ्गता

समाहार द्वन्द्व से अन्यत्र इतरेतर द्वन्द्व में जो पर पद (=अन्तिम पद=चरमावयव) का लिङ्ग हो वही समास का लिंग होता है[6]—**कुक्कुटश्च मयूरी च=कुक्कुटमयूर्याविमे । मयूरी च कुक्कुटश्च=मयूरीकुक्कुटाविमौ (°कुक्कुटौ इमौ)** । यहाँ प्रथम उदाहरण में जो उत्तरपद 'मयूर' का लिङ्ग (अर्थात् स्त्रीलिंग), वही समा1 का, अतः 'इमे' इस स्त्रीलिंग सर्वनाम से परामर्श हुआ । द्वितीय उदाहरण में उत्तरपद कुक्कुट का जो लिंग (अर्थात् पुँल्लिङ्ग) उसके अनुसार समास भी पुँल्लिङ्ग हुआ, जिससे 'इमौ' इस पुं० सर्वनाम से उसका संकेत हुआ । पर **अश्वश्च वडवा च=अश्ववडवौ** । यहाँ पूर्वपद अश्व के लिंग के अनुसार ही समास का लिंग हुआ । **अहश्च रात्रिश्च=अहोरात्रौ** (इमौ पुण्यौ) । यहाँ रात्रि शब्द को समासान्त होकर 'रात्र' रूप हो जाता है । तब समास का पुँल्लिङ्ग में ही प्रयोग होता है । समास न तो पूर्व के लिंग को लेता है, न पर के । हाँ, वेद में पूर्वलिंगता रहती है ।

---

१. लघ्वक्षरं पूर्वं निपततीति वक्तव्यम् (वा०) ।
२. अभ्यर्हितं च पूर्वं निपततीति वक्तव्यम् (वा०) ।
३. भ्रातुश्च ज्यायसः पूर्वनिपातो वक्तव्यः (वा०) ।
४. वर्णानामानुपूर्व्येण पूर्वनिपातः (वा०) ।
५. संख्याया अल्पीयस्याः पूर्वनिपातो वक्तव्यः (वा०) ।
६. परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः (२।४।२६) ।

द्वन्द्व में समाहार-नियम

जहाँ अनुद्भूतावयव-भेद समूह रूप से पदार्थों को कहने की इच्छा हो, वहाँ सर्वत्र समाहार द्वन्द्व होता ही है और उसका नपुंसक लिंग होता है, पर कुछ ऐसे भी प्रयोग हैं जहाँ शास्त्र द्वारा समाहार में ही द्वन्द्व होता है यह नियम कर दिया गया है। अब हम उन-उन समाहार के विषयभूत प्रयोगों को दर्शाते हैं—

प्राणिसम्बन्धी अंग, तूर्य सम्बन्धी अंग तथा सेना सम्बन्धी अंगवाची पदों का द्वन्द्व समाहार अर्थ में ही होता है, इतरेतरयोग में नहीं[1]—**पाणिपादम्** (**पाणी च पादौ च**)। **शिरोग्रीवम्** (**शिरश्च ग्रीवा च**)। समाहार द्वन्द्व के नपुंसक लिंग होने से ह्रस्व हुआ। **मार्दङ्गिकपाणविकम्**। **मार्दङ्गिकाश्च पाणविकाश्च**, मृदंग तथा पणव बजाने वाले। **वीणावादकपरिवादकम्**। **रथिकाश्वारोहम्**। **रथेन चरन्तीति रथिकाः**। **अश्वमारोहन्तीति अश्वारोहाः**। **रथिकाश्च अश्वारोहाश्च तेषां समाहारः**। **रथिकपादातम्**। **रथिकाश्च पादातानि च**। **पदातीनां समूहः**=पादातम्। एकवचनान्त अथवा द्विवचनान्त रथिकादियों का समाहार द्वन्द्व का नियम नहीं। तूर्यांग से यहाँ वाद्य विशेष के बजाने वालों का ग्रहण है। प्राण्यङ्गों का प्राण्यङ्गों के साथ समाहार समास होता है, तूर्यांगों का तूर्यांगों के साथ, सेनांगों का सेनांगों के साथ। अतः **मार्दङ्गिकाश्वारोहौ**—यहाँ एकवद्भाव नहीं होता। प्राण्यङ्ग तथा सेनांग में अंग शब्द का अवयव अर्थ है, तूर्यांग में अंग से उपकारक का ग्रहण होता है।

चरण (=वेदशाखाध्येतृ) वाची शब्दों का द्वन्द्व समाहार अर्थ में ही होता है जब अनुवाद की प्रतीति[2] हो। प्रमाणान्तर से अवगत अर्थ को पुनः शब्द द्वारा कहना अनुवाद है—**उदगात् कठकालापम्** (कठ और कालाप शाखा वालों का उदय हुआ)। **प्रत्यष्ठात् कठकौथुमम्** (कठ और कौथुम शाखावालों की प्रतिष्ठा (=दृढ स्थिति) हो गई)। कौथुम सामवेद की एक शाखा का नाम है। इस समाहार द्वन्द्व के लिए यह भी आवश्यक है कि कठ कालाप आदि के कर्तृत्व का वाचक तिङन्त पद स्था, इण् का लुङन्त रूप हो[3]।

---

१. द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् (२।४।२)।

२. अनुवादे चरणानाम् (२।४।३)।

३. स्थेणोरद्यतन्यां चेति वक्तव्यम् (वा०)। 'अद्यतनी'—यह पूर्वाचार्यों की लुङ् की संज्ञा है।

अन्यथा समाहार का नियम नहीं—**अनन्दिषुः कठकालापाः । उद्यन्ति कठकालापाः ।**

यजुर्वेद में जिन क्रतु (=सोमयज्ञों) का विधान है उनके वाचक अनपुंसक लिंगी शब्दों का द्वन्द्व समाहार अर्थ में ही होता है[1]—**अर्कश्चाश्वमेधश्च अर्काश्वमेधम् । सायाह्नश्चातिरात्रश्च=सायाह्नातिरात्रम् ।** नपुंसकलिंग क्रतुवाची शब्दों में यह नियम नहीं—**राजसूयवाजपेये ।**

अध्ययन (=उच्चारण) निमित्त से जो एक दूसरे के निकटवर्ती हैं तद्वाचक शब्दों का द्वन्द्व समाहारार्थ में ही होता है[2]—**पदान्यधीत इति पदकः । क्रमम् अधीत इति क्रमकः** (वुन् प्रत्यय) । **पदकश्च क्रमकश्चेति पदकक्रमकम् ।** वेदपाठनिमित्त होने पर भी 'याज्ञिकवैयाकरणौ' यहाँ समाहार नियम से नहीं होगा। कारण कि याज्ञिक और वैयाकरण एक दूसरे से दूरवर्ती पदार्थों की संज्ञाएँ हैं।

जाति-परतया प्रयुक्त जातिवाची शब्दों का द्वन्द्व समाहार अर्थ में होता है पर प्राणी जाति वाची शब्दों के विषय में यह नियम नहीं[3]—**आराश्च शस्त्र्यश्च=आराशस्त्रि । धानाश्च शष्कुल्यश्च=धानाशष्कुलि ।** पर **ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः ।** यहाँ प्राणी जाति होने से एकवद्भाव का नियम नहीं। एकवद्भाव में द्रव्य जाति ही ली जाती है अतः **रूपरसगन्धस्पर्शाः**—यहाँ गुणजाति होने से नहीं होता। **यवसान्नोदकेन्धनम्=यवसं च अन्नं च उदकं च इन्धनं च ।** यवस नाम भूसे का है। **शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत्** (मनु० २।११९) । जिस शय्या और आसन पर अपने से बड़ा बैठा हो उस पर (उसके साथ) न बैठे। **वेणुमृदङ्गकांस्यम्=वेणुश्च मृदङ्गश्च कांस्यं च ।** यहाँ 'प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' से एकवद्भाव नहीं हुआ, कारण कि उस सूत्र से तूर्याङ्गों के प्रयोग करने वालों का द्वन्द्व एकवत् होता है, न केवल तूर्याङ्गों का।

भिन्नलिङ्गी नदीवाची तथा देशवाची शब्दों का द्वन्द्व समाहार अर्थ में

१. अध्वर्युक्रतुरनपुंसकम् (२।४।४) ।
२. अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यायाम् (२।४।५) ।
३. जातिरप्राणिनाम् (२।४।६) ।

ही होता है[1]—**गङ्गा च शोणश्च = गङ्गाशोणम् । उद्ध्यश्च इरावती च = उद्ध्येरावति ।** यहाँ समाहार द्वन्द्व एकवचनान्त तथा नपुंसकलिंग होता है, अतः (नपुंसक होने से) दोनों उदाहरणों में ह्रस्व हुआ। पर समान लिंग होने पर यह नियम नहीं—**गङ्गायमुने** (= **गङ्गा च यमुना च**)। देशवाची—**कुरवश्च कुरुक्षेत्रं च = कुरुकुरुक्षेत्रम् ।**

क्षुद्रजन्तु (छोटे-छोटे जीव) वाची शब्दों का द्वन्द्व समाहार अर्थ में ही होता है[2]—**दंशाश्च मशकाश्च = दंशमशकम् । यूकाश्च लिक्षाश्च = यूकालिक्षम्** (जूएँ और लीखें)।

क्षुद्रजन्तुरनस्थिः स्यादपि वा क्षुद्र एव यः ।
शतं वा प्रसृतौ येषां केचिदानकुलादपि ॥

जो हड्डी-पसली से रहित हो वह 'क्षुद्र' है, अथवा जो बहुत छोटा, जिसका परिमाण अज्ञात है, अथवा जो एक सैंकड़ा मुट्ठी में समा जाते हैं।

कई आचार्यों के मत से नकुल पर्यन्त 'क्षुद्र' जन्तु माने जाते हैं।

जिनमें स्वाभाविक नित्य विरोध है तद्वाची शब्दों का द्वन्द्व समाहार अर्थ में ही होता है[3]—**मार्जारश्च मूषकश्च = मार्जारमूषकम् । श्वा च शृगालश्च = श्वशृगालम् । अहिश्च नकुलश्च = अहिनकुलम्** (साँप तथा न्योला)। **काकश्च उलूकश्च = काकोलूकम् । अश्वश्च महिषश्च = अश्वमहिषम् ।**

जो शूद्र अबहिष्कृत हैं (अर्थात् जिनके भोजन करने पर पात्र मिट्टी, जल, अग्नि आदि से भी शुद्ध नहीं होता, वे बहिष्कृत हैं, उनसे भिन्न) तद्वाची शब्दों का द्वन्द्व समाहार अर्थ में ही होता है[4]—**तक्षा च अयस्कारश्च = तक्षायस्कारम्** (बढ़ई और लोहार)। **रजकश्च तन्तुवायश्च = रजकतन्तुवायम्** (धोबी और जुलाहा)।

गौश्चाश्वश्च गवाश्वम् । गवाविकम् (**गौश्च अविश्च**)। **अजाविकम् । कुब्जवामनम् । कुब्जकैरातम् । पुत्त्रपौत्रम् । मूत्रशकृत् । यकृन्मेदः** (**यकृत् च मेदश्च**)। **मांसशोणितम् । दासीदासम् । कुटीकुटम्**—इत्यादि एकवद्भाव होकर जिस

१. विशिष्टलिङ्गो नदी देशोऽग्रामाः (२।४।७)।
२. क्षुद्रजन्तवः (२।४।८)।
३. येषां च विरोधः शाश्वतिकः (२।४।९)।
४. शूद्राणामनिरवसितानाम् (२।४।१०)।

रूप में उच्चारण किए हैं उसी रूप में साधु हैं।[1] रूपान्तर में तो **गोश्वम्, गोश्वौ** विभाषा एकद्भाव=समाहार होगा।

वृक्षविशेषवाची, मृगविशेषवाची, तृणविशेषवाची, धान्यविशेषवाची, व्यञ्जनविशेषवाची पशुविशेषवाची, शकुनि (पक्षी) विशेषवाची—का द्वन्द्व विकल्प से समाहारार्थक होता है, पक्ष में इतरेतरयोग में, तथा अश्ववडव, पूर्वापर, अधरोत्तर—ये भी विकल्प से समाहारार्थक होते हैं[2]—**प्लक्षन्यग्रोधम्। प्लक्षन्यग्रोधाः (प्लक्षाश्च न्यग्रोधाश्च)** (ढाक और वट के वृक्ष)। **रुरुपृषतम्, रुरुपृषताः (रुरवश्च पृषताश्च)** (रुरु एक प्रकार का मृग जिसका चर्म ब्रह्मचारी लोग पहनते हैं, पृषत=बिन्दुमान् उदरवाला मृग। **कुशकाशम्, कुशकाशाः। व्रीहियवम्, व्रीहियवाः** (धान और जौ)। व्यञ्जन—**दधिघृतम्, दधिघृते। गोमहिषम्, गोमहिषाः। तित्तिरिकपिञ्जलम्, तित्तिरिकपिञ्जलाः (तित्तिरयश्च कपिञ्जलाश्च)। अश्ववडवम्, अश्ववडवाः** (घोड़े और घोड़ियाँ)। यहाँ पूर्ववल्लिङ्ग होता है। **पूर्वापरम्, पूर्वापरे। अधरोत्तरम्, अधरोत्तरे।**

यहाँ वार्तिककार का कहना है कि फल, सेना, वनस्पति, मृग, शकुनि, क्षुद्रजन्तु—के बहुवचनान्तों का ही द्वन्द्व नियम से समाहारार्थक होता है[3], अतः **बदरामलके (बदरं च आमलकं च), रथिकाश्वारोहौ (रथिकश्च अश्वारोहश्च), प्लक्षन्यग्रोधौ (प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च), रुरुपृषतौ (रुरुश्च पृषतश्च), हंसचक्रवाकौ (हंसश्च चक्रवाकश्च)। यूकालिक्षे। (यूका च लिक्षा च)। व्रीहियवौ (व्रीहिश्च यवश्च)। कुशकाशौ, (कुशश्च काशश्च)।** इनमें इतरेतरयोग में भी द्वन्द्व होता है।

परस्पर विरुद्धार्थ अद्रव्यवाची शब्दों का द्वन्द्व विकल्प से समाहारार्थक होता है[4]—**शीतं च उष्णं च शीतोष्णम्, शीतोष्णे** (ठंडा और गरम)। **सुखं**

---

१. गवाश्वप्रभृतीनि च (२।४।११)।

२. विभाषा वृक्ष-मृग-तृण-धान्य-व्यञ्जन-पशु-शकुन्यश्ववडव-पूर्वाऽपराऽधरोत्तराणाम् (२।४।१२)।

३. बहुप्रकृतिः फल-सेना-वनस्पति-मृग-शकुनि-क्षुद्रजन्तु-धान्य-तृणानाम् (वा०)।

४. विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि(२।४।१३)। यहाँ अधिकरण (गुणाधार) द्रव्य का नाम है।

च दुःखं च=सुखदुःखम्, सुखदुःखे । जीवितं च मरणं च=जीवितमरणम्, जीवितमरणे । बलं चाबलं च=बलाबलम्, बलाबले । अहो तम इवेदं स्यान्न प्रज्ञायेत किंचन । राजा चेन्न भवेल्लोके विभजन् साध्वसाधुनी (रा० २।६७। ३६) । **तुल्ये प्रियाप्रिये यस्य सुखदुःखे तथैव च । अतीतानागते चोभे स वै सर्वधनी नरः** । (भा० वन० ३१३।२१) । विकल्प की (पाक्षिक एकवद्भाव की) अभ्यनुज्ञा होने पर भी प्रयोग में साध्वसाधुनी आदि द्विवचनान्त ही देखे जाते हैं, अर्थात् इनका एकवद्भाव करके **साध्वसाधु, प्रियाप्रियम्, सुखदुःखम्** इत्यादि प्रयोग नहीं मिलता है । पर **कामक्रोधौ** । यद्यपि काम और क्रोध अद्रव्य हैं, तो भी परस्पर विरोधी नहीं हैं । **शीतोष्णे उदके** (दो जल, एक ठंडा और दूसरा गरम) । यहाँ शीत शैत्यगुण वाले द्रव्य जल को कह रहा है । उष्ण भी उष्णत्व गुण वाले जल को । अतः समाहार (=एकवद्भाव) नहीं हुआ ।

दधिपयसी । सर्पिर्मधुनी (सर्पिश्च मधु च)=घी और मधु । **मधुसर्पिषी । इध्माबर्हिषी(इध्मं च बर्हिश्च)**। इध्म(नपुं०)समिधा को कहते हैं । यहाँ निपातन से दीर्घ हुआ है । **दीक्षातपसी । मेधातपसी । श्रद्धातपसी । श्रद्धामेधे । अध्ययनतपसी । उलूखलमुसले । ऋक्सामे (ऋक् च साम च)** । यहाँ अच् समासान्त होता है । **वाङ्मनसे (वाक् च मनश्च)** । यहाँ भी अच् समासान्त होता है । **आद्यवसाने (आदिश्चावसानं च)** । **दधि पयः** आदि का समाहार द्वन्द्व नहीं होता ।[1]

वर्तिपदार्थ (=समास-घटकावयवार्थों) की इयत्ता (परिमाण) का बोध होने पर प्राण्यङ्ग अथवा तूर्याङ्ग वाची शब्दों का समाहार द्वन्द्व का नियम नहीं[2]—**दश दन्तोष्ठाः । दश मार्दङ्गिकपाणविकाः** ।

जब वर्तिपदार्थ की लगभग इयत्ता का बोध हो तब समाहार द्वन्द्व विकल्प से होता है[3]—**उपदशं दन्तोष्ठम्** (लगभग दस दाँत और ओष्ठ) । समाहार में अव्ययीभाव (**उपदशम्**) का अनुप्रयोग होता है । समाहार के अभाव में उपदशा दन्तोष्ठाः, यहाँ बहुव्रीहि (**उपदशाः**) का अनुप्रयोग होता है ।

इतरेतर और समाहार द्वन्द्वों की विषय-व्यवस्था के विषय में कहा जा चुका है । अन्त में शिष्ट-प्रयोगानुसरण करते हुए यह कहना पड़ता है—सर्वो

---

१. न दधिपयआदीनि (२।४।१४) ।
२. अधिकरणैतावत्त्वे च (२।४।१५) ।
३. विभाषा समीपे (२।४।१६) ।

द्वन्द्वो विभाषैकवद् भवति, अर्थात् सभी द्वन्द्व विकल्प से समाहारार्थक होता है—**इङ्गिताकारचेष्टज्ञम्** (मनु० ७।६३)। **इङ्गितं चाकारश्च चेष्टा च तेषां समाहार इङ्गिताकारचेष्टम्। तद् जानातीति।** समाहार द्वन्द्व के नपुं० होने से ह्रस्व हुआ। **यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य, लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य...... विषयः** (न्यायभाष्य ४।१।६२)। **मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च=मन्त्रब्राह्मणम्। इतिहासश्च पुराणं च=इतिहासपुराणम्।**

द्वन्द्व के विषय में विशेष वक्तव्य

जब द्वन्द्व समास का किसी दूसरे पद के साथ, जो उसका पूर्वपद अथवा उत्तरपद हो समास होता है तब उस पद का द्वन्द्व के घटक प्रत्येक अवयव के साथ सम्बन्ध होता है—द्वन्द्वादौ द्वन्द्वान्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते—**व्यश्वसारथ्यायुधो न हन्तव्यः**। यहाँ '**अश्वसारथ्यायुधानि**' इस द्वन्द्व के आदि में 'वि' पूर्वपद है, उसका सम्बन्ध अश्व, सारथि, आयुध—इन तीनों के साथ होगा, न कि 'अश्व' के साथ ही—**विनष्टानि अश्वसारथ्यायुधानि यस्य स व्यश्वसारथ्यायुधः** (द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः)। **न शिश्नोदरपाणिपादवाक्चक्षुश्चापलानि कुर्यात्** (गौ० ध० १।६।५०)। यहाँ **शिश्नं च पाणिश्च पादौ च वाक् च चक्षुश्च इति शिश्नोदरपाणिपादवाक्चक्षुः** (प्राण्यङ्ग होने से एकवद्भाव)। शिश्नोदर० इस द्वन्द्व के अन्त में 'चापल' शब्द का शिश्न आदि चक्षुरन्त पदों के साथ सम्बन्ध होता है, न कि चक्षुः के साथ ही। द्वन्द्व का चापल के साथ षष्ठी-समास है।

द्वन्द्वाश्रय विधि

विद्या-योनि-सम्बन्धवाची ह्रस्वऋकारान्त शब्दों के द्वन्द्व में पूर्वपद के ऋ के स्थान में आनङ् (आन्) आदेश होता है उत्तरपद परे होने पर।[1] **होतापोतारौ (होता च पोता च)**। पदरूप प्रातिपदिकान्त 'न्' का लोप हो जाता है। अतः होतान् के 'न्' का लोप हुआ। यहाँ हौत्र (=होतृकर्म) आदिरूप विद्या द्वारा सम्बन्ध है। होता और पोता दोनों यज्ञ में ऋत्विक् हैं। **नेष्टोद्गातारौ**

---

१. ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः (६।३।२३)। आनङ् ऋतो द्वन्द्वे (६।३।२५)। यहाँ पूर्व सूत्र ऋतः इत्यादि से 'विद्यायोनिसम्बन्ध' की अनुवृत्ति आ रही है।

(नेष्टा च उद्गाता च)। **मातापितरौ (माता च पिता च)**। **याताननान्दरौ (याता च ननान्दा च)**। यहाँ योनिकृत सम्बन्ध है। पुत्र शब्द उत्तरपद होने पर भी ऋदन्त (ह्रस्व ऋकारान्त) पूर्वपद के अन्त्य ऋ के स्थान में आनङ् (=आन्) आदेश होता है—**पितापुत्रौ (पिता च पुत्रश्च)**। **मातृपित्र्यध्यापकाः**। यह ऋकारान्तों का द्वन्द्व नहीं, अध्यापक शब्द यहाँ अदन्त है। साथ ही यह विद्या-सम्बन्धवाची ऋकारान्तों अथवा योनिसम्बन्धवाची ऋकारान्तों का भी समास नहीं, किन्तु उभय-सम्बन्धवाची शब्दों का है जिनमें एक ऋकारान्त भी नहीं, अतः आनङ् का प्रसङ्ग नहीं। **माता च पिता चाध्यापकश्च=मातृपित्र्यध्यापकाः**।

उत्तरभारत के आचार्यों के मत में **'मातरपितरौ'** ऐसा द्वन्द्व भी साधु है[1]।

जाया च पतिश्च=जायापती। **जम्पती**। **दम्पती**। जाया के स्थान में जम्, अथवा दम् आदेश होता है। वेद में **दम्पति** (एकवचनान्त) का प्रयोग देखा जाता है। वह षष्ठी समास है और उसका अर्थ है अधिष्ठातृगृहपति—**विश्वासां त्वा विशांपतिं हवामहे सर्वासां समानं दम्पतिं भज**।(ऋ० १।१२७।८)।

द्वन्द्वविषयक समासान्त

चवर्गान्त, दकारान्त, षकारान्त, हकारान्त समाहारार्थक द्वन्द्व से टच् (अ) समासान्त होता है—**वाक् च त्वक् च=वाक्त्वचम्**। **स्रक् च त्वक् च=स्रक्त्वचम्**। **श्रीश्च स्रक् च=श्रीस्रजम्**। **समिधश्च दृषदश्च समाहृताः =समिद्दृषदम्**। **सम्पदश्च विपदश्च समाहृताः=सम्पद्विपदम्**। **वाक् च विप्रुषश्च=वाग्विप्रुषम्** (वाणी तथा मुँह से गिरती हुई बूँदें)। **छत्रं चोपानहौ च=छत्रोपानहम्**। **धेनवश्च गोदुहश्च धेनुगोदुहम्**। **वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः**—यहाँ इतरेतर द्वन्द्व होने से समासान्त प्राप्त नहीं था। सो यह प्रयोग अपाणिनीय ही समझना चाहिए, आर्ष भले ही हो।

कुछेक द्वन्द्व अच् समासान्त करके निपातन किए हैं—**स्त्री च पुमांश्च= स्त्रीपुंसौ**। **धेनुश्च अनड्वांश्च=धेन्वनडुहौ** (गाय और बैल)। **ऋक् च साम च=ऋक्सामे** (नपुं०)। **वाक् च मनश्च=वाङ्मनसे** (नपुं०)। **अक्षि च भ्रुवौ च=अक्षिभ्रुवम्** (समाहार द्वन्द्व, अच् परे होने पर 'ऊ' को उवङ्)।

---

१. मातरपितरावुदीचाम् (६।३।३२)।

दाराश्च गावश्च—दारगवम्। **ऊरू चाष्ठीवन्तौ च - ऊर्वष्ठीवम्** (रान तथा घुटने)। यहाँ अष्ठीवत् (पुं० नपुं०)=जानु, घुटना, के टि का लोप भी होता है। **पादौ चाष्ठीवन्तौ च=पदष्ठीवम्,** पाओं तथा रान। प्राण्यङ्ग होने से एकवद्भाव हुआ है। **नक्तं च दिवा च=नक्तंदिवम्। रात्रौ च दिवा च=रात्रिन्दिवम्। अहनि च दिवा च=अहर्दिवम्।** यहाँ नक्तम्, दिवा—यह सप्तमी विभक्ति के अर्थ में वर्तमान रात और दिन के वाचक अव्यय हैं। सप्तम्यर्थवृत्ति इन अव्ययों का द्वन्द्व यहाँ निपातन किया है। **अहर्दिवम्** में वीप्सा अर्थ में द्वन्द्व निपातन किया है। 'रात्रि' को मकारान्त (रात्रिम्) निपातन किया है। **ऋक् च यजुश्च=ऋग्यजुषम्।** वृत्ति के अनुसार यह समासान्त समाहार द्वन्द्व में ही इष्ट है। अतः लौ० गृ० ४३।६ पर देवपाल के वचन—**ऋग्यजुषाभ्यामाम्यां द्वे आहुती जुहुयात्** में इतरेतर द्वन्द्व से किया गया समासान्त अयुक्त है।

एकशेष

एकशेष एक स्वतन्त्र वृत्ति है, समास नहीं। जब दो वा दो से अधिक शब्दों के अर्थ को उनमें से एक ही कह देता है, तब दूसरे एक शब्द का अथवा दो शब्दों का लोप (=अप्रयोग) न्याय प्राप्त ही है। उस लोप के होने पर जो शेष रह जाता है, वही 'एकशेष' कहलाता है। द्वित्व की आकाङ्क्षा में दो बार राम शब्द का उच्चारण प्राप्त होता है। राम राम। बहुत्व की विवक्षा में राम शब्द का उच्चारण कम से कम तीन बार प्रसक्त होता है। राम राम राम। कारण कि एक-एक अर्थ के प्रति एक-एक शब्द का प्रयोग होना चाहिए। अब शास्त्र का उपदेश है कि अपदं न प्रयुञ्जीत, बिना पद बनाए शब्द का प्रयोग न करे। दो व दो से अधिक समानरूप शब्दों से परे कोई एक विभक्ति आने पर एक ही शब्द शेष रह जाए, दूसरे न रहें। यही एकशेष है।[1] **रामश्च रामश्च रामौ। रामश्च रामश्च रामश्च रामाः।** यह एकशेष समानरूप समानार्थक शब्दों का ही नहीं होता, किन्तु विरूप समानार्थक शब्दों का भी—**वक्रदण्डश्च कुटिलदण्डश्च=वक्रदण्डौ, कुटिलदण्डौ।** क्योंकि जो एकशेष (=शिष्ट) रहता है वह दूसरे लुप्त शब्द का अर्थ भी देता है, इसलिए उससे द्विवचन आता है। यह न्याय्य ही है। दो का अप्रयोग होने पर बहुवचन संगत ही है। समानरूप शब्दों का अर्थभेद होने पर भी एकशेष होता है—**अक्षाः** (पासा, बहेड़ा)। **पादाः** (चतुर्थांश)। **माषाः** (मासा

१. सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ (१।२।६४)।

परिमाण, माष) ।

गोत्र प्रत्ययान्त को जब युव प्रत्ययान्त के साथ उच्चारण करने की इच्छा हो तो गोत्र प्रत्ययान्त शेष रहता है यदि उन दो शब्दों में गोत्र प्रत्यय-तथा-युवप्रत्ययकृत ही वैरूप्य हो, प्रकृत्यंश में कुछ भी विशेष न हो[1]—**गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च = गार्ग्यौ । वात्स्यश्च वात्स्यायनश्च = वात्स्यौ ।**

गोत्र प्रत्ययान्त जो स्त्रीलिङ्गी शब्द उसका युवप्रत्ययान्त के साथ उच्चारण करने में एकशेष होता है यदि दोनों में प्रत्ययकृत विशेष (=विरूपता) ही हो, और उस स्त्रीलिङ्गी गोत्र प्रत्ययान्त को पुंवद्भाव होता है[2]—**गार्गी च गार्ग्यायणश्च = गार्ग्यौ । वात्सी च वात्स्यायनश्च = वात्स्यौ । दाक्षी च दाक्षायणश्च = दाक्षी । गर्गस्य गोत्रापत्यं स्त्री गार्गी ।** यहाँ स्त्री प्रत्यय ङीप् परे होने पर तद्धित 'य' (यञ्) का लुक् हो जाता है । **गार्गी च गार्ग्यायणौ च = गर्गाः ।** यहाँ गार्गी को पुंवद्भाव से गार्ग्य होने पर सहोच्चारित युव-प्रत्ययान्त गार्ग्यायण के द्विवचनान्त होने से एकशेष गार्ग्य का बहुवचनान्त प्रयोग होगा । बहुवचन में गोत्रप्रत्यय यञ् का लुक् हो जाता है—सो यहाँ गर्गाः ऐसा बहुवचनान्त एकशेष होगा ।

स्त्रीलिङ्गी शब्द के साथ उच्चारित पुँल्लिङ्ग शब्द शेष रहता है । दोनों के समानरूप होने पर[3]—**हंसश्च हंसी च = हंसौ । कुक्कुटश्च कुक्कुटी च = कुक्कुटौ ।** पर **इन्द्रश्च इन्द्राणी च = इन्द्रेन्द्राण्यौ ।** यहाँ एकशेष नहीं हुआ, कारण कि यहाँ पुंयोग रूप अर्थ एक अधिक विशेष है जिसके निमित्त आनुक् (आन्) आगम हुआ है । **यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्** (मनु० ६।९०) । यहाँ एकशेष नहीं हुआ, कारण कि नद और नदी एक चीज़ नहीं है । इनके प्रवृत्ति-निमित्त में भी भेद है, केवल स्त्री प्रत्ययकृत ही भेद (विशेष) नहीं है । माघ ४।६६ में मल्लिनाथ इस विषय में पुरातन वचन का उद्धरण करते हैं—**प्राक्स्रोतसो नद्यः प्रत्यक्स्रोतसो नदा नर्मदां विनेत्याहुः,** अर्थात् पूर्व की ओर बहने वाली नदियाँ होती हैं, पश्चिम को बहने वाले नद, नर्मदा को छोड़कर ।

---

१. वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः (१।२।६५) । 'वृद्ध'—यह पूर्वाचार्यों की 'गोत्र' की संज्ञा है ।

२. स्त्री पुंवच्च (१।२।६६) ।

३. पुमान् स्त्रिया (१।२।६७) ।

स्वसृ, दुहितृ के साथ उच्चारित भ्रातृ, पुत्र शब्दों का एकशेष होता है।[1]—**भ्राता च स्वसा च=भ्रातरौ** (बहिन भाई)। **पुत्रश्च दुहिता च=पुत्रौ** (पुत्र और पुत्री)।

अनपुंसक लिङ्गी शब्द के साथ उच्चारित होने पर नपुंसक लिङ्गी शेष रह जाता है और विकल्प से एकवचन का प्रयोग होता है। पक्षान्तर में यथा-प्राप्त वचन का, यदि इनमें लिंग-भेद-कृत ही विशेष=विरूपता हो[2]—**शुक्लः पटः शुक्ला शाटी शुक्लं वस्त्रम्, तदिदं शुक्लम्। तानीमानि शुक्लानि। उपानहौ च वस्त्रं च धृतमन्यैर्न धारयेत्**(भा० अनुशा० १०३।२८)। **उपानहौ धृते वस्त्रं च धृतम्। तदिदं धृतम्। तानीमानि धृतानि।** तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः स्वाभाविको वेदविधिर्न कल्कः। प्रसह्य वित्ताहरणं न कल्कः तान्येव **भावोपहतानि** कल्कः॥ (महाभारत) तप उपहतम्। अध्ययनमुपहतम्। वेदविधिरुपहतः। वित्ताहरणमुपहतम्, तानीमानि **भावोपहतानि। कल्कः=दम्भः।**

पितृ शब्द मातृ शब्द के साथ उच्चारित होने पर शेष रह जाता है विकल्प से[3]—**माता च पिता च=पितरौ।** पक्ष में **मातापितरौ।** यहाँ द्वन्द्व में मातृ के ऋ को आनङ् (आन्) आदेश होता है। उत्तर-भारत के आचार्यों के मत में '**मातरपितरौ**' ऐसा द्वन्द्व समास होता है।

श्वशुर शब्द श्वश्रू (सास) के साथ उच्चारित होने पर शेष रह जाता है[4]—**श्वशुरश्च श्वश्रूश्च=श्वशुरौ** (सास व ससुर)।

त्यद् आदि सर्वनाम जिस किसी प्रातिपदिक के साथ उच्चारित होने पर शेष रह जाते हैं[5]—**स च देवदत्तश्च=तौ। यश्च देवदत्तश्च=यौ।**

त्यदादियों की एकशेष विवक्षा में लिंग व वचन के विषय में ऐसी व्यवस्था है—

जब त्यदादि सर्वादिगण पठित सर्वनामों के साथ उच्चारित हों तो गण-पाठ-क्रम से जो परे हो वह शेष रहता है—**स च यश्च=यौ। यश्च कश्च=कौ।**[6]

---

१. भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम् (१।२।६८)।
२. नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम् (१।२।६९)।
३. पिता मात्रा (१।२।७०)।
४. श्वशुरः श्वश्र्वा (१।२।७१)।
५. त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम् (१।२।७२)।
६. त्यदादीनां मिथो यद्यत्परं तत्तच्छिष्यते (वा०)।

पुँल्लिङ्गी और स्त्रीलिङ्गी शब्दों की सहविवक्षा में एकशेष त्यदादि से पुँल्लिङ्ग होता है[1]—**सा च देवदत्तश्च=तौ । स च देवदत्ता च=तौ** । सह-विवक्षित शब्दों में से एक के नपुंसक लिङ्गी होने पर एकशेष त्यदादि से नपुंसकलिङ्ग होता है[1]—**तच्च देवदत्तश्च यज्ञदत्ता च=तानि** (बहुवचन न्याय-प्राप्त है) । **तच्च देवदत्तश्च=ते** ।

अनेक खुर वाले (अर्थात् फटे हुए खुरों वाले) समानजातीय ग्राम्य पशुओं की सहविवक्षा में स्त्रीलिंगी शब्द शेष रहता है, पर तरुण पशुओं की सह-विवक्षा में यथाप्राप्त पुँल्लिगी शब्द ही शेष रहता है[2]—**गावश्च**(बैल) **गावश्च** (गौएं)=**गाव इमाः । अजाश्च अजाश्च=अजा इमाः** । यहाँ एक अज (बकरा) शब्द है, दूसरा अजा (स्त्री० बकरी) । परन्तु **वत्साश्च वत्साश्च=वत्सा इमे** । यहाँ अनुप्रयुक्त 'इमे' पुं० से पता चलता है कि यहाँ पुं० 'वत्स' शब्द शेष रहा है ।

अलुक्-समास

समास प्रकरण के आरम्भ में कह आये हैं कि समस्यमान पदों की विभक्तियों का लुक् हो जाता है, पीछे प्रातिपदिकार्थ की विवक्षा में उन पदों के समुदाय से प्रथमा विभक्ति लाई जाती है । समस्त दो वा दो से अधिक पदों के समुदाय की पुनः पद संज्ञा होती है जिससे वह एक स्वर वाला एक पद बन जाता है । पर कुछ ऐसे भी समास हैं जिनमें पूर्वपद की विभक्ति का लुक् नहीं होता, तो भी ऐकपद्य और ऐकस्वर्य बना रहता है जो समास का प्रयोजन है । यहाँ भी कर्मादि अर्थों को कहने के लिए **समुदाय** से विभक्ति आती है जैसे दूसरे समस्त पदों से ।

स्तोक (और स्तोक=थोड़ा अर्थवाले शब्द), अन्तिक (और अन्तिक= समीप अर्थवाले शब्द), दूर (और दूरवाचक दूसरे शब्द) तथा कृच्छ्र से परे पञ्चमी विभक्ति का लुक् नहीं होता उत्तरपद परे होने पर[3]—**स्तोकान्मुक्तः** (थोड़े में छूट गया) । **अल्पान्मुक्तः । अन्तिकाद् आगतः । अभ्याशाद् आगतः । दूरादागतः । विप्रकृष्टादागतः । कृच्छ्रान्मुक्तः** (संकट से छूटा) ।

---

१. त्यदादितः शेषे पुंनपुंसकतो लिङ्गवचनानि (वा०) ।
२. ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री (१।२।७३) ।
३. पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः (६।३।१) ।

ओजस्, सहस्, अम्भस्, तमस्—इनसे परे तृतीया विभक्ति का लुक् नहीं होता उत्तरपद परे होने पर[1]—**ओजसाकृतम्** (बल से किया हुआ), **सहसाकृतम्** (साहस से किया हुआ), **अम्भसाकृतम्** (जल से निष्पन्न किया गया), **तमसाकृतम् अज्ञानम्** (अन्धेरे से उत्पन्न किया गया अज्ञान)।

अञ्जसाकृतम् (शीघ्रता से सम्पन्न किया गया), **पुंसानुजः** (पुरुष-सन्तान के पीछे जन्मा हुआ), **जनुषान्धः** (जन्म के हेतु अन्धा)—इनमें तृतीया का अलुक् वार्तिककार को इष्ट है।

मनस् शब्द से परे तृतीया का अलुक् होता है उत्तरपद परे होने पर जब समुदाय संज्ञा हो[2]—**मनसादत्ता। मनसागुप्ता। मनसारामः।**

आज्ञायिन् शब्द उत्तरपद परे होने पर भी मनस् से तृतीया का अलुक् होता है[3]—**मनसाऽऽज्ञातुं शीलमस्येति मनसाज्ञायी।**

आत्मन् शब्द से तृतीया का अलुक् होता है पूरणप्रत्ययान्त उत्तरपद परे होने पर[4]—**आत्मनापञ्चमः। आत्मनाषष्ठः।** जनार्दनस्त्वात्मचतुर्थ एव—यहाँ आत्मा चतुर्थोऽस्येति **आत्मचतुर्थः**, ऐसा बहुव्रीहि समास है, सो तृतीया के अलुक् का प्रसङ्ग नहीं।

आत्मन् शब्द से परे चतुर्थी का अलुक् होता है उत्तरपद परे होने पर जब समुदाय से ऐसी संज्ञा का बोध हो जिसे वैयाकरण व्याकरण-शास्त्र में प्रयुक्त करते हैं[5]—**आत्मनेपदम्।** यह तङ् और आन की संज्ञा है। ऐसे ही 'पर' शब्द से परे चतुर्थी का अलुक् होता है[6]—**परस्मैपदम्।** यह तिप् आदि नौ प्रत्ययों की संज्ञा है।

हलन्त और अदन्त शब्द से परे सप्तमी का अलुक् होता है उत्तरपद परे होने पर जब समुदाय से संज्ञा का बोध हो[7]—**युधिष्ठिरः।** यहाँ गवियुधिभ्यां

---

१. ओजः सहोम्भस्तमसस्तृतीयायाः (६।३।३)।
२. मनसः संज्ञायाम् (६।३।४)।
३. आज्ञायिनि च (६।३।५)।
४. आत्मनश्च (६।३।६)। पूरण इति वक्तव्यम् (वा०)।
५. वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्याः (६।३।७)।
६. परस्य च (६।३।८)।
७. हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम् (६।३।९)।

स्थिरः (८।३।६५) से स्थिर के 'स्' को मूर्धन्य 'ष्' होता है। गविष्ठिरः। यह संज्ञा नहीं, और पूर्वपद हलन्त भी नहीं, पर मूर्धन्य विधायक इस शास्त्र के बल से यहाँ भी सप्तमी का अलुक् होता है। **त्वचिसारः** (बाँस)। यह अन्वर्थ नाम है। **त्वचि सारोऽस्य**। बाँस के छिलके में ही सार (शक्ति) होता है। छिलके के कट जाने पर उसमें कुछ नहीं रहता। अदन्त से—**अरण्येतिलकाः**। **अरण्येमाषकाः**। **वनेकिंशुकाः**। **वनेहरिद्रकाः**। **पूर्वाह्णेस्फोटकाः**। **कूपेपिशाचकाः**। **मनसि जातः=मनसिजः**। (कामदेव)।

मध्य तथा अन्त शब्द से परे सप्तमी का अलुक् होता है 'गुरु' शब्द उत्तरपद परे होने पर[1]—**मध्येगुरुः**। **अन्तेगुरुः**।

मूर्धन् और मस्तक को छोड़कर स्वाङ्गवाची शब्द से परे सप्तमी का अलुक् होता है जब काम-शब्द-भिन्न उत्तरपद हो[2]—**कण्ठे कालोऽस्य=कण्ठेकालः** (शिव)। **उरसिलोमा (उरसि लोमानि यस्य सः)**। पर **मूर्धशिखः (मूर्ध्नि शिखाऽस्य)**। **मस्तकशिखः (मस्तके शिखाऽस्य)**—यहाँ सप्तमी का लुक् होता है।

घञन्त बन्ध शब्द उत्तरपद परे होने पर पूर्वपद से परे सप्तमी का विकल्प से अलुक् होता है[3]—**हस्तेबन्धः**, **हस्तबन्धः**। **चक्रेबन्धः**, **चक्रबन्धः**। यहाँ भी पूर्वपद हलन्त अथवा अदन्त होना चाहिए। अतः **गुप्तिबन्धः** (जेल में बन्द करना। **कारिकाबन्धः** (कारिकाओं में बाँधना)। यहाँ पूर्वपद के हलन्त अथवा अदन्त न होने से अलुक् नहीं होता।

तत्पुरुष समास में कृदन्त उत्तरपद परे होने पर पूर्वपद से सप्तमी का बहुत बार अलुक् देखा जाता है[4]—**स्तम्बेरमः** (हाथी)। **कर्णेजपः** (सूचक, चुगलखोर)। नहीं भी होता—**कुरुचरः (कुरुषु चरतीति)**। **मद्रचरः** (मद्रेषु चरतीति)।

प्रावृट्, शरद्, काल, दिव्—इन से परे सप्तमी का अलुक् होता है जब

---

१. मध्याद् गुरौ (६।३।११)। अन्ताच्चेति वक्तव्यम् (वा०)।
२. अमूर्धमस्तकात्स्वाङ्गादकामे (६।३।१२)।
३. बन्धे च विभाषा (६।३।१३)।
४. तत्पुरुषे कृति बहुलम् (६।३।१४)।

उत्तरपद 'ज' हो[1]—**प्रावृषिजः** (बरसात में उपजा)। **शरदिजः**। **कालेजः** (समय पर उत्पन्न हुआ)। **दिविजः** (द्युलोक में जन्मा हुआ)।

वर्ष, क्षर, शर, वर—इनसे सप्तमी का अलुक् विकल्प से होता है 'ज' शब्द उत्तरपद परे होने पर[2]—**वर्षेजः, वर्षजः**। (वर्ष में अथवा वृष्टि में उत्पन्न)। **क्षरेजः, क्षरजः**। अर्क खींचने से उपजा। **शरेजः, शरजः**। **वरेजः, वरजः**।

घ (तरप्, तमप्), 'काल' शब्द, तथा तन प्रत्यय परे होने पर कालवाची शब्द से परे सप्तमी का विकल्प से अलुक् होता है[3]—**पूर्वाह्णेतरे पूर्वाह्णतरे**। **पूर्वाह्णेतमे, पूर्वाह्णतमे**। **पूर्वाह्णेकाले, पूर्वाह्णकाले**। **पूर्वाह्णेतने, पूर्वाह्णतने**। यहाँ भी पूर्वपद हलन्त अथवा अदन्त होना चाहिए। अतः 'रात्रितरायाम्' (बहुत रात बीते) यहाँ अलुक् नहीं होता।

कालवाची से भिन्न पूर्वपद से सप्तमी का विकल्प से अलुक् होता है जब शय, वास, वासिन्—ये उत्तरपद हों[4]—**खेशयः, खशयः**। **ग्रामेवासः, ग्रामवासः**। **ग्रामेवासी, ग्रामवासी**। यहाँ भी पूर्वपद हलन्त अथवा अदन्त होना चाहिए, अतः **भूमिशयः** (भूमि पर सोने वाला)। यहाँ अलुक् नहीं होता।

इन्प्रत्ययान्त, सिद्ध शब्द और कृत्प्रत्ययान्त बन्ध—इनके उत्तरपद होने पर पूर्वपद से परे सप्तमी का अलुक् नहीं होता[5]—**स्थण्डिलशायी** (स्थण्डिल पर सोने का व्रत है जिसका, अर्थात् ब्रह्मचारी)। **काम्पिल्यसिद्धः** (काम्पिल्य नगर में सिद्ध=बना हुआ अथवा प्रसिद्ध)। **चक्रबन्धः**।

कृदन्त 'स्थ' शब्द उत्तरपद परे होने पर भी लोकभाषा (संस्कृत) में पूर्वपद से परे सप्तमी का अलुक् नहीं होता[6]—**समस्थः** (समे तिष्ठति)। **विषमस्थः**। **कूटस्थः**। **पर्वतस्थः**। वेद में तो अलुक् हो जाता है।

जब निन्दा गम्यमान हो तब पूर्वपद से परे षष्ठी का अलुक् होता है उत्तरपद परे होने पर[7]—**चौरस्यकुलम्**। **राज्ञःप्रत्येनाः**।

---

१. प्रावृट्-शरत्-काल-दिवां जे (६।३।१५)।
२. विभाषा वर्ष-क्षर-शर-वरात् (६।३।१६)
३. घ-काल-तनेषु काल-नाम्नः (६।३।१७)।
४. शय-वास-वासिष्वकालात् (६।३।१८)।
५. नेन्सिद्ध-बध्नातिषु च (६।३।१९)।
६. स्थे च भाषायाम् (६,३।२०)।
७. षष्ठ्या आक्रोशे (६।३।२१)।

वाक्, दिक्, पश्यत्—इनसे परे षष्ठी का अलुक् होता है युक्ति, दण्ड, 'हर'—इनके क्रम से उत्तरपद होने पर[1]—**वाचोयुक्तिः** (कथन)। **दिशोदण्डः। पश्यतोहरः** (पश्यन्तमनादृत्य हरति)। स्वर्णकार की भी संज्ञा है।

आमुष्यायणः आमुष्यपुत्रिका, आमुष्यकुलिका इनमें अमुष्य (अदस् का षष्ठ्यन्त) अपने स्वरूप में अवस्थित रहता है[2]—**अमुष्य गोत्रापत्यम्=आमुष्यायणः**। नडादि होने से फक् (आयन) प्रत्यय हुआ है। **अमुष्य पुत्रस्य भावः, अमुष्य कुलस्य भावः=आमुष्यपुत्रिका, आमुष्यकुलिका**। मनोज्ञादि होने से यहाँ वुञ् (अक) हुआ है।

देवानां प्रियः, यहाँ भी षष्ठी का अलुक् होता है।[3] सम्राट् अशोक अपने को देवानां प्रियः कहता है और प्रियदर्शी भी। भट्टोजिदीक्षित "देवानां प्रिय इति च मूर्खे" ऐसा पढ़ते हैं। और 'मूर्ख' अर्थ न होने पर अलुक् नहीं होता ऐसा मानते हैं—**देवप्रियः**। पर भाष्य में ऐसा पाठ नहीं। वृत्तिकार भी ऐसा नहीं पढ़ते।

शुनःशेपः, शुनःपुच्छः, शुनोलाङ्गूलः—यहाँ पूर्वपद श्वन् से षष्ठी का अलुक् होता है[4]। ये अजीगर्त के तीन पुत्रों की संज्ञाएँ हैं। **दिवोदासः**—यहाँ भी षष्ठी का अलुक् होता है। यह एक राजा का नाम है। **वास्तुनो गृहक्षेत्रस्य पतिः=वास्तोष्पतिः। वेश्मभूर्वास्तुरस्त्रियाम्** इस अमर वचन के अनुसार वास्तु पुं० भी है।

पुत्र शब्द उत्तरपद होने पर जब समुदाय से निन्दा गम्यमान हो तो पूर्वपद से आई हुई षष्ठी का अलुक् विकल्प से होता है[5]—**दास्याः पुत्रः। दासीपुत्रः।**

विद्या-सम्बन्धवाची तथा योनि-सम्बन्धवाची ऋकारान्त शब्दों से आई हुई षष्ठी का अलुक् होता है जब विद्यासम्बन्धवाची अथवा योनिसम्बन्धवाची

---

१. षष्ठीप्रकरणे वाग्-दिक्-पश्यद्भ्यो युक्ति-दण्ड-हरेषु यथासंख्यम् अलुग् वक्तव्यः (वा०)।

२. आमुष्यायणाऽऽमुष्यपुत्रिकाऽऽमुष्यकुलिकेति चालुग् वक्तव्यः (वा०)।

३. देवानां प्रिय इत्यत्र षष्ठ्या अलुग् वक्तव्यः (वा०)।

४. शेपपुच्छलाङ्गूलेषु शुनः संज्ञायां षष्ठ्या अलुग् वक्तव्यः (वा०)।

५. पुत्रेऽन्यतरस्याम् (६।३।२२)।

उत्तरपद परे हो[1]—**होतुरन्तेवासी। होतुःपुत्रः। पितुरन्तेवासी। पितुः पुत्रः।** मेघदूत के "**द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम्**" इस पद्यांश में जाया शब्द के योनिसम्बन्ध-वाची न होने से षष्ठी-अलुक् का प्रसङ्ग ही नहीं।

विद्या-योनि-सम्बन्धवाची ऋकारान्त शब्द से आई हुई षष्ठी का विकल्प से अलुक् होता है जब स्वसृ अथवा पति शब्द उत्तरपद हो[2]—**मातुःष्वसा, मातुः स्वसा। पितुः ष्वसा, पितुः स्वसा।** इनमें विकल्प से 'स्वसृ' के 'स्' को 'ष्' होता है। **मातृष्वसा। पितृष्वसा।** यहाँ नित्य षत्व होता है। **दुहितुः पतिः, दुहितृपतिः। ननान्दुः पतिः, ननान्दृपतिः** (ननद का पति)।

समासाश्रित-सुट् विधि

ऐसे भी कुछ समस्त पद हैं जिनमें उत्तरपद के आदि में सुट् (स्) का आगम होता है। उन्हें यहाँ अनुक्रम से लिखते हैं—

कुस्तुम्बुरु (धान्याक, धनिया)। यहाँ 'तुम्बुरु' उत्तरपद को सुट् आगम हुआ है।[3] कुस्तुम्बुरु ओषधि का नाम है और उसके फल का भी। यह जाति-वाचक शब्द है। अर्थान्तर में सुट् नहीं होगा—**कुत्सितानि तुम्बुरूणि** (= तिन्दुकी-फलानि) = **कुतुम्बुरूणि। 'अपरस्पराः'** ऐसा सुट्सहित निपातन किया है जब लगातार चलना आदि प्रतीत हो[4]—**अपरस्पराः सार्था गच्छन्ति** (निरन्तर चल रहे हैं)। यदि यह अर्थ न होगा तो **अपरपराः सार्था गच्छन्ति = अपरे परे च सकृदेव गच्छन्ति** (अन्यान्य सार्थ एक बार चलते हैं) में सुट नहीं होगा।

गोष्पद शब्द सुट्सहित निपातन किया है सेवित, असेवित तथा प्रमाण विषय में[5]—**अगोष्पदो देशः। गावः पद्यन्ते यस्मिन्देशे स गोभिः सेवितो देशो गोष्पद इत्युच्यते** (जहाँ गौएँ चलती-फिरती हैं वह गौओं से सेवित देश गोष्पद कहलाता है)। जिन जंगलों में गौएँ नहीं चलती-फिरती अथवा जिन महाजंगलों में उनका चलना-फिरना सम्भव ही नहीं वे गौओं से असेवित होने से 'अगोष्पद'

---

१. ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः (६।३।२३)।
२. विभाषा स्वसृपत्योः (६।३।२४)।
३. कुस्तुम्बुरूणि जातिः (६।१।१४३)।
४. अपरस्पराः क्रियासातत्ये (६।१।१४४)।
५. गोष्पदं सेविताऽसेवितप्रमाणेषु (६।१।१४५)।

कहे जाएँगे—**अगोष्पदान्यरण्यानि महारण्यानि वा। गोष्पदप्रपूरं वृष्टो देवः** (इतना बरसा जिससे गोखुर से निम्न हुआ प्रदेश जल से भर गया)। यहाँ प्रमाण =इयत्ता की प्रतीति होती है। यहाँ षष्ठी समास है। यदि सेवित आदि कुछ भी अर्थ गम्यमान न हो तो **गोः पदम्=गोपदम्** ऐसा सुट्-रहित रूप होगा।

'आस्पद' यह सुट्-सहित निपातन किया है जब प्रतिष्ठा (स्थिर स्थान) अर्थ हो।[1] अन्यत्र **आपदात्, आपदम्** (पाओं तक)। आङ् के साथ मर्यादा अथवा अभिविधि में अव्ययीभाव।

'आश्चर्य' यह अद्भुत अर्थ में सुट्-सहित निपातन किया है।[2] **आश्चर्यं यदि स भुञ्जीत** (आश्चर्य होगा यदि वह खाये)। **आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपालकेन** (ग्वाला न होने पर भी इसका गौओं का दोहना अद्भुत (विस्मयनीय)है। यहाँ कृत्य प्रत्यय यत् है और आङ् उपपद होने से उपपद समास है। यदि अद्भुत अर्थ न होगा तो सुट् भी न होगा—**आचर्यं कर्म शोभनम्** (शुभ कर्म करना चाहिए)।

वर्चस्क (अन्नमल, विष्ठा) अर्थ में अवस्कर शब्द निपातन किया है।[3] **अवकीर्यतेऽधः क्षिप्यत इति** (जो नीचे फेंका जाता है)। मलयुक्त स्थान को भी अवस्कर कहते हैं। **संमार्जितावस्करया व्यये चामुक्तहस्तया** (मनु० ५।१५०)।

'अपस्कर' यह रथाङ्ग (चक्र) में सुट्-सहित निपातन किया है।[4]

'विष्किर' पक्षी अर्थ में सुट्-सहित निपातन किया है। बिना सुट् के भी 'विकिर' पक्षी अर्थ में साधु है और यह पक्षी से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता।[5]

प्रतिपूर्वक कश् (जाना, नियन्त्रण करना) धातु से अच् प्रत्यय होने पर कश् के क से पूर्व सुट् का आगम होता है। और उसे षत्व भी होता है[6]—

---

१. आस्पदं प्रतिष्ठायाम् (६।१।१४६)।
२. आश्चर्यमनित्ये (६।१।१४७)।
३. वर्चस्केऽवस्करः (६।१।१४८)।
४. अपस्करो रथाङ्गम् (६।१।१४९)।
५. विष्किरः शकुनौ वा (६।१।१५०)।
६. प्रतिष्कशश्च कशेः (६।१।१५२)।

प्रतिष्कशः=सन्देशहर, आगे-आगे चलने वाला, सहायक । प्रयोग भी है—

ग्राममद्य प्रवेक्ष्यामि भव मे त्वं प्रतिष्कशः ।

पर **प्रतिगतः कशां प्रतिकशोऽश्वः** (घोड़ा जो चाबुक को नहीं मानता) । यहाँ सुट् नहीं होता, कारण कि प्रति उपसर्ग का योग यहाँ गम् धातु के साथ है, कश् धातु के साथ नहीं, यद्यपि कशा भी कश् धातु से व्युत्पन्न है ।

प्रस्कण्व (कण्व का पुत्र), **हरिश्चन्द्र** (राजर्षि)—ये ऋषि वाचक सुट्-सहित निपातन किए हैं ।[1] **प्रस्कण्व ऋषिः । हरिश्चन्द्र ऋषिः** । अन्यत्र **प्रकण्वो देशः** (देश जहाँ से कण्व लोग चले गए हैं) । **हरिचन्द्रो माणवकः** हरिचन्द्र नाम का लड़का । भट्टार हरिचन्द्र प्रतिष्ठित गद्य-कवि हुए हैं जिन्हें बाणभट्ट हर्षचरित में स्मरण करते हैं—

भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते ।

मस्कर, मस्करिन्—ये क्रम से वेणु (बाँस) और परिव्राजक (संन्यासी) अर्थ में निपातित किए हैं ।[2] **मकर** (=ग्राह) एक अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है । **मकरी** समुद्र को कहते हैं । कोई लोग माङ् उपपद होने पर कृ धातु से अच् प्रत्यय करके सुट् का निपातन करते हैं, और माङ् को ह्रस्वत्व का । **मा क्रियते येन प्रतिषिध्यते स मस्करो वेणुः** । वेणु ग्रहण उपलक्षणार्थ है । दण्ड को भी '**मस्कर**' कहते हैं । परिव्राजक लोग यज्ञ यागादि कर्मों का निषेध करते हैं इसलिए उन्हें भी **मस्करी** कहते हैं । '**मस्करिन्**' में भी माङ् को ह्रस्व, सुट् और इनि प्रत्यय का निपातन मानते हैं । **मस्करी** लोग ऐसा कहते हैं—

मा स्म कुरुत कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसीति ।

'कारस्कर' यहाँ, वृक्ष अर्थ में सुट् निपातन किया है ।[3] कृ धातु से कर्ता अर्थ में 'ट' प्रत्यय होता है । वृक्ष अर्थ न होगा तो '**कारकरः**' ऐसा रूप होगा । **कारं करोतीति** । कार=स्तुतिगीत अथवा हिंसा ।

'पारस्कर' आदि शब्दों में सुट् निपातन किया है जब समुदाय संज्ञा हो[4]—**पारस्करो** देशः । **पारस्कर ऋषिः** । **पारस्करगृह्यम्** । **रथस्या नाम नदी** । अन्यत्र **रथ्या** (प्रतोली, विशिखा=गली) । **किष्कुः** (चार हाथ का प्रमाण) ।

---

१. प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावृषी (६।१।१५३) ।
२. मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः (६।१।१५४) ।
३. कारस्करो वृक्षः (६।१।१५६) ।
४. पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम् (६।१।१५७) ।

किष्किन्धा (गुहा का नाम) किं किं धत्ते इति। तद् और बृहत् से सुट् का आगम होता है, कर और पति शब्द उत्तरपद होने पर जब समुदाय का क्रम से चोर और देवता अर्थ हो[1]—तद् के द् तथा बृहत् के 'त्' का लोप भी होता है—**तस्करः** (चोर) **तत्करीतीति** (ऐसा कर्म करता है जो इतना निन्दित है कि उसका नाम नहीं लिया जाता है)। तस्कर शब्द के विषय में यजुः (१२।६२) के भाष्य में उवट का ऊह भी द्रष्टव्य है—तदेवायं चौरकर्म करोति नान्यत्, स तत्करः सन् तस्कर इत्युच्यते। अर्थात् उवट का ऐसा विचार है कि जो पुरुष उसी एक चोरी के कर्म को करता है और कुछ नहीं करता, उसे 'तत्करः' न कहकर 'तस्करः' कहा जाता है। हमने तस्कर का अर्थ देते हुए यास्क का अनुसरण किया है। यास्क का वचन है—तस्करस्तत्करोति यत्पापकम् (निरुक्त ३।१४)। **बृहतां पतिः=बृहस्पतिः**।

वनस्पतिः। **प्रायश्चित्तिः**। **प्रायश्चित्तम्**। यहाँ 'प्राय' अदन्त शब्द है। जहाँ भी सुट् दीखता है पर शास्त्र ने विधान नहीं किया, वह सब पारस्करादि शब्दराशि के अन्तर्गत समझना चाहिए।

पृषोदरादि शिष्टोपदिष्ट शब्द

कुछ ऐसे भी समस्त पद हैं जिनमें पूर्वपद और उत्तरपद अपने स्वरूप में अवस्थित नहीं रहते। उनमें वर्णविकार, वर्णागम, वर्णनाश आदि नाना कार्य होते हैं जिन्हें शास्त्र ने कहीं भी विधान नहीं किया, पर शास्त्रकार जिनका प्रत्याख्यान भी नहीं करता, कारण कि पुण्यात्मा शिष्ट लोगों ने उन-उन शब्दों का उस-उस वर्णविकारादि के सहित ही उच्चारण किया है और शिष्टों के वचनों (प्रयोगों) में असाधुत्व की शङ्का ही नहीं हो सकती। पृषत् श्वेत बिंदु वाले मृग का नाम है। **पृषत उदरम्**। **पृषोदरम्**। यहाँ 'त्' शब्द का लोप हुआ है। शिष्टोच्चारित पृषोदर शब्द साधु है, इसके विपरीत न्याय-प्राप्त पृषदुदरम् असाधु है। मेघ अर्थ में वारिवाहक न कहकर शिष्ट लोग 'बलाहक' कहते हैं। यहाँ पूर्वपद के स्थान में 'ब' और उत्तरपद के आदि को 'ल' होता है। मेघ अर्थ में वारिवाहक असाधु होगा। शिष्टोच्चारित बलाहक ही साधु है। **जीवनस्य** (=जलस्य) **मूतः** (प्रसेवः, बन्धः)=**जीमूतः** (मेघ)। यहाँ 'वन' शब्द का लोप होता है। **शवानां शयनम्** इस अर्थ में न्यायप्राप्त **शवशयनम्** न कहकर **श्मशानम्** ऐसा शिष्ट उच्चारण करते हैं और वही साधु है। यहाँ

---

१. तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च वक्तव्यः (वा०)।

पूर्वपद शव के स्थान में 'श्म' और उत्तरपद शयन के स्थान में शान आदेश होता है। न तो श्म कोई स्वतन्त्र शब्द है और न शान (शयन अर्थ में)। **ऊर्ध्वं खम् अस्येति उलूखलम्**। यहाँ बहुत कुछ परिवर्तन हुआ है। **बृसी (ब्रुवन्तोऽस्यां सीदन्ति)** यतियों का आसन (जिस पर बैठकर वे शास्त्रचर्चा करते हैं)। यहाँ पूर्वपद ब्रुवत् था और उत्तरपद सद् था। **पिशितं चमति** अथवा **पिशितम् (मांसम्) अश्नाति**। इस अर्थ को कहने के लिए शिष्टों द्वारा **पिशाच** शब्द व्यवहृत होता है, ऐसा ही हमें व्यवहृत करना चाहिए। न्याय्य संस्कार युक्त **पिशितचामः**, **पिशिताशः** नहीं। यह जातिवाचक शब्द में नियम होगा, केवल यौगिक में नहीं। **मह्यां रौतीति मयूरः**। यहाँ मही शब्द पूर्वपद था और अच् प्रत्ययान्त 'रु' धातु उत्तरपद। वर्णविकार और वर्णनाश द्वारा यह रूप शिष्टोच्चारित होने से मान्य है। **दक्षिणतीरम्**। **दक्षिणतारम्**। **उत्तरतीरम्**। **उत्तरतारम्**। यहाँ तीर शब्द के स्थान में 'तार' भी उच्चारण करते हैं सो भी साधु है। **षड् दन्ता अस्य = षोडन्**। **षट् च दश च = षोडश**। **षट्धा = षोढा**, **षड्धा**—ये भी शिष्टोच्चारित साधु हैं। **कृच्छ्रेण दाश्यते** (=दीयते), **नाश्यते**, **दभ्यते स दूडाशः**, **दूणाशः**, **दूडभः**—ये सभी साधु हैं। **दुष्टं ध्यायतीति दूढ्यः**। यहाँ दुस् उपपद होने पर आकारान्त ध्या (ध्यै) से क प्रत्यय न्यायप्राप्त है। शेष परिवर्तन शिष्टोच्चारणवश हुआ है।

पूर्वाचार्यों का

लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुं काममनसोरपि।
समो वा हिततयोर्मांसस्य पचि युड्घञोः॥

यह वचन भी पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् से गतार्थ है। इसका अर्थ है—कृत्य प्रत्ययान्त उत्तरपद होने पर 'अवश्यम्' के 'म्' का, काम, मनस् के उत्तरपद होने पर तुमुन् (=तुम्) के 'म्' का नित्य लोप करे, तथा हित, तत उत्तरपद होने पर सम् के 'म्' का विकल्प से लोप करे और ल्युट् प्रत्ययान्त व घञ्प्रत्ययान्त पच् परे रहते हुए पूर्वपद मांस के 'अ' का लोप करे। क्रमशः उदाहरण—**गन्तुकामः (गन्तुं कामोऽस्य)**। **गन्तुमनाः (गन्तुं मनोऽस्य)**। **अवश्यकृत्यम्**। **अवश्यवक्तव्यम्**। **सहितम्**, **संहितम्**। **सततम्**, **सन्ततम्**। **मांस्पचनी**। **मांस्पाकः**। यहाँ शिष्टोच्चारण वश संयोगान्त 'स्' का लोप भी नहीं होता।

सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समासः

समासप्रकरण के प्रारम्भ में कह आये हैं कि समास पदविधि है अर्थात् पदों को जो कार्य-विशेष होता है उसका नाम है और जो भी पद-विधि होती

है वह समर्थ पदों को होती है, अर्थात् असामर्थ्य होने पर समास नहीं होता। न केवल असम्बद्धार्थ पद ही असमर्थ होते हैं, अपितु सापेक्ष भी—सापेक्ष मसमर्थं भवति। तो भी कुछ समास ऐसे हैं जिन्हें हम असमर्थ समास कहेंगे क्योंकि पदों के सापेक्ष होने पर भी वे घटित हुए हैं। ऐसा वहीं हुआ है जहाँ समास इष्ट सम्बन्ध का गमक (=बोधक) है। इसका मूर्धाभिषिक्त उदाहरण **'देवदत्तस्य गुरुकुलम्'** है। यहाँ गुरु शब्द शिष्य देवदत्त की अपेक्षा रखता है, अतः असमर्थ है तो भी 'कुल' के साथ समस्त हुआ है, कारण कि देवदत्त विशेषण बुद्धि द्वारा 'गुरुकुल' के एकदेश (अवयव) 'गुरु' के साथ सम्बद्ध होकर समुदाय 'गुरुकुल' का विशेषण बन जाता है। और **देवदत्तस्य यो गुरुः, तस्य कुलम्** इस अर्थ का बोध हो जाता है। यही विवक्षित अर्थ है और समास इसका गमक (बोधक) है। इस प्रकार जहाँ कहीं समास हो वहाँ **सापेक्षत्वेपि गमकत्वात्समासः** ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार के समास के अन्य उदाहरण— **पादत्रयस्य दृष्टार्थः श्लोकस्यासीत् स योगवित्** (राजत० २।६१)। यहाँ दृष्टश्लोकपादत्रयार्थः ऐसा पद-सामर्थ्य के अनुसार समास होना चाहिए था। यहाँ 'पाद' श्लोक की अपेक्षा रखता है, अतः सापेक्ष है और 'अर्थ' श्लोकपाद-त्रय की अपेक्षा रखता है, अतः सापेक्ष है। इस कारण असमर्थ होने से इनका क्रम से 'त्रय' और 'दृष्ट' के साथ समास नहीं होना चाहिए था, पर हुआ है, यथेष्ट अर्थ का गमक होने से। **अप्रविष्टविषयस्य रक्षसाम्** (रघु ११।१८)। यहाँ विषय शब्द 'रक्षस्' का विशेष्य है। **'अप्रविष्टरक्षोविषयस्य'** ऐसा न कहकर उक्त प्रकार से कहा है। **निमित्तादपराद्धेषोर्धानुष्कस्येव वल्गितम्** (माघ २।२७)। यहाँ 'अपराद्ध' 'निमित्त' की अपेक्षा करता है, अतः 'इषु' के साथ समस्त नहीं होना चाहिए था, पर सापेक्ष होते हुए भी इष्टार्थ का गमक होने से समास हो गया है। **प्रेम्णा शरीरार्धहरां हरस्य** (कुमार० १।५०)। **अर्धं हरतीति अर्धहरा=शरीरस्यार्धहरा इति शरीरार्धहरा, ताम्**। अर्ध शब्द समप्रविभाग अर्थ में है, अतः शरीर के साथ एकदेशिसमास होने पर तो **अर्ध-शरीरम्** ऐसा रूप होता और उसका अच् प्रत्ययान्त 'हर' के साथ समास होने पर **'अर्धशरीरहराम्'** ऐसा रूप होता। **भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खलैः** (भर्तृ० १।५३)। यहाँ **खलैर्यः संसर्गः, तस्मान्मुक्तिः** ऐसा अर्थ है। 'संसर्ग' की सापेक्षता स्पष्ट है। **नित्यं छिद्रानुसार्यरेः** (मनु० ७।१०२)। यहाँ 'छिद्र' शब्द 'अरि' की अपेक्षा करने से सापेक्ष है। **कृतारि-षड्वर्गजयेन** (किरात १।६)। **षण्णां वर्गः=षड्वर्गः**। यहाँ 'षट्' 'अरि'

की अपेक्षा करने से सापेक्ष है। **अरीणां षड् वर्गः = अरिषड् वर्गः**। 'अरि' अवयव द्वारा समुदाय का विशेषण हुआ है। **केचिद् अब्भक्षाः केचिद् वायुभक्षाः केचिच्च क्षीरैकपायिणो व्रतिनः**। यहाँ '**क्षीरस्य एकपायिनः**' ऐसा विग्रह है। 'एक' शब्द की सापेक्षता (अतः असमर्थता) स्पष्ट ही है।

दोषैकदृक् = **एकस्मिन् दृग् अस्य** = **एकदृक्**। **दोषे एकदृक्** = **दोषैकदृक्**। अर्थ है **दोषे एकस्मिन्दृग् अस्य**, जिसकी एकमात्र दोष में ही दृष्टि है। **श्रवणैकावलम्बिना कुण्डलेन विराजता** (हरि० २।४६।२५)। **श्रवणे एकस्मिन् अवलम्बते, तेन**। 'श्रवण' का 'एकावलम्बिन्' के साथ असमर्थ समास है।

शिवभागवतवत् समासः

ऐसे भी कुछेक समास हैं जिनमें विशेषण तद्धित वृत्ति के एकदेश के साथ सम्बन्ध करके समुदाय (तद्धितान्त) को विशिष्ट करता है। एवञ्जातीयक समासों का मुख्य उदाहरण '**शिवभागवतः**' है। भाष्यकार ने स्वयम् इस पद का प्रयोग ५।२।७६ सूत्र के भाष्य में किया है। यहाँ ऐसा विग्रह है—**भगवान् भक्तिरस्य इति भागवतः**। **शिवस्य भागवतः** = **शिवभागवतः**। भगवान् शिव का भक्त। यहाँ शिव विशेष्य 'भागवत' के एकदेश 'भगवत्' के सम्बन्ध के द्वारा समुदाय तद्धितान्त 'भागवत' का विशेषण बना है। इसी प्रकार के अन्य प्रयोग भी मिलते हैं जहाँ '**शिवभागवतवत् समासः**' ऐसा कह दिया जाता है—**पितृपैतामहानमात्यान् कुर्वीत** (कौ० अ०)। **पितुः पैतामहाः**, तान्। **क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी** (मनु० २।४२)। **तन्तूनां विकारः तान्तवी**। **शणस्य तान्तवी**, सन तन्तुओं से बनी हुई। **सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च। प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्**(मनु० १२।८८)॥ **अभ्युदयः प्रयोजनमस्य इत्याभ्युदयिकम्**। **सुखस्य आभ्युदयिकम्**—ऐसा समासविग्रह है। अभ्युदयः = उदयः, वृद्धिः। **सुखाभ्युदयः** को षष्ठी समास मानकर प्रयोजन अर्थ में तद्धित करने पर पूर्वपद-वृद्ध्यभाव का समाधान दुष्कर है। **वराणां पुण्डरीकाणामियं** (माला) = **वरपौण्डरीकी**। यहाँ भी विशेषण 'वर' पौण्डरीक के एकदेश पुण्डरीक को विशिष्ट करता हुआ समुदाय तद्धितान्त 'पौण्डरीक' को भी विशिष्ट करता है।

समास में उत्तरपद-लोप

कुछ ऐसे समास हैं जहाँ वैकल्पिक उत्तरपद-लोप देखा जाता है, उत्तरपद का लोप होने पर उसका अर्थ प्रतीयमान होने से। कहाँ यह उत्तरपद लोप

होता है इसका शिष्ट प्रयोगों के अनुसरण मात्र से पता चलता है—**एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः** (मनु० २।२४६)। **अविप्लुतः=अविप्लुतव्रतः =अखण्डितव्रतः। गाढं परिहितो वेगात्** (रा० ४।१२।१५)। **परिहितः= परिहितवस्त्रः। हारितधनो हारितः**, जो हार गया है, जिसने अपना धन गँवा दिया है। **विदितो वनेचरः** (किरात १।१)। **विदितः=विदितवृत्तान्तः। आचान्तः=आचान्तोदकः। संशितो ब्राह्मणः=संशितव्रतः। भुक्ता ब्राह्मणाः। भुक्ताः=भुक्तभोजनाः। विभक्ता भ्रातरः। विभक्ताः=विभक्तधनाः। अनूढः =अनूढभार्यः। परिवेत्ताऽनुजोऽनूढे ज्येष्ठे दारपरिग्रहात्** (अमर)। बड़े भाई के अविवाहित रहते यदि छोटा विवाह करे तो वह परिवेत्तृ (प्र० ए० परिवेत्ता) कहलाता है।

समासवद्भावः

समासप्रकरण को समाप्त करने से पूर्व यहाँ आष्टमिक अध्याय में निरूपित द्विर्वचन के विषय में कहना प्राप्तावसर है। यहाँ आठवें अध्याय में द्विर्वचन (द्विरुक्ति, शब्द का दो बार उच्चारण) के विषय में आचार्य पाणिनि कहते हैं कि जो शब्द द्विरुक्त होता है उसे कहीं-कहीं समासवत् कार्य होता है, यद्यपि द्विर्वचन होने पर वे दो शब्द मिलकर कोई भी समास नहीं बनाते। जैसे—

एक शब्द द्विरुक्त होने पर बहुव्रीहिवत् होता है।[1] बहुव्रीहिवद्भाव से सुप् का लुक् और पुंवद्भाव होता है। नित्य (=आभीक्ष्ण्य बार-बार क्रिया का होना) और वीप्सा द्रव्य-व्याप्ति—इन दो अर्थों में द्विर्वचन होता है। **एकैकमक्षरं पठति**, एक-एक अक्षर पढ़ता है। यहाँ समासवद्भाव के कारण प्रातिपदिक संज्ञा होकर सुप् का लुक् हुआ है। **एकैकयाऽऽहुत्या जुहोति**, एक-एक आहुति से होम करता है। यहाँ प्रथम शब्द 'एका' को पुंवद्भाव हुआ है। पर सर्वनाम संज्ञाप्रतिषेध, स्वर, समासान्त समासाधिकार में विहित बहुव्रीहि को ही होते हैं, आतिदेशिक (समासवद्भाव से) बहुव्रीहि को नहीं। **एकैकस्मै**। सर्वनाम संज्ञा बनी रही, अतः 'ङे' को 'स्मै' आदेश हुआ। **ऋक्-ऋक्**—यहाँ ऋक्पूरब्धूः—से 'अ' समासान्त नहीं होता।

आबाध (=मानसदुःख) से युक्त होकर जब वक्ता शब्द प्रयोग करते हुए

---

१. एकं बहुव्रीहिवत् (८।१।९)।

दुहराता है तब बहुव्रीहि वत् कार्य होता है[1]—**गतगतः । नष्टनष्टः । पतित-पतितः** । हा चला गया । हा नष्ट (गुम) हो गया । हा गिर गया ।

प्रकार=सादृश्य अर्थ में गुणवाचक शब्दों की द्विरुक्ति होती है और कर्म-धारयवत् कार्य होता है ।[2] कर्मधारयवद्भाव से सुब्लुक्, पुंवद्भाव तथा समासान्तोदात्त स्वर होता है—**कालककालिका**=कुछ कालापन । यहाँ सुप्लुक् तथा प्रथम शब्द कालिका को पुंवद्भाव (कालक) हुआ है । **मन्द-मन्दम्** =मन्दमिव । **भीतभीतः**=भीत इव, कुछ डरा हुआ । ।अधिक डरा हुआ ऐसा अर्थ नहीं है । **पटुपटुः**=पटुरिव । **पण्डितपण्डितः**, पण्डित सा ।

कर्मव्यतिहार में सर्वनाम को द्विर्वचन होता है और बहुलतया इसे समासवत् कार्य होता है । जब समासवत् कार्य नहीं होता तब पूर्वपद से प्रथमा एक० होता है[3] —**अन्यम् अन्यमिमे ब्राह्मणा भोजयन्ति । अन्योऽन्यम् इमे ब्राह्मणा भोजयन्ति,** ये ब्राह्मण एक दूसरे को भोजन खिलाते हैं ।

प्रकीर्णक

समास का सर्वाङ्गसम्पूर्ण निरूपण हो चुका । अब विद्यार्थियों के स्फुटतर ज्ञान तथा व्यामोहापोह के लिए कुछेक ऐसे उदाहरण दिए जाते हैं जहाँ एक पद में नाना समास होते हैं । **इन्द्रियहरिणहारिणी उपभोगमृगतृष्णिका** । इन्द्रियाण्येव हरिणा इन्द्रियहरिणाः (मयूरव्यंसकादि तत्पुरुष) । तान्हतुं शीलमस्या इति (उपपदसमासः) । उपभोगः (विषयास्वादः) एव मृगतृष्णिका (मयूर०) । मृगाणां तृष्णाऽस्यामस्ति मृगतृष्णिका(व्यधि० बहु०) । संज्ञाऽर्थ में कन् । **जिह्मिततरलतरतारशारोदरं चक्षुः** । जिह्मिता तरलतरा तारा (कनीनिका) यस्य तद् जिह्मिततरलतरतारम् (बहु०) । तच्च शारोदरं च (कर्मधा०) । शारमुदरं यस्य तत् (बहु०) । **दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरणः सिंहः** । दंष्ट्राश्च नखाश्च लाङ्गुलं च दंष्ट्रानखलाङ्गुलम्(समाहार द्वन्द्व)। तत् प्रहरण-

---

१. आबाधे च (८।१।१०) ।

२. प्रकारे गुणवचनस्य (८।१।१२) । इससे पूर्व 'कर्मधारयवदुत्तरेषु' यह अधिकार सूत्र है ।

३. कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे भवत इति वक्तव्यम् । समासवच्च बहु-लम् (वा०) ।

मस्य (बहु०)। इसे द्वन्द्वगर्भ बहुव्रीहि भी कहेंगे। **तुषारवर्षोद्धतघनधारापात-समाहतं** वानरयूथम्। तुषारं वर्षतीति तुषारवर्षः (उपपद स०)। उद्धतश्चासौ घनश्च उद्धतघनः (कर्म०)। तुषारवर्षश्चासौ उद्धतघनश्च तुषारवर्षोद्धतघनः (कर्म०)। तस्य धाराः=तुषार० धाराः (षष्ठी तत्०)। तासां पातः तुषार० पातः (षष्ठी तत्०)। तेन समाहतम् तुषार० पातसमाहतम् (तृतीया तत्०)। **नवप्रसूतगवीक्षीरम्**। नवं प्रसूता नवप्रसूता (सुप्सुपा)। नवप्रसूता चासौ गौश्च नवप्रसूतगवी (कर्म०, टच् समा०)। तस्याः क्षीरम् (षष्ठी०)। **व्यसनप्रसारित-करः** कालः। व्यसनाय प्रसारितः व्यसनप्रसारितः (सुप्सुपा)। व्यसनप्रसारितः करोऽस्य (बहु०)। **अनेकानेकपयूथसङ्कुलसान्द्रकान्तारमेचकितसानवः कृताभिघातिप्रक्रमभङ्गा गगनोल्लेखिशिखराः** शिखरिणः। अनेकेन (द्वाभ्यां) पिबन्तीति अनेकपाः (उपपद०)। तेषां यूथानि अनेकपयूथानि (ष० त०)। अनेकानि च अनेकपयूथानि च अनेका० यूथानि (कर्म०)। तैः सङ्कुलाः (सुप्-सुपा)। ते च सान्द्राश्च अनेकानेकप० सान्द्राः (कर्म०)। अनेकानेकप० सान्द्राश्च ते कान्ताराश्च अनेकानेकप० कान्ताराः। तैर्मेचकिताः अनेकानेकप० मेचकिताः (तृ० तत्)। अनेका० मेचकिताः सानवो येषां ते (बहु०)। अभि-घातिनां प्रक्रमः (ष० त०)। तस्य भङ्गः (ष० त०)। कृतोऽभिघातिप्रक्रम भङ्गो यैः, ते (बहु०)। गगनमुल्लिखन्ति गगनोल्लेखीनि (उपपद०)। तथा-भूतानि शिखराणि येषाम् (बहु०)। **मदमुखरमधुकरकुलान्धकारितनिष्कुटा** नगरी। मधु कुर्वन्ति मधुकराः (उपपद)। तेषां कुलानि। मदेन मुखराणि (सुप्सुपा)। मदमुखरमधुकरकुलानि। तैर् अन्धकारितनिष्कुटा (सुप्सुपा)। अन्धकारितः=जातान्धकारः। अन्धकारिता निष्कुटा गृहारामा यस्यां सा (बहु०)। **मन्दरमथ्यमानजलधिघोषगम्भीरदुन्दुभिध्वानपुरःसर** उत्सव-कोलाहलः। मन्दरेण मथ्यमानः (तृ० त०)। स चासौ जलधिश्च (कर्म०)। तस्य घोषः (ष० त०)। स इव गम्भीरः (उपमान कर्म०)। स च दुन्दुभि-ध्वानश्च (कर्म०)। स पुरःसरो यस्य सः (बहु०)।

इति श्रीचारुदेवशास्त्रिणः कृतिषु व्याकरणचन्द्रोदये कारक-समास-निरूपणः प्रथमः खण्डः पूर्तिमगात्। ओं शम्॥

व्याकरणचन्द्रोदय के पाँच खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथमखण्ड कारक-निरूपणात्मक है। द्वितीय कृत्तद्धित-विषयक है। तृतीय खण्ड तिङ्-व्याख्यानपरक है। चतुर्थ स्त्रीप्रत्यय-, सुबन्त-, अव्यय-परक है। पञ्चम खण्ड शिक्षा-, संज्ञा-, परिभाषा-, संहिता-, लिङ्ग- विषयक है। लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्—यह सर्वसम्मत व्याकरण का स्वरूप माना जाता है। तो भी पूर्व विद्यमान व्याकृतिग्रन्थों में लक्ष्य का अत्यल्प उपादान है। पुरानी शैली से लिखे गये वृत्ति आदि ग्रन्थों में एक-दो लक्ष्यों में लक्षण (सूत्र) की प्रवृत्ति को दिखाने से वृत्तिकारादि अपने को कृतार्थ मानते हैं। नूतन रीति से लिखे गये व्याकरणग्रंथों में प्रयोगों के उदाहरण देने का प्रयत्न तो है, पर वे उदाहरण या तो स्वयं-घटित होते हैं, या भट्टिकाव्यादि से उठाये जाते हैं, जहाँ व्याकरण सिखाने के लिए वे घड़े गये हैं और जिनमें अनेकानेक ऐसे हैं जो साहित्य में कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुए, अतः अव्यवहार्य हैं। इस वर्ग के विद्वान् भूल जाते हैं कि व्याकरण अन्वाख्यान-स्मृति है—व्याक्रियन्ते पदानीह क्रियन्ते नूतनानि न।

इस कृति का वाग्व्यवहार सिखाना प्रधान लक्ष्य है। प्रक्रिया इस साध्य में साधनमात्र है। व्यवहार उपकार्य है, प्रक्रिया उपकारक। अतः इस कृति में जहाँ सूत्रादि की विशद व्याख्या की गई है, सूत्रादि की प्रवृत्ति द्वारा सरल, शङ्कासमाधान-सहित, क्रमबद्ध रूपसिद्धि दी गई है, वहाँ वैदिक-लौकिक उभयविध वाङ्मय से शतशः वाक्य उद्धृत किये गए हैं जो व्याकरण-व्युत्पादित उस-उस लक्ष्य को प्रयोगावतीर्ण दिखाते हुए उसकी साधुता को यथेष्ट रूप से प्रमाणित करते हैं और व्यवहार सिखाने में अत्यन्तोपकारक हैं।

स्थान—स्थान पर अपेक्षित नूतनार्थोपन्यास, पूर्वमतसमीक्षा, संक्षिप्त वैयाकरणोक्तिविशदीकरण, यथासंभव अष्टाध्यायीगत-सूत्रक्रमाश्रयण आदि असामान्य धर्म इस कृति को अन्य कृतियों से पृथक् करते हैं और इसकी मौलिकता की ओर संकेत करते हैं।

प्रथम खण्ड (कारक व समास)	५५.००
द्वितीय खण्ड (कृत व तद्धित)	१००.००
तृतीय खण्ड (तिङन्त)	११५.००
चतुर्थ खण्ड (स्त्रीप्रत्यय, सुबन्त, अव्यय)	६५.००
पञ्चम खण्ड (शिक्षा, संज्ञा, परिभाषा, संहिता, लिङ्ग)	१२५.००

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली वाराणसी पटना मद्रास